साधना-खण्ड की

उपनिषद्-सूची

भूमिका

—:❀:—

साधना के सत्परिणाम

उपनिषदों में योग साधना की अनेक विधियों का वर्णन है और उनका प्रयोग करने पर जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका भी यथास्थान सकेत है। साधना से आत्मबल बढ़ता है और उसकी अभिवृद्धि से शरीर एवं मन के प्रत्येक क्षेत्र का जाज्वल्यमान होना स्वभाविक है। आत्मबल संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य है, वह जहाँ भी रहेगा वहां चमत्कार क्यों दृष्टिगोचर न होगा ?

उपनिषदों में वर्णित योग साधनाओं का अपना महत्व है और साथ ही उस महत्व के अनुरूप अनेक प्रकार के लाभों का भी समन्वय है। साधना-खण्ड के उपनिषदों में साधना द्वारा लौकिक और पारलौकिक अनेक प्रकार के लाभों की चर्चा स्थान-स्थान पर मिलती है। उनकी एक झाँकी नीचे प्रस्तुत है:—

"जीभ और चित्त दोनों कपाल के छिद्र रूप आकाश में फिरते हैं, तब ऊपर गई हुई जीभ वाला यह पुरुष अमर हो जाता है।"

'बांये पैर के मूल से मूलरंध्र को दबाकर दाहिना पैर

पसार कर उसे दोनों हाथों से पकड़ना और फिर दोनों नथुनों से वायु भरकर कण्ठवन्ध के ऊपर चढ़ाना और उठी हुई वायु को रोकना,इससे सर्व क्लेशों का नाश हो जाता है, विष भी अमृत की तरह पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त और चर्म के पुराने रोग नष्ट होजाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्वमृत्यु का नाश करने वाला है।

"बायें पैर की ऐड़ी को गुदा-स्थान के साथ जोड़कर दाहिना पैर बांये पैर रखना और वायु भर कर ठोड़ी को हृदय की तरफ दबाकर गुदा-स्थान को संकोच कर मन के मध्य यथाशक्ति धारण करके अपने आत्मा का हवन करना, इससे अपरोक्ष सिद्धि [सूक्ष्म जगत की जानकारी] होती है।

"जो पुरुष जीभ से वायु खींचकर निरन्तर पिया करता है, उसे श्रम का दाह नहीं होता और रोग नाश होते हैं। जो जीभ से वायु लेकर उसे जीभ के मूल में रोकता है, वह अमृत पीता है और उसका सव प्रकार कल्याण होता है।

"जो मनुष्द एक मुहूर्त समय तक भी मन के साथ वायु को नासाग्र पर नित्य धारण करता है, उसके सैंकड़ों जन्मों के पास पूर्णतः छूट जाते हैं।

"नेत्र की पुतली में चित्त का संयम करने से सव विषयों का ज्ञान होता है। नाक के अग्रभाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान होता है, उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान होता है। चक्षु में चित्त का संयम करने से सर्वलोक का ज्ञान होता है, श्रोत्र में चित्त का संयम करने से यमलोक का ज्ञान होता है।······वाई आंख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान होता है, मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है।······मस्तक में चित्त का संयम

करने से सत्यलोक का ज्ञान होता है, धर्म तथा अधर्म से संयम करने से भूत भविष्य का ज्ञान होता है, विभिन्न प्राणियों की आवाज करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है, संचित कर्म में संयम करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है, दूसरे के चित्त में संयम करने से दूसरे के मन का ज्ञान होता है। ......कण्ठ कूप में संयम करने से भूख प्यास जाती रहती है। शरीर के आकाश में संयम करने से आकाश में गति कर सकता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से वे ही सिद्धियां प्राप्त होती हैं।"

—शाण्डिल्य उपनिषद्

"महामुद्रा के प्रभाव से पथ्य-अपथ्य ही नहीं, सब प्रकार का नीरस भोजन भी रसवान बन जाता है, अधिक खाया हुआ और तीव्र विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, कोढ़, गुदावर्त्त, (भगन्दर) गुल्म, अजीर्ण और आगे होने वाले समस्त रोग नष्ट होजाते हैं।"

—योगचूड़ामणि उपनिषद्

"भगवान आदिनारायण ने कहा—योग से योग की वृद्धि होती है। इसलिये योग के द्वारा ही योग जाने। योग में सदा दत्तचित्त योगी चिरकाल तक सुखोपभोग करता है।"

—सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्

"नाड़ी शुद्ध होने पर उसके चिन्ह भी दिखाई देने लगते हैं। शरीर में हलकापन जान पड़ता है, जठराग्नि तीव्र हो जाती है, शरीर भी निश्चित रूप से कृश हो जाता है।"

योगी के लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।......अतिमानुषी चेष्टायें करने लगता है, पर इस

प्रकार की शक्ति और सामर्थ्य किसी को दिखलानी नहीं चाहिये।………अभ्यास बढ़ाने से बड़ी शक्ति प्राप्त हो जाती है इस प्रकार भूचर सिद्धि प्राप्त होने से समस्त भूचरों पर विजय प्राप्त होजाती है। व्याघ्र, शरभ, हाथी, सिंह आदि योगी के हाथ की मार से ही मर जाते हैं।………ब्रह्मचर्य की धारणा से देह से सुगंध आने लगती है।……सदाशिव की धारणा आकाश में करने से आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है।………पांच प्रकार की धारणाओं से शरीर दृढ़ होजाता है, मृत्यु का भय जाता रहता है और वह ब्रह्मप्रलय होने पर भी दुखी नहीं होता।………सगुण रूप साधना से अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती है और निर्गुण ध्यान करने से समाधि की प्राप्ति होती है।………जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है। अगर अपनी देह छोड़ने की इच्छा हो तो उसे आसानी से छोड़ा जा सकता है और फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यदि उसे शरीर प्रिय हो तो वह शरीर में स्थिर रहकर अणिमादि सिद्धियों से युक्त सब लोकों में विहार कर सकता है और चाहे तो कभी भी स्वर्ग में देवता हो सकता है। वह अपनी इच्छा से मनुष्य अथवा यक्ष बन सकता है और सिंह व्याघ्र, हाथी आदि कोई रूप ग्रहण कर सकता है।"

--योगतत्व उपनिषद्

"अंगूठा आदि अपने अवयवों में स्फुरण बन्द हो जाने पर शीघ्र ही अपने जीवन का अन्त होना समझ लेना चाहिए। इस प्रकार अनिष्टसूचक संकेतों को जानकर योगी को मोक्ष साधन में ध्यान लगाना चाहिये। जिसके पैर तथा हाथ के अंगूठों में स्फुरण न जान पड़े उसका जीवन एक वर्ष में समाप्त

हो जाता है। मणिबन्ध (कलाई) और गुल्फ (टखना) का स्फुरण बन्द हो जाने पर छै महीने तक जीवित रहता है। जब कोहनी में स्फुरण न हो तो जीवन की अवधि तीन मास रह जाती है। यदि कुक्षि, उपस्थेन्द्रिय में स्फुरण न हो तो एक महीने में और नेत्रों में स्फुरण न हो तो पन्द्रह दिन में जीवन का अन्त हो जाता है। जठर द्वार पर स्फुरण न होने से जीवन की अवधि दस दिन रह जाती है और ज्योति जुगनू के समान हो जाय तो पाँच दिन ही शेष रह जाते हैं। अगर जिह्वा दिखलाई पड़नी बन्द हो जाय तो तीन दिन का समय समझना चाहिये। ये सब अनिष्ट आयु के क्षय के कारण रूप हैं।"

—त्रिशिख ब्राह्मण उपनिषद्

"हृदय स्थान में अष्टदल कमल है। वही ऐसा सोचता है कि मैं सब कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी, काना, वहिरा, दुवला, मोटा आदि हूँ। उसमें जीवात्मा ज्योति रूप अणुमात्र में रहता है। उसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है। उस कमल का पूर्व दल श्वेत वर्ण का है। उसमें निवास करने से भक्ति और धर्म में मति रहती है। जब आग्नेय दिशा के रक्तवर्ण दल में निवास होता है तब निद्रा और आलस्य में मति होती है। दक्षिण वाले कृष्ण दल में निवास होने पर द्वेष और कोप में मति होती है। नैऋत दिशा के नीलवर्ण दल में निवास करता है तब पापकर्म और हिंसा में मति रहती है। जब पश्चिम में स्फटिक वर्ण वाले दल में निवास करता है तब क्रीड़ा, विनोद में मति होती है। जब वायव्य कोण के माणिक्य रंग वाले दल में निवास करता है तब चलने और वैराग्य की भावना होती है। जब उत्तर के पीतवर्ण दल में निवास करता है तब सुख, शृङ्गार

में मति होती है। जब ईशानकोण में वैडूर्य मणि के वर्ण के दल में निवास करता है तब दान, दया, एवं करुणा में मति होती है। संधियों में संधि की मति रहती है, तब वात, पित्त, कफ सम्बन्धी व्याधियों का प्रकोप होता है। जब मध्य में मति रहती है तब गाने, नृत्य करने, पढ़ने और आनन्द करने में मति होती है।"

—ध्यानबिन्दु उपनिषद्

मूलाधार में वीणा से उठने वाला अमूर्तनाद जान पड़ता है। उसी के मध्य में शङ्ख आदि के समान ध्वनि होती है। कपाल कुहर के मध्य में आकाश रन्ध्र से जाता हुआ नाद मोर के शब्द तुल्य होता है।"

—ध्यानबिन्दु उपनिषद्

"जिह्वा को लौटकर कपाल कुहर में ले जाय और दोनों भाहों के मध्य में दृष्टि को जमाकर रखे। इसके अभ्यास से रोग और मरण का भय नहीं रहता है और निद्रा भूख प्यास भी नहीं सताती। खेचरी मुद्रा द्वारा जिसने तालु के छेद को बन्दकर लिया है, उसका वीर्य क्षय नहीं होता है चाहे वह स्त्री का आलिङ्गन ही क्यों न करे और जब तक वीर्य देह में स्थित है तब तक मृत्यु का भय कैसा ? जब तक खेचरी मुद्रा रहेगी तब तक वीर्य पतन नहीं हो सकता।"

—ध्यानबिन्दु उपनिषद्

जिसने खेचरी द्वारा जिह्वा के ऊपरी विवर को बन्दकर लिया है उसका बिन्दु (वीर्य) फिर किसी तरह नष्ट नहीं हो सकता। रमणी के आलिङ्गन का भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। जब तक देह में वीर्य स्थित है तब तक मृत्यु का क्या भय है ?"

—योगचूड़ामणि उपनिषद्

"जब वह नाद, अक्षर में लय हो जाता है तब शब्द रहित परम पद का रूप होता है। अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है उसके पाने से ही योगी के संशय की निवृत्ति होती है।"

—ध्यानबिन्दु उपनिषद्

"तालु मूल के ऊर्ध्व भाग में महाज्योति-किरण-मण्डल होता है, वही योगियों का लक्ष है। उसी से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जब साधक की अन्तर और वाह्य लक्ष्य को देखने वाली हष्टि स्थिर हो जाती है तब शाँभवी मुद्रा होती है। इस मुद्रा से युक्त ज्ञानी के निवास करने की भूमि पवित्र मानी जाती है और लोग उसके दर्शन से ही पवित्र हो जाते हैं।"

—अद्वयतारकोपनिषद्

"आरम्भिक अभ्यास में यह नाद कई तरह का होता है। पहले तीव्र होता है पीछे अभ्यास से वह धीमा होता जाता है। इस नाद की ध्वनि झींगुर, झरना, भ्रमर, वीणा, वंशी, घुंघरु आदि की तरह सुनाई देती है।

भ्रमर जिस तरह फूलों का रस ग्रहण करता हुआ गंध की अपेक्षा नहीं करता, उसी तरह नाद में रुचि लेने वाला चित विषय वासना की दुर्गन्ध को इच्छा नहीं रखता। जिस तरह सर्प नाद को सुनकर मस्त होजाता है, उसी तरह चित्त उस नाद में आसक्त होकर सभी प्रकार की चंचलतायें भूल जाता है और एकाग्रता आने लगती है। वासनाओं के वन में घूमने वाला मन रूपी हाथी नाद के अभ्यास रूपी अंकुश से ही कावू में आ पाता है। जब शब्दों के साथ मिला हुआ नाद

अक्षर-ब्रह्म में लीन हो जाता है तब शब्द सुनाई नहीं देते। यही परमपद है।"

—नादबिन्दु उपनिषद्

"नारायण ने कहा—ज्ञान युक्त यमादि को अष्टाङ्ग योग कहते हैं। शीत, उष्णत्ता, आहार और निद्रा पर विजय सदैव शान्ति, निश्चलता और इन्द्रियों पर नियंत्रय, ये यम हैं। गुरु-भक्ति, सत्यमार्ग पर प्रीति, संतोष, अनासक्ति, एकान्तवास, मन पर अंकुश, फल की इच्छा का अभाव और वैराग्य, ये नियम हैं। सुख पूर्वक लम्बे समय तक एक ही स्थिति में रहना और स्वल्प वस्त्र धारण करना आसन कहलाता है। सोलह मात्रा का पूरक, चौंसठ मात्रा का कुंभक और बत्तीस मात्रा का रेचक यह प्राणायाम है। इन्द्रियों के विषयों से मन को पीछे खींचना यह प्रत्याहार है। मन को चैतन्य में स्थिर करना धारणा है। सब शरीरों में एक मात्र चैतन्य ही है ऐसी स्थिरता यही ध्यान है और ध्यान को भी भूल जाना यह समाधि है। यह सूक्ष्म साधना है। जो इसको जानता है वही मुक्ति प्राप्त करता है।"

—मण्डलब्राह्मण उपनिषद्

"भौंहों और नासिका की जहां संधि है वहीं स्वर्ग तथा उससे भी उच्च परमधाम का संधि-स्थान है। वही अवि-मुक्त (काशी) है। ब्रह्मज्ञानी जन इसी संधि की संध्या रूप में साधना करते हैं। जो साधक इस प्रकार जानने वाला है कि अव्यक्त ब्रह्म की साधना का स्थान अविमुक्त क्षेत्र (काशी) अधिभौतिक स्थान है और भौंहों तथा नासिका का संधि स्थान आध्यात्मिक काशी है, वही ज्ञानी यथार्थ ज्ञानोपदेश में समर्थ सकता है।

यही आध्यात्मिक अविमुक्त क्षेत्र (काशी) सबसे बड़ा तीर्थ है। यही देवताओं के लिये भी पवित्र है। यही सब देहधारियों के लिये परमात्म प्राप्ति का स्थल है। यहाँ जब प्राणी के प्राण निकलते हैं तब अमृतत्व की प्राप्ति होती है।"

—श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्

❀ ❀ ❀

लौकिक सुख शान्ति, ऐश्वर्य, आनन्द, समृद्धि सफलता से लेकर पारलौकिक अन्तः शुद्धि, आत्मसाक्षात्कार, स्वर्ग, मुक्ति, ब्रह्मप्राप्ति, अमृतत्व आदि सभी संभव सफलताओं का स्रोत साधना ही है। साधना के बिना केवल दैव के आश्रय बैठे रहने से किसी को कोई सफलता नहीं मिल सकती, इसलिये उपनिषदकारों ने पग-पग पर साधना परायण होने के लिये उपदेश दिया है। बालक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, रोगी-निरोगी, व्यस्त-निवृत सभी कोई अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप साधना कर सकते हैं और अपने लिये अनुकूल सफलताएं प्राप्त कर सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि जो साधनाएं योगी के लिए उपयुक्त हैं वे ही सब को करनी चाहिये। प्रत्येक परिस्थिति के व्यक्ति के लिये उसी लक्ष को प्राप्त कराने वाली साधनाएँ मौजूद हैं। इन उपनिषदों में भी उस भिन्नता का यत्र-तत्र वर्णन है। अनुभवी मार्गदर्शकों से तो हर कोई अपनी स्थिति के अनुरूप साधना पथ जान सकता है और उस मार्ग पर चलते हुए धीरे-धीरे लौकिक और पारलौकिक सिद्धियाँ उपलब्ध करता हुआ पूर्णता के लक्ष तक पहुँच सकता है।

अष्ट सिद्धियां

साधना का परिणाम 'सिद्धि' है। जीवनोद्देश्य की पूर्णता ही सबसे बड़ी सिद्धि मानी जाती है। साधना का लक्ष

उसे ही प्राप्त करना है। ८४ प्रकार के योग उसी लक्ष तक पहुँचने के मार्ग हैं। इस मंजिल तक पहुँचाने में योग साधना ही एक मात्र अवलम्बन है।

साधना मार्ग पर चलते हुये मील के पत्थरों की तरह अनेक छोटी-मोटी सिद्धियाँ भी बीच-बीच में आती हैं। इनसे लौकिक ऐश्वर्य और पारलौकिक सुख शान्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

सिद्धियों का वर्णन सभी योग ग्रन्थों में मिलता है। योगी और सिद्ध पुरुषों में कुछ विलक्षण प्रतिभा, सामर्थ्य एवं शक्ति देखी भी जाती है। उनमें सामान्य मनुष्य की अपेक्षा कुछ विशेष आत्मबल होता है, जो विविध रूपों में परिलक्षित होता है। सिद्ध पुरुष अपनी उपार्जित सिद्धियों का लाभ अपने निज के लिये नहीं उठाते पर उससे दूसरे सत्पात्रों को लाभान्वित करते रहते हैं। अपना आत्मबल देकर दूसरों की आत्मा को ऊपर उठा देने की महान सेवा तो वे निरन्तर करते ही रहते हैं। यदा कदा किन्हीं सांसारिक अभाव और कष्टों से पीड़ित व्यक्तियों को अपनी साधना का एक अंश देकर उन्हें कष्टमुक्त कर देते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें अपना पुण्य-तप कष्ट पीड़ित को दान रूप में देना पड़ता है और उसके कठिन प्रारब्ध-भोग को भुगतने को स्वयं तत्पर होना पड़ता है। संसार में हर वस्तु एक नियत नियम के आधार पर चल रही है। केवल सूखा आशीर्वाद देने से किसी का कोई भला नहीं हो सकता।। सच्चा आशीर्वाद जो फलित हो, वही दे सकता है जिसके पास तप की पूँजी संग्रहीत हो और उसके एक भाग को आशीर्वाद के साथ देते हुये दूसरे का कठिन प्रारब्ध भोगने के लिये स्वयं तैयार हो। शक्ति-पात के द्वारा दूसरों की आत्मा को ऊँचा उठाने में भी यही प्रक्रिया पूर्ण करनी पड़ती है। यह सब सिद्ध पुरुषों के लिये ही

संभव है और सिद्धि साधना के ऊपर टिकी हुई है। कठिन तपश्चर्या द्वारा ही उसे उपार्जित या उपलब्ध किया जा सकता है। उपहार के रूप में वह किसी को नहीं मिलती।

साधना मार्ग के पथिकों को समयानुसार जो सिद्धियाँ मिलती हैं, उनका वर्णन योगशास्त्रों में मिलता है। उनकी संख्या आठ है, इन्हें अष्ट सिद्धियां भी कहते हैं। इनका वर्णन इस प्रकार है :—

(१) आत्म सिद्धि—इन्द्रिय संयम, मनोनिग्रह, स्थित-प्रज्ञता की प्राप्ति, समाधि, आत्म-साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन, तत्व ज्ञान, भूतजय, मोक्ष, पंच क्लेशों से निवृति, भव बन्धनों से मुक्ति, संसार की किसी भली-बुरी परिस्थिति का प्रभाव ग्रहण न करना।

(२) विविधा सिद्धि—पंच तत्वों पर नियन्त्रण, उनके द्वारा अभीष्ट वस्तुएं तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकना, दूसरों के मन में अपनी भावना तथा मान्यता की स्थापना।

(३) ज्ञान सिद्धि—तीक्ष्ण बुद्धि, तीव्र स्मरण शक्ति, भूतकाल में हुई तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं को जान सकना, दूरस्थ और समीपवर्ती परिस्थितियों का समान रूप से साक्षात्कार, पूर्वजन्मों का वृत्तान्त जानना, सब प्राणियों के मनोगत भावों को जानना, शास्त्रों का सार दर्शन, अन्तःकरण में वैराग्य और निस्पृह प्रेम।

(४) तप सिद्धि—कठोर तप कर सकने की शक्ति, सर्दी-गर्मी को बिना कष्ट के सहन, भूख प्यास कर नियन्त्रण, जल थल और आकाश पर विचरण कर सकना।

(५) क्षेत्र सिद्धि—थोड़े स्थान में बहुत विस्तृत वस्तुओं का समा सकना, सूक्ष्म शरीर द्वारा देश देशान्तरों और लोक

लोकान्तरों में भ्रमण कर सकना, अपने तेजस को वाहर योजन प्रदेश तक फैलाकर उस क्षेत्र के दुख तथा अभावों को दूर कर सकना, शरीरस्थ देवताओं का साक्षात्कार।

(६) देव सिद्धि—देवताओं, यक्ष, गन्धर्व, प्रेत, पिशाच, वेताल, ब्रह्म राक्षस छाया पुरुष आदि का अनुग्रह, स्वामित्व और सहयोग प्राप्त करना। मन्त्र सिद्धि। सिद्ध योगियों का ब्रह्म रन्ध्र में सम्बन्ध सान्निध्य, षट चक्रों और कुण्डलिनी शक्ति का जागरण।

(७) शरीर सिद्धि—दृष्टि या स्पर्श मात्र से दूसरों को निरोग और कष्ट मुक्त कर देना, अपार शारीरिक वल, अद्‌भुत मनोवल, चिन्तन में थकान न होना, निर्वाध भाषण, शाप से दूसरों को नष्ट कर सकना, स्पर्श से पदार्थों का स्वादिष्ट और सुगन्धित हो जाना, स्वल्प आहार से बहुतों को तृप्त कर देना, वाणी से कहे हुये वचनों तथा आशीर्वादों का सफल होना, शरीर का कायाकल्प, दीर्घ जीवन या अमर होना।

(८) विक्रिया सिद्धि—अपने शरीर को अन्य शरीरों में परिवर्तित कर लेना, दूसरों के शरीरों को परिवर्तित कर देना, शरीर को अति भारी, अति हल्का, अति सूक्ष्म, अति विशाल वना सकना, अर्न्तध्यान हो जाना, सर्व वशीकरण, सब कामनाओं की पूर्ति के साधन जुटाना।

किन्हीं ग्रन्थों में दूसरी आठ सिद्धियाँ गिनाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) अणिमा—शरीर को अणु के समान सूक्ष्म कर लेना।

(२) महिमा—शरीर को बहुत वड़े आकार का वना लेना।

(३) गरिमा—शरीर को बहुत भारी कर लेना।

(४) लघिमा—शरीर को बहुत हलका कर लेना।

(५) प्राप्ति—दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श अथवा प्राप्त कर लेना।

(६) प्राकाम्य—कामनाओं को अभिलषित रूप में पूर्ण कर लेना।

(७) ईशत्व—शरीर और मन के भीतरी संस्थानों एवं चक्रों पर पूर्ण प्रभुता तथा संसार के अन्य पदार्थों को अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकने की सामर्थ्य।

(८) वाशित्व—सब परिस्थितियों अथवा वस्तुओं को अपने वशवर्ती रख सकना।

अन्य शास्त्रों में सिद्धियों को अन्य रूपों में भी उपस्थित किया गया है जिनका उल्लेख कई प्रकार से मिलता है।

शंकराचार्य के मत से सिद्धियाँ

(१) जन्म सिद्धि—जन्म से ही पूर्व संचित संस्कार तथा वैभव प्राप्त होना।

(२) शब्द ज्ञान सिद्धि—श्रवण मात्र से सही अनुमान होना।

(३) शास्त्र ज्ञान सिद्धि—शास्त्रों के अभ्यास से असाधारण बुद्धि का विकास।

(४) आधिभौतिक ताप सहन शक्ति।

(५) आध्यात्मिक ताप सहन शक्ति।

(६) आधिदैविक सहन शक्ति।

(७) विज्ञान सिद्धि—अन्तःकरण से तत्वज्ञान का स्फुरण होना।

(८) विद्या सिद्धि—विद्या के द्वारा अविद्या का नाश ।

कहीं-कहीं (१) परकाया प्रवेश (२) जल आदि में असङ्ग (३) उत्क्रान्ति (४) ज्वलन (५) दिव्य श्रवण (६) आकाश मार्ग गमन (७) प्रकाशावरण क्षण (८) भूतजय को अष्ट सिद्धि माना गया है ।

सच तो यह है कि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्र की सिद्धियां अगणित प्रकार की हैं, उन्हें आठ या किसी अन्य संख्या में विभाजित नहीं किया जा सकता । आत्मवल को जिस दिशा में भी लगा दिया जाय उसी में एक चमत्कार पैदा हो जायेगा और वह एक स्वतन्त्र सिद्धि दिखाई देने लगेगी ।

साधना की सफलता के रूप में यह सिद्धियाँ सामने आती हैं, पर उनकी ओर आकर्षित होना, उन्हें अधिक महत्व देना, उनका प्रदर्शन करना अथवा लाभ उठाना, गर्व करना और चमत्कारी बनकर लोगों को अपने पीछे लगाना एक भारी भूल है। जो साधक इस मार्ग में भटक जाते हैं, उन्हें अपनी थोड़ी सी संग्रहीत पूँजी से हाथ धोना पड़ता है और आगे की प्रगति अवरुद्ध ही हो जाती है। इसीलिये उन्हें विघ्न रूप ही माना गया है और उनकी ओर से मुँह मोड़े रहने का ही आचार्यों ने आदेश किया है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः

—योग दर्शन० विभूति । ३७

ये सिद्धियाँ समाधि में विघ्न रूप हैं। जाग्रत अवस्था में सिद्धियाँ हैं।

तद्वैराग्यादपि दोषबीज क्षये कैवल्यम् ।

—योग० विभूति । ५०

इन सिद्धियों से भी मन हटा लेने पर दोषों का बीज नाश होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यदि तन्नापेक्षास्यात् तदा मोक्षाद् भ्रष्टः।
कथं कृतकृत्यताभियात्—

—योग सुधाकर

यदि इन सिद्धियों की आकांक्षा रही तो साधक मोक्ष-पथ से भ्रष्ट हो जायेगा। फिर उसे लक्ष्य प्राप्ति कैसे होगी ?

मन को भटकने न दिया जाय

साधना द्वारा आत्म-कल्याण की आकांक्षा करने वाले श्रेय-पथिकों के लिये यह आवश्यक है कि वे वासना और तृष्णा के प्रति दिन-दिन उदासीन होना सीखें और आत्मिक सम्पदाओं का महत्व समझते हुए उनकी ओर अपना प्रेम बढ़ावें। जिसके मन में लोभ, मोह की जितनी प्रबलता रहेगी, वासना और तृष्णा में जो जितना ही डूबा रहेगा, उसका मन भगवान में उतना ही कम लगेगा। इसलिये उपनिषद् स्थान-स्थान पर यह कहते हैं कि मन को सांसारिक प्रलोभनों और आकर्षणों से रोका जाय, उन्हें व्यर्थ और सारहीन वस्तु समझा जाय।

शरीर आत्मा का वाहनमात्र है। उसे निरोग और प्रसन्न रखने के लिये जितनी अनिवार्य आवश्यकतायें हैं, उतने में ही सन्तुष्ट रहा जाय। भौतिक सम्पदायें बढ़ाने की अपेक्षा आत्मिक सद्गुणों की सम्पदायें बढ़ाना अधिक बुद्धिमतापूर्ण है। यदि भौतिक प्रलोभनों में मन को बहुत आकर्षण रहा तो सारा मनोबल, शरीरबल और समय उसी दिशा में लगा रहेगा और आत्मिक प्रगति के तीनों ही साधन बहुत स्वल्पमात्रा में बचेंगे। फलस्वरूप सफलता भी थोड़ी सी ही मिलेगी।

शरीर रक्षा और पारिवारिक व्यवस्था के लिये उचित मनोयोग लगाना, सुव्यवस्थित प्रयत्न करना, श्रम संलग्न होना आवश्यक है। इन कर्तव्यों की उत्पेक्षा करने के लिये कोई नहीं कहता। लौकिक कर्तव्यों का उचित सीमा में पालन करना आत्म साधना का ही एक भाग है। शरीर और परिवार भी हमारे आत्म कुटुम्ब के सदस्य ही हैं, उनकी उपेक्षा क्यों की जाय ? ऐसी उपेक्षा से जीवन का स्वाभाविक और सामान्य क्रम अस्त व्यस्त होता है, तब आत्मिक प्रगति का मार्ग भी अवरुद्ध ही हो जाता है। इसलिये अतिवादियों की तरह जीवन के उचित उत्तरदायित्वों को वहन करने से इन्कार करना किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिये उचित नहीं कहा जा सकता। हमें अपने शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सभी कर्तव्य उचित रीति से पूर्ण करने चाहिए। पर उनमें इतना अधिक लोभ और मोह न हो कि आत्मिक कर्तव्यों की ओर उपेक्षा की जाने लगे और अनिच्छा उत्पन्न हो जाय।

जीवन का वास्तविक उद्देश्य और सच्चा लाभ आत्मिक प्रगति में ही है। उसकी ओर शारीरिक एवं सांसारिक कर्तव्यों की अपेक्षा कम नहीं वरन अधिक ही ध्यान रहना चाहिये क्योंकि शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्व निश्चित रूप से अधिक है। लौकिक जीवन सुखपूर्ण हो ऐसी इच्छा होना स्वाभाविक है पर आत्मिक शान्ति का महत्व नगण्य समझा जाय यह उचित नहीं, क्योंकि लौकिक जीवन क्षणिक और आत्मिक जीवन अनन्त है। क्षणिक सुखों के लिये, निस्सार वासनाओं और कभी तृप्त न हो सकने वाली मृगतृष्णाओं के पीछे भटकते हुए इस सुरदुर्लभ मानव जीवन को नष्ट कर देना और आत्मिक प्रगति की ओर से विमुख रहना कोई दूरदर्शिता का

कार्य नहीं है। यह तथ्य जब हम भली-भाँति समझलें तभी भौतिक और आत्मिक लाभों को तुलना करना और उनकी ओर उचित ध्यान दे सकना संभव हो सकेगा।

उपनिषदकार इस बात पर बहुत बल देते हैं कि मन को सांसारिक कर्तव्यों के उचित मात्रा में पालन करने तक ही सीमित रहने दिया जाय। धन ओर वासना की जितनी उचित उपयोगिता है, उतनी सीमा तक ही उनमें मनको डूबने दिया जाय। अति आकर्षण, अति मोह, अति लोभ में आजकल जन-मानस डूबा पड़ा है। इस स्थिति से ऊपर उठे विना न तो आत्म कल्याण का महत्व समझ में आवेगा और न उसमें मन ही लगेगा। फिर चिन्ह-पूजा के रूप में कुछ साधना की भी तो उसका प्रतिफल भी वैसा ही नगण्य होगा।

आकर्षण की प्रधान धारा एक ही रह सकती है। यदि लौकिक तृष्णायें अधिक होंगी तो आत्म-उद्धार के लिये तत्परता कहाँ से होगी? और यदि आत्मिक लक्ष्य है तो तृष्णा और वासना में निरन्तर निमग्न रहना कैसे निभेगा? दोनों में से एक को प्रमुखता देनी पड़ेगी। उपनिषदों में आत्मलक्ष को प्रमुखता देने और मन को लौकिक आकर्षणों से बचाने का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन हुआ है। इसी को सदाचार, तप, संयम, मनोनिग्रह, कर्मयोग आदि नामों से पुकारा जाता है। साधना-मार्ग में यह महत्वपूर्ण तथ्य है जिसकी उपेक्षा करके आगे बढ़ सकना किसी के लिये भी संभव नहीं होता। मन को पवित्र रखने, इन्द्रियों में आसक्त न होने, अपवित्रता और पाप वृत्तियों में न डूबने का पवित्र कर्तव्य उपनिषदों में जगह-जगह प्रतिपादित हुआ है और आस्तिकता, तपश्चर्या, कर्तव्यनिष्ठा

एवं परमार्थ परायणता की ओर मन को वलपूर्वक प्रेरित करते रहने के लिये बहुत जोर दिया गया है।

ऐसी प्रेरणाओं के कुछ निर्देश इस प्रकार हैं—

"जब हृदय में रहने वाली कामनायें नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य ही अमृत हो जाता है और उसे इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।"

—बृहदारण्यक, अध्याय ४, ब्राह्मण ४—

"मन ही संसार है, प्रयत्नपूर्वक इस मन को ही शुद्ध करना चाहिये। जिसका जैसा मन होता है, वह वैसा ही बन जाता है। शान्त मन वाला व्यक्ति ही आत्मा को तथा अक्षय आनन्द को प्राप्त करता है, यही सनातन रहस्य है।"

—मैत्रेयी उपनिषद्

"इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने के कारण अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होता है। यदि वे ही इन्द्रियां भली प्रकार वशीभूत हो जायें तो वह सिद्धिदायिनी होती हैं। भोगों का उपयोग करने से विषयों की कामनाएं कभी शान्त नहीं होतीं। भोग तो घृत द्वारा अग्नि के अधिक प्रदीप्त होने के समान उनकी वृद्धि ही करते हैं॥"

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्

"जिनके मन-वाणी में पवित्रता है, जो सदा दोष रहित हैं, वे ही मनुष्य वेदान्त को सुनकर उसका पूरा फल पा सकते हैं।"

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्

'तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्रीं, मति, जप और व्रत ये दस नियम हैं।"

—शाण्डिल्य उपनिषद्

"जो चित् शक्ति, इच्छा और अनिच्छा वाले प्राणियों में विद्यमान है वह मलों से घिरी है और पाशबद्ध चिड़िया की तरह उड़ने में असमर्थ होती है। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्दभाव के कारण ये प्राणी मोह-वश पृथिवी रूपी गढ़े में गिरे हुये कीट पतंगों के तुल्य ही हैं।"

—सन्यास उपनिषद्

"मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा, वह बन्धन का तथा जो विषयों से पराङ्मुख होगा, वह मोक्ष का कारण होगा।"

—शाट्यायनीयोपनिषद्

"मन के मैल को त्याग करना ही स्नान है। मन और इन्द्रियों को वश में करना ही पवित्रता है। शारीरिक मलों की शुद्धि मिट्टी जल आदि से होती है। यह तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक पवित्रता तो मोह और अहङ्कार का त्याग करने से ही होती है। ज्ञान रूप मिट्टी तथा वैराग्य रूप जल में धोने पर जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है।"

—मैत्रेयी उपनिषद्

"तप द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान से मन वश में आता है। मन वश में होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और तब संसार से छुटकारा मिल जाता है।..................मनुष्य का चित्त जितना बाहरी विषयों में आसक्त रहता है, उतना ही अगर ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो बन्धनों से मुक्ति सहज ही

है। मुनि का बताया हुआ यह तथ्य हम सबके लिये विचारणीय और मननीय है।"

—मैत्रेयी उपनिषद्

"यह पराविद्या सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से वेदान्त-मार्ग द्वारा प्राप्त होती है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जिनके दोष क्षीण होगये हैं, वे ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा को देख सकते हैं। माया में फँसे हुये उनको नहीं देख सकते।"

—पाशुपतब्रह्मोपनिषद्

मन को कम महत्व की निस्सार बातों में भटकने से रोक कर उसे परम कल्याणकारक आत्म-पथ पर अग्रसर करने के लिए उपनिषदों का विशेष आग्रह है। साधना का यही महत्वपूर्ण अङ्ग भी है।

—:०:—

जैसा अन्न वैसा मन

आत्म-कल्याण के पथ पर चलने का प्रधान आधार 'अन्न-शुद्धि' को माना गया है, क्योंकि उसी पर मन की शुद्धि निर्भर है। मन को शरीर का ही एक भाग माना गया है, उसे ग्यारहवीं इन्द्रिय भी कहते हैं। शरीर की उन्नति अवनति बहुत से आहार पर निर्भर रहती है। आहार के शरीर-पोषक स्थूल भावों को हम सभी जानते हैं। किसी वस्तु के खाने से शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है विज्ञान द्वारा इसकी बहुत कुछ खोज हो चुकी है, पर अभी यह खोज होनी शेष है कि किस-किस आहार में कौन कौन सूक्ष्म गुण विद्यमान हैं और उसका मनोभूमि के उत्थान-पतन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

अध्यात्म-विद्या के वैज्ञानिक ऋषियों ने आहार के सूक्ष्म

गुणों का अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था और यह पाया था कि प्रत्येक खाद्य-पदार्थ अपने में सात्विक, राजसिक और तामसिक गुण धारण किये हुये है और उनके खाने से मनोभूमि का निर्माण भी वैसा ही होता है। साथ ही यह भी शोध की गई थी कि आहार में निकटवर्ती स्थिति का प्रभाव ग्रहण करने का भी एक विशेष गुण है। दुष्ट, दुराचारी, दुर्भावनायुक्त या हीन मनोवृत्ति के लोग यदि भोजन पकावें या परसें तो उनके वे दुर्गुण आहार के साथ सम्मिश्रित होकर खाने वाले पर अपना प्रभाव अवश्य डालेंगे। न्याय और अन्याय से, पाप और पुण्य से कमाये हुये पैसे से जो आहार खरीदा गया है, उससे भी वह प्रभावित रहेगा। अनीति की कमाई से जो आहार बनेगा वह भी अवश्य ही उसके उपभोक्ता को अपनी बुरी प्रकृति से प्रभावित करेगा।

इन बातों पर भली प्रकार विचार करके उपनिषदों के ऋषियों ने साधक को सतोगुणी आहार ही अपनाने पर बहुत जोर दिया है। मद्य, मांस, प्याज, लहसुन, मसाले, चटपटे, उत्तेजनक, नशीले, गरिष्ठ, बासी, बुसे, तमोगुणी प्रकृति के पदार्थ त्याग देने ही योग्य हैं। इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति के लोगों द्वारा बनाया हुआ अथवा अनीति से कमाया हुआ आहार भी सर्वथा त्याज्य है। इन बातों का ध्यान रखते हुये स्वाद के लिये या जीवन रक्षा के लिये जो अन्न औषधि रूप समझ कर, भगवान का प्रसाद मानकर ग्रहण किया जायगा वह शरीर और मन में सतोगुणी स्थिति पैदा करेगा और उसी के आधार पर साधना-मार्ग में सफलता मिलनी संभव होगी।

उपनिषदों में इस सम्बन्ध में अनेकों आदेश भरे पड़े हैं। जैसे :—

"खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग है वह मल बनता है, जो मध्यम भाग है, वह मांस बनता है और जो सूक्ष्म भाग है सो मन बन जाता है। पिया हुआ जल तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग है वह मूत्र हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है, जो सूक्ष्म भाग है, वह प्राण हो जाता है।——हे सौम्य ! मन अन्नमय है। प्राण जलमय है। वाक् तेजोमय है।"

—छान्दोग्य, अध्याय ६, खण्ड ५

"अन्न ही बल से बढ़कर है। इसी से यदि दस दिन भोजन मिले तो प्राणी की समस्त शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और वे फिर तभी लौटती हैं जब वह पुनः भोजन करने लगे। तुम अन्न की उपासना करो। यह अन्न ही ब्रह्म है।"

——छान्दोग्य, अध्याय ६, खण्ड ९

"आहार में अभक्ष्य त्याग देने से चित्त शुद्ध हो जाता है। आहार शुद्धि से चित्त की शुद्धि स्वयंमेव हो जाती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो क्रम से ज्ञान होता जाता है और अज्ञान की ग्रन्थियाँ टूटती जाती हैं।"

——पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्

"आहार शुद्ध होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण शुद्ध होने से भावना दृढ़ हो जाती है और भावना की स्थिरता से हृदय की समस्त गांठें खुल जाती हैं।"

——छान्दोग्य

तैत्तरीय उपनिषद में इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डाला गया है और आत्मकल्याण के इच्छुकों को आहार-शुद्धि का विशेष रूप से ध्यान रखने का निर्देश किया गया है।

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । काश्च पृथिवी ँश्रिताः । अथो अन्ने नैव जीवन्ति । अथैनदपियन्तन्ततः । अन्नः ँहि भूतानां जेष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधयमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते ।

"इस पृथवी पर रहने वाले समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं । फिर अन्न से हो जीते हैं । अन्त में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं । अन्न हो सबसे श्रेष्ठ है । इसलिये वह औषधि रूप कहा जाता है । जो साधक अन्न को ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं, वे उसे प्राप्त कर लेते हैं ।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । सवा एष पुरुष विध एव ।

—तैत्तरीय २।२

"इस अन्न रसमय शरीर के भीतर जो प्राणमय पुरुष है, वह अन्न से व्याप्त है । यह प्राणममय पुरुष ही आत्मा है ।

अन्नं न निन्द्यात् । तद् व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान भवति । प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान कीर्त्या ।

—तैत्तरीय ३।७

"अन्न की निन्दा न करे । यह व्रत है । प्राण हो अन्न है । शरीर प्राण पर आधारित है । इसलिये वह अन्न में ही स्थित है । जो मनुष्य यह जान लेता है कि मैं अन्न में ही प्रतिष्ठित हूँ वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है । अन्नवान हो जाता है । प्रजावान् हो जाता है, पशुवान् भी । वह ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर महान् बनता है । कीर्ति से सम्पन्न होकर भी महान् बनता है ।

आगे चल कर अष्टम अनुवाक में और भी निर्देश है—

अन्नं न परिचक्षीत । तद व्रतम·········अन्नं वहु कुर्वीत तद् व्रतम् ।

" अन्न की अवहेलना न करे । यह व्रत है । अन्न को वहुत वढ़ावे । यह व्रत है ।"

हाइवु, हाइवु, हाइवु । अहमन्नमहमन्नमहन्नम् । अह मन्नादो इऽहमन्नादो इऽहमन्नादः ।

—तैत्तिरीय ३।१०

"आश्चर्य ! आश्चर्य ! ! आश्चर्य ! ! ! मैं अन्न हूं । मैं अन्न हूँ । मैं अन्न हूँ । मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ । मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ । "

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृति-लभ्ये सर्व ग्रन्थीनां विप्र मोक्ष स्तस्यै मृदित कषायाय तमसस्पा-दर्शयति भगवान सनत्कुमारः ।

"जव आहार शुद्ध होता है तव सत्व यांनी अन्तःकरण शुद्ध होता है अन्तःकरण शुद्ध होने पर विवेक वुद्धि ठीक काम करती है । उस विवेक से अज्ञानजन्य वन्धन-ग्रन्थियां खुलती हैं । फिर परम-तत्व का साक्षात्कार हो जाता है । यह ज्ञान नारद को भगवान् सनत्कुमार ने दिया ।"

अथर्ववेद में अनुपयुक्त अन्न को त्याज्य ठहराया गया है । प्राचीनकाल में हर व्यक्ति आहार ग्रहण करने से पूर्व यह देखता था कि यह अन्न किस प्रकार के व्यक्ति द्वारा उपार्जित एवं निर्मित है । उसमें थोड़ा भी दोष होने पर उसे त्याग दिया जाता था । केवल पुण्यात्माओं का अन्न ही लोग स्वीकार करते

थे। किसी के पुण्यात्मा होने को एक कसौटी यह भी थी कि लोग उसका अन्न ग्रहण करते हैं या नहीं।

अथर्ववेद ८।६। २५ में कहा गया है:—

सर्वो वा एष जग्ध पाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति।

':अर्थात्, वही व्यक्ति पुण्यात्मा है जिसका अन्न दूसरे खाते हैं।"

आज भी पुरानी वह प्रथा देहाती क्षेत्रों में किसी रूप में प्रचलित है कि जिसके आचरण अनुचित समझे जायें, उसके यहाँ का अन्न जल ग्रहण न किया जाय। जातिच्युत होने में यही दण्ड मुख्य होता है।

वाल्मीकि रामायण में अन्तःकरण को देवता के रूप में प्रस्तुत करते हुए इसी प्रकार का प्रतिफल किया गया है, लिखा है:—

"यदन्न पुरुषो भवति तदन्ना स्तस्य देवता:।"

"अर्थात् मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसा ही उसके देवता खाते हैं।"

कुधान्य खाकर साधना करने से साधक का इष्ट भी भ्रष्ट हो जाता है और उससे जिस प्रतिफल की आशा की गई थी, वह प्रायः नहीं ही प्राप्त होता।

प्राण और उसका निग्रह

ब्रह्म की उपासना में प्राण साधना का अत्यधिक महत्व है। आत्मा ईश्वर का अंश होने से साक्षी, दृष्टा और निर्लिप्त है। उसकी शक्ति प्राण है और इस प्राण-शक्ति के आधार पर ही जीव का सारा जीवनक्रम संचालित होता है। जैसे निर्लिप्त ब्रह्म की क्रिया-शक्ति माया या प्रकृति है, उसी प्रकार जीव की सक्रियता प्राण-शक्ति में सन्निहित है।

जिस प्रकार पंचतत्वों के हेर-फेर से शरीर में विविध प्रकार के परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार आत्मिक क्षेत्र में प्राण की स्थिति में हेर-फेर होने से मनोभूमि में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते है। चूंकि अनेक जन्मों के संग्रहीत कुसंस्कारों के कारण मन में कितनी ही विकृतियां भरी रहती हैं और वे साधक को पथभ्रष्ट करने के लिये निरन्तर दुरभिसंधि करती रहती हैं। मन का उच्चाटन, जहाँ घूमना, निर्दिष्ट लक्ष पर स्थिर न होना आदि विघ्नों के शमन का एक महत्वपूर्ण उपाय प्राणों का निरोध है। इसी प्रकार जो कुसंस्कार मन को सन्मार्ग पर चलने से डराते और कुमार्ग की ओर ललचाते हैं, उन्हें नियंत्रिय करने का सुनिश्चित शस्त्र भी प्राण-संयम ही है। सत्संग, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन से कुविचारों को बहुत हद तक शान्त किया जा सकता है, पर अन्तर्मन के प्रसुप्त क्षेत्र में जो कुसंस्कारों की ग्रन्थियाँ जमी होती हैं, वे अवसर पाते ही पुनः जाग्रत हो जाती हैं और सत्संग आदि से संग्रहीत ज्ञान देखते-देखते तिरोहित हो जाता है।

कई वार ज्ञानी गुरु कहे जाने वाले लोग भी कुमार्ग-गामी होते देखे गये हैं। इसका कारण यही है कि उसने सद्-विचारों को सुना समझा तो वहुत था पर प्राण-निग्रह द्वारा गुप्त मन की संस्कार-ग्रन्थियों का शमन नहीं किया था। फल-स्वरूप वे अवसर पाते ही सजीव हो उठीं और आँधी-तूफान जिस प्रकार घास के ढेर को उड़ा ले जाता है, उसी प्रकार कुसंस्कारों का प्रवाह उस संग्रहीत ज्ञान को उड़ा ले गया।

मनोभूमि को शोधने और चिर संचित कुसंस्कारों का उन्मूलन करने के लिये प्राणायाम का बड़ा महत्व है। उपनिषदों में वर्णित साधना विधान में प्राणायाम को प्रमुख स्थान दिया

गया है। साधना खंड के अधिकांश उपनिशदों में किसी न किसी रूप में प्राणायाम का वर्णन हुआ है। यद्यपि वह संक्षिप्त है और विविध प्राणायामों को पूरा साधन-विधान जानने के लिये अनुभवी गुरु अथवा तत्सम्बन्धी अन्य विवेचनात्मक ग्रन्थों के पढ़ने की आवश्यकता होती है, तो भी यह निर्विवाद है कि उपनिषदों का साधना-विज्ञान प्राणायाम को अपनी साधना में सम्मिलत रखने के लिये प्रत्येक ब्रह्मपरायण व्यक्ति पर जोर देता है। किस प्रयोजन के लिये, किस विधि विधान के साथ कौन-सा प्राणायाम कितनी मात्रा में, किस समय किया जाय, यह प्रश्न साधकों की व्यक्तिगत स्थिति की भिन्नता पर निर्भर है। इसलिये उसकी एक विधि बता देना भी कठिन था। उपनिषद्कारों ने इस कठिनाई को समझते हुये प्राण विद्या की साधना विपयक विविध प्रक्रियाओं की बारीकी में जाना उचित नहीं समझा है और इस कार्य को गुरु शिष्य के परस्पर विचार विनिमय एवं विवेक पर छोड़ दिया है। पर एक बात पर पूरा-पूरा जोर दिया है कि हर साधक किसी न किसी रूप में प्राणायाम की साधना नियमित रूप से किया करे।

प्राणायाम का प्रभाव कुसंस्कारी के शमन और मन के निग्रह तक ही सीमत नहीं है, वरन् आरोग्य की वृद्धि, मानसिक विकास, आत्मिक प्रगति तथा अनेकों प्रकार की आध्यात्मिक चमत्कारी सिद्धियाँ भी उससे सम्बन्धित हैं। प्राणायाम करने से अनेकों प्रकार के रोग दूर हो सकते है। पटचक्रों, सूक्ष्म ग्रन्थियों तथा उपत्यिकाओं का जागरण होने से दिव्य सिद्धियां उपलब्ध होती हैं, लौकिक सुख सम्पदाओं का द्वार खुलता है और जो बन्धन आत्मा को निविड़ पाश में जकड़े हुये हैं, उनका कटना सहज हो जाता है।

इस प्रकार की अनेकों विवेचनाएँ उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती हैं। उनमें से कुछ नीचे देखिए:—

"स्वर्णादि धातुओं का मल उन्हें तपाने से दूर होने के समान ही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त दोष प्राणायाम से दूर हो जाते हैं। प्राणायाम से दोषों को और धारणा से पापों को जला डालें.........जिस साधक का प्राण इस मण्डल को वेध कर मस्तक में पहुँच जाता है, उसकी कहीं भी मृत्यु नहीं होती वह पुनर्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता।"

—अमृतनादोपनिषद्

"प्राणायाम पाप रूपी ईंधन के लिए अग्निस्वरूप है और संसार सागर से पार होने के लिये सेतु के समान है। आसन से रोगों का नाश होता है और प्राणायाम से पापों का। योगी के मन के विकार प्रत्याहार से दूर हो जाते हैं। धारणा से मन में धैर्य आता है, समाधि द्वारा अद्भुत चैतन्य की प्राप्ति होती है"

—योगचूड़ामणि उपनिषद्

'प्राणायाम का अभ्यास होने से सब रोग दूर हो जाते हैं। हिचकी, खांसी श्वास, शिर. कान और आँख की पीड़ा आदि विविध प्रकार के रोगों का कारण वायु का विकार ही होता है। जिस प्रकार सिंह, हाथी, व्याघ्र आदि को धीरे-धीरे वश में किया जाता है उसी प्रकार वायु को भी क्रमशः वश में करना चाहिए।

—योगचूड़ामणि उपनिषद्

इस प्रकार तीन वर्ष तक प्राणायाम करने वाला योग-सिद्ध हो जाता। वह योगी वायु को जीतने वाला, जितेन्द्रिय,

अल्प आहार, स्वल्प निद्रा वाला, तेजस्वी तथा बलवान होता है। अकाल मृत्यु का भय मिट कर दीर्घ आयु प्राप्त होती है। ·········सामान्य प्राणायाम से व्याधि और पापों का नाश होता है। विमेष से महाव्याधियाँ तथा पाप-रोग मिटते हैं, उत्कृष्ट से अल्प मूत्र, अल्प मल, शरीर की लघुता, अल्प भोजन होता है। इन्द्रियाँ और बुद्धि तीव्र हो जाती हैं और तीनों काल का ज्ञान हो जाता है।

नाभिकन्द में प्राण धारण करने से कुक्षि रोग नष्ट होते हैं। नासाग्र में धारण करने से दीर्घायु और देह की लाघवता प्राप्त होती है। ब्रह्ममुहुर्त में जिह्वा से वायु को खींचकर पीने से वाक् सिद्धि प्राप्त होती है। शरीर का जो अङ्ग रोग पीड़ित हो, उसमें वायु को धारण करने से वह निरोग हो जाता है।

जिसका प्राण वायु क्रम से चलता है, वह प्राणजित हो जाता है; फिर वह दिन, रात्रि, पक्ष, मास, अयन आदि के काल भेद को अन्तर्मुख होकर जानने लगता है।"

—त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्

"उज्जायी प्राणायाम से मस्तक की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक रोग दूर होते हैं। देह की अग्नि की वृद्धि होती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी जलोदर और धातु सम्बन्धी रोग भी दूर हो जाते हैं। शीतली प्राणायाम से गुल्म, प्लीहा, पित्त, ज्वर, तृष्णा आदि दूर होते हैं। भस्त्रिका प्राणायाम से कण्ठ की जलन मिटती है, शरीर की अग्नि बढ़ती है, कुण्डलिनी जागती है और पुण्यप्रद, पाप-नाशक, शुभ तथा सुखदायक है।"

—योगकुण्डल्युपनिषद्

"हृदय के पाँच देव सुषि (छिद्र) हैं। जो पूर्व दिशावर्ती छिद्र है, सो प्राण है। जो उसकी उपासना कपता है, वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। दक्षिण छिद्र व्यान है। जो उसकी उपासना करता है, वह श्रीमान और यशस्वी होता है। पश्चिचम छिद्र अपान है। जो उसकी उपासना करता है, वह ब्रह्म-तेजस्वी और अन्न का भोक्ता है। इसका उत्तरी छेद 'समान' है। जो इसकी उपासना करता है, वह कीर्तिमान और कान्तिमान होता है। उर्ध्वछिद्र उदान है। जो उसकी उपासना करता है, वह ओजस्वी और तेजस्वी होता है। यह पाँच प्राण ब्रह्मपुरुष के द्वारपाल हैं। जो उन्हें जानता है, उसके कुल में वीर उत्पन्न होता है। उसे स्वर्गलोक प्राप्त होता है।"

—छान्दोग्य, अध्याय ३, खण्ड १३

"जैसे हाथों से इधर-उधर फेंकी हुई गेंद दौड़ती रहती है, उसी प्रकार प्राण और अपान वायु के फेंकने से जीव को कहीं विश्राम-स्थल नहीं मिलता। अपान, प्राण को खींचता है और प्राण, अपान को खींचता है, उसी प्रकार जैसे रस्सी से बँधा हुआ पक्षी खोंच लिया जाता है। इस रहस्य को जो जानता है, वह योगी है।"

—ध्यानबिन्दु उपनिषद्

"चित्त की चंचलता के भाग होते हैं, एक वासना दूसरा प्राण। इनमें से एक के वश में होने से दूसरा वश में हो जाता है। इनमें से पहले प्राण को वश में करना चाहिये।"

—योगकुण्डल्युपनिषद्

"हे सौम्य, जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ पक्षी अनेक दिशाओं में घूमकर फिर अपने बन्धन स्थान पर ही लौट आता है, उसी प्रकार यह मन भी अनेक दिशाओं में घूमकर भी कहीं आश्रय नहीं पाता और अन्त में प्राण का ही सहारा लेता है क्योंकि यह मन प्राण से ही बँधा हुआ है।"

—छान्दोग्य उपनिषद्

'योग वाशिष्ठ' आदि अन्य ग्रन्थों में भी प्राणायाम द्वारा मन का निग्रह एवं आत्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होने का प्रतिपादन किया गया है।

यथा:—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनःप्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते।

—योगवाशिष्ठ ५।७८।४६

"अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और तब केवल निर्वाण ही शेष रहता है।"

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः।
प्राणानिल परिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः।

—योगवाशिष्ठ ६।६६।४१

"जैसे पंखा बन्द कर देने से हवा की गति रुक जाती है, वैसे ही प्राण के निरोध से निश्चय ही मन शान्त हो जाता है।"

प्राण शक्तौ निरुद्धयां मनो राम विलीयते।
द्रव्यच्छायानु तद्द्रव्यं प्राणरूपं हिनसम्।

—योगवाशिष्ठ ५।१३।८३

"हे राम, प्राण शक्ति का निरोध होने से मन का निरोध

हो जाता है। जैसे अन्य पदार्थों की अपनी छाया होती है, वस ही प्राण की छाया मन है।"

राज्यादि मोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव।

—योगवाशिष्ठ ६।८०।३५

"हे राम, प्राणों को वश में कर लेने से मनुष्य राज्य-प्राप्ति से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक की सतस्त सिद्धि सम्पदाएँ प्राप्त कर सकता है।"

द्वे वीजे चित्त वृक्षस्य प्राणस्पन्दन वासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणेक्षिप्रं द्वे अपिनश्यतः।

—योगवाशिष्ठ

चित्त रूपी वृक्ष के दो वीज हैं—एक प्राण दूसरा वासना। इन दोनों में से एक क्षीण (सूक्ष्म) होने से दूसरा भी वैसा ही हो जाता है।"

"चले वाते चलश्चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।"

"प्राण वायु चलने से मन चंचल रहता है और प्राण के निश्चल होने पर मन निश्चल हो जाता है।"

निष्कलं तं विज्ञानीयात् श्वासोयत्र लयं गतः।
यन्मनो विलयं याति तद् विष्णोर्परम पदम्।

"छव श्वास का लय हो जाता है तो वह स्थिति निष्कल कहलाती है। मन का लय होना ही विष्णु का परमपद है।"

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्,
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्।
प्राणोमनोद्वयमिदं विलयं नयेदयो,
मोक्षं स गच्छति नरो नकथञ्चिदन्यः।

'जब तक ज्ञान कैसे प्राप्त होगा जब तक कि मन न मरेगा ? और मन के साथ साथ प्राण भी जीवित रहता है। जो प्राण और मन दोनों का विलय कर देता है, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है और कोई नहीं।

पवनोलीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ।

"जब प्राण वायु सयम में आ जाता है,तब मन भी स्थिर हो जाता है।"

प्राणवृतौ विलीनायां मनो वृत्तिर्विलीयते ।

—बोधसार

प्राणवृत्ति के विलीन होने से मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है।"

साधना में गुरु की आवश्यकता और उपयोगिता

यों सभी महत्वपूर्ण विद्याएं गुरु के माध्यम से प्राप्त की जाती हैं, पर ब्रह्मविद्या का प्रवेश-द्वार तो अनुभवी मार्ग-दर्शक के द्वारा ही खुलता है। अक्षरारम्भ यद्यपि हमारी दृष्टि में एक सामान्य सी बात है पर छोटा बालक उस कार्य को अध्यापक की सहायता के बिना अकेला ही पूर्ण करना चाहे तो नहीं कर सकता, भले ही वह कितना ही मेधावी क्यों न हो। गणित, शिल्प, सर्जरी, साइन्स, यंत्र-निर्माण आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य अनुभवी अध्यापक ही सिखाते हैं। कोई छात्र शिक्षक की आवश्यकता न समझे और स्वयं ही यह सब सीखना चाहे तो

उसे कदाचित ही सफलता मिले। रोगी को अपनी चिकित्सा कराने के लिये किसी अनुभवी चिकित्सक की शरण लेनी पड़ती है, यदि वह अपने आप ही इलाज करने लगे तो उसमें भूल होने की संभावना रहेगी क्योंकि अपने सम्बन्ध में निर्णय करना हर व्यक्ति के लिये कठिन होता है।

अपनी निज की त्रुटि, अपूर्णता बुराई, स्थिति एवं प्राप्ति के बारे में कोई विरला ही सही अनुमान लगा सकता हैं। जिस प्रकार अपना मुँह अपनी आंखों से नहीं देखा जा सकता; उसके लिये दर्पण की या किसी दूसरे से पूछने की सहायता लेनी पड़ती है, तभी कुछ जान सकना सम्भव होता है, उसी प्रकार अपने दोष-दुर्गुणों का, मनोभूमि का, आत्मिक-स्तर का एवं प्रगति का भी पता अपने आप नहीं चलता, कोई अनुभवी ही इस सम्बन्ध में विशेषण कर सकता है और उसी के द्वारा उद्धार एवं कल्याण का मार्ग-दर्शन किया जा सकता है। जिसने कोई रास्ता स्वयं देखा है, कोई मंजिल स्वयं पार की है, वही उस रास्ते की सुविधा-असुविधाओं को जानता है, नये-पथिक के लिये उसी की सलाह उपयोगी हो सकती है। बिना किसी से पूछे स्वयं ही अपना रास्ता आप बनाने वाले सम्भव है मंजिल पार करलें, निश्चित रूप से उन्हें कठिनाई बहुत उठानी पड़ेगी और देर भी बहुत लगेगी। इसलिये जब तक सर्वथा असम्भव ही न हो जाय तब तक मार्ग-दर्शक की तलाश करना ही उचित है। उसी के सहारे अध्यात्मिक यात्रा सुविधापूर्वक पूर्ण होती है।

भौतिक शिक्षाओं के शिक्षक अपने विषय की जानकारी देकर अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हैं, पर अध्यात्म-मार्ग में इतने से ही काम नहीं चल सकता। वहाँ शिक्षा ही पर्याप्त नहीं, वरन् गुरु द्वारा दिया हुआ आत्मबल भी दान या प्रसाद रूप में उपलब्ध

करना पड़ता है। जिस प्रकार कोई रोगी चिकित्सक की शिक्षा मात्र से अच्छा नहीं हो सकता, उसे चिकित्सक से औषधि भी प्राप्त करनी पड़ती है, उसी प्रकार सच्चे गुरु न केवल आत्म-कल्याण का मार्ग बताते हैं वरन् उस पर चल सकने योग्य साहस, बल और उत्साह भी देते हैं। यह देन तभी सम्भव है जब गुरु के पास अपनी संचित आत्म-सम्पदा पर्याप्त मात्रा में हो। इसलिये गुरु का चयन और वरण करते समय उसकी विद्या ही नहीं आत्मिक-स्तर और तप की संग्रहीत पूँजी को भी देखना पड़ता है। यदि यह सभी गुण न हों तो कोई व्यक्ति आध्यात्म-मार्ग का उपदेष्टा भले ही कहा जा सके पर गुरु नहीं बन सकता। गुरु के पास साधना, तपस्या, विद्या एवं आत्मबल की पूँजी पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिये। साधक को ऐसा गुरु तलाश करना पड़ता है और उसी के मार्ग दर्शन में अपना रास्ता बनाना पड़ता है।

गुरु की महत्ता एवं योग्यता, शिष्य की पवित्रता एवं कुपात्रता, गुरु के प्रति भक्ति-भावना रखना, उनके आदर्श का अनुसरण करना आदि आवश्यक तथ्यों पर उपनिषदों में अनेक प्रसंग मिलते हैं। वे सभी माननीय एवं विचारणीय हैं। देखिये :—

"वेद सम्पन्न आचार्य, ईश्वर भक्त, मत्सरता रहित, योग-ज्ञाता, योग-निष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मा में विशेष रूप से लीन इन लक्षणों से युक्त गुरु कहा जाता है। 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार। और 'रु' शब्द का अर्थ है—रोकने वाला। अन्धकार को दूर करने से गुरु होता है।

गुरु ही परब्रह्म है। गुरु ही परमगति है। गुरु ही

पर विद्या है। गुरु ही परायण योग्य है। गुरु ही पराकाष्ठा है। गुरु ही परम धन है। वह उपदेष्टा होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है।"

—अद्वयतारक उपनिषद्

"जो इन्द्रियों को जीतने वाला, ब्रह्मचारी गुरुभक्त हो, उसी के सम्मुख यह रहस्य प्रकट करना उचित है।"

—हंसोपनिषद्

जो शिक्षा प्राप्त करके भी मन, कर्म, वचन से भी गुरुजनों का आदर नहीं करते, उनके अन्न को कोई कल्याण-इच्छुक स्वीकार नहीं करता। न गुरुजन और न यती ही उस कृतघ्नी के अन्न को खाते हैं। गुरु ही परम धर्म है। गुरु ही परमगति है। जो उनका सम्मान नहीं करता, उसकी विद्या, तपस्या सभी धीरे-धीरे ऐसे क्षीण हो जाती है जैसे कच्चे घड़े में जल। जैसी भक्ति देव में वैसी ही गुरु में होने से ब्रह्मज्ञानी परमपद को प्राप्त करता है ऐसा वेदानुशासन हैं, ऐसा ही वेद-विधान है।"

—शाट्यायनीयोपनिषद्

"गुरु जो आदेश दे उसका पालन शिष्य को बिना विचारे संतोषयुक्त भाव से करना चाहिए। इस विद्या को गुरु से प्राप्त करें। गुरु की सदा सुश्रुषा करें इसी से मनुष्य का सच्चा-कल्याण होता है।………श्रुति में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात हरि है, कोई अन्य नहीं। यह विद्या उसी को देनी चाहिए जो गुरु का सच्चा भक्त हो, नित्य भक्ति परायण रहे। अन्य किसी को नहीं देनी चाहिए। यदि कोई देगा तो देने वाला नरक को जायगा और सिद्धि भी नहीं मिलेगी।"

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

"इस पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुये महाशास्त्र को चाहे जिस किसी को न देना चाहिये । नास्तिक, कृतघ्न, दुर्वृत्त, दुरात्मा, दाम्भिक, नृशंस, शठ, असत्यभाषी को इसे कदापि न दे। जो सुव्रतधारी, सच्चा-भक्त, शुद्धवृति वाला, सुशील, गुरुभक्त, शमदम वाला, धर्मबुद्धि वाला, ब्रह्मचर्य में चित्त लगाने वाला भक्ति-भावना वाला हो, कृतघ्न न हो उसी को इसे देना चाहिये । यदि ऐसा न मिले तो किसी को न देकर उसकी रक्षा करनी चाहिए ।"

—शरभोपनिषद्

,,यह ज्ञान शंकर का महान शास्त्र है। उसे जो कोई नास्तिक, कृतघ्नी, दुराचारी, दुरात्मा हो, उसको नहीं देना। पर जिसका अन्तःकरण गुरु-भक्ति से शुद्ध हो, ऐसे व्यक्ति को एक महीना, छै महीना या वर्ष भर तक परीक्षा करने के उपरान्त ही इस शास्त्र को देना ।"

—तेजोबिन्दु उपनिषद्

"यह ब्रह्म का उपनिषद् उसे नहीं देना चाहिये जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष पास न रहा हो। अनजान कुलशील वाले को भी नहीं देना चाहिये और न सुनाना चाहिये । जिसको परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान ही गुरु के ऊपर परमभक्ति हो उसी के लिये ये वाक्य कहे गये हैं और ऐसी आत्मा को ही ये प्रकाशवान करते हैं।"

—सुवाल उपनिषद्

अन्य ग्रन्थों में भी इस सम्वन्ध में वहुत कुछ कहा गया है। वह भी महत्वपूर्ण नहीं है। गुरु की महत्ता को प्रायः सभी धर्म ग्रन्थों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

उत्तिष्ठत ! जागृत ! प्राप्यवरान निरोधक।

— ऋग्वेद

"उठो, जागो, सद्-गुरुओं द्वारा यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करो।"

गुरुपोदेशतो ज्ञेयं नच शास्त्रार्थ कोटिभिः।

"केवल शास्त्रों के आधार पर नहीं, इस विद्या को गुरु द्वारा सीखे।"

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम्।

"उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये वेदज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर जावे।"

गुरु वरण करने का तात्पर्य उस व्यक्ति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़ देना है। जिस प्रकार किसी वड़े तालाव के साथ छोटे तालाब को एक नाली के द्वारा जोड़ दिया जाय तो वड़े तालाव का पानी छोटे में भी आने लगता है और वह तव तक नहीं सूखता जव तक कि वड़ा तालाव भी नसूख जाय।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्म विद्याम्।

—मुण्डक १।२।१३

वह ज्ञानी-गुरु उस श्रद्धा पूर्ण, शान्त चित्त एवं तितीक्षा और साधना निष्ठ शिष्य को ब्रह्म-विद्या का उपदेश करे जिससे वह अविनासी सत्स्वरूप आत्मा को जान ले।

गुरु शिष्य चाहे शरीर से सदा पास-पास न रहें पर यदि वह सम्बन्ध उचित अध्यात्म विज्ञान के अनुरूप हुआ है तो शिष्य को गुरु की समीपता उपलब्ध रहेगी और वह उसकी समीपता एवं संगति का फल प्राप्त करता रहेगा। गुरु की क्षमता यह होनी ही चाहिये कि वह शिष्य के अन्तःकरण तक अपनी प्रेरणा पहुँचा सकने में समर्थ हो। इसी शक्ति के आधार पर सद्-गुरु अपने शिष्य का कल्याण कर पाते हैं:—

दर्शनध्यान संस्पर्शान् मत्सी कूर्मी च पक्षिणीं।

शिशून् पालयते नित्यं तथा सज्जन संगतिः।

"जिस प्रकार मछली, कछवी तथा चिड़िया अपने बच्चों का दर्शन, ध्यान और स्पर्श से पालन करती है, उसी प्रकार सत्यपुरुषों की संगति से भी शिष्य का पालन होता है।"

यादृशैः सन्निवसति यादृशांश्चोपसेवते।
या दृगिच्छेच्चभवितुं तादृग्भवति पुरुषः॥

"जो जिसके साथ रहता है, जिसकी सेवा करता है और जो जैसा होना चाहता है वह वैसा ही हो जाता है।"

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वास्तेनमेव।
वासो यथा रंग वशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति।

—महा०शान्ति २९९।३२

"कपड़े जैसे रंग से रङ्ग जावें वैसे ही हो जाते हैं। ऐसे ही जो व्यक्ति संत, असंत तपसी, चोर या जैसों का संग करता है, वह वैसा ही हो जाता है।"

राजसूय यज्ञ करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पर विचार विमर्श करते हुये युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण जी से कहा—

केचिद्ध सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते।
स्वार्थ हेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत।
प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनियद्धितम्।
एवं प्रायाश्चदृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने।
त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् रागद्वषौनिरस्य च।
परमं यत् क्षम लोके यथावद्‌वक्तुमर्हसि।

—महाभारत

"कुछ लोग सौहार्दवश दोषों को नहीं कहते, अन्य लोग स्वार्थवश केवल प्रिय ही बोलते हैं तथा कुछ लोग अपने विषय में हित एवं प्रिय विषय ही श्रवण करना चाहते हैं, अतः तद्-नुरूप ही सुझाव देते हैं। प्रयोजन आने पर प्रायः ऐसे ही जनवाद देखे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी न किसी संकोच स्वार्थ या भावना के वशीभूत होकर प्रायः योग यथार्थ की अपेक्षा करके प्रिय ही बोलना जानते हैं त्रुटियों की ओर वे इंगित नहीं कर पाते। किन्तु भगवान् ! तुम तो समस्त हेतुओं से परे रहकर रागद्वेष को दूर भगाकर जो परम समुचित एवं यथार्थ बात है, वही यथावत् बोलते हो। अतः बिना तुम्हारे परामर्श के मैं इतना बड़ा कार्य कैसे करस कता हूँ ?"

बुद्धिमान व्यक्ति भी कई अध्यात्म प्रसंगों पर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं, तब उन्हें उचित मार्ग दर्शन सद्-गुरु द्वारा ही होता है युधिष्ठिर इस तथ्य को जानते थे इसलिये उन्होंने राजसूय

यज्ञ का प्रसंग आने पर श्रीकृष्ण जी से उसके लिए आवश्यक मार्ग दर्शन मांगा। ऐसा ही मार्ग दर्शन अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुरूप सर्व साधारण को भी प्राप्त करना होता है ऐसे अवसरों पर सुलझे हुए विचारों का तथा अध्यात्म और व्यवहार का समन्वय कर सकने वाला अनुभवी मार्ग दर्शक अभीष्ट होता है। उनके सहयोग और परामर्श से शिष्य अनेक समस्याओं को हल करता हुआ अभीष्ट लक्ष तक जा पहुंचता है।

निमज्यां मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्ह ढेवाप्सु मज्जताम्

—श्रीमद्भागवत

"जैसे जल में डूबते हुओं को नाव ही एक मात्र सहारा है, वैसे ही इस भवसागर में डूबने से बचने के लिये ब्रह्मवेत्ता सन्तों का ही सबसे बड़ा सहारा है।"

दुर्लभो विषयेत्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनं।
दुर्लभो सहजावस्था सद्गुरोःकरुणांविना।

"विना गुरु कृपा के विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्व-दर्शन दुर्लभ है तथा सहजावस्था का प्राप्त होना भी दुर्लभ है।"

आत्मज्ञान की उपलब्धि, पापपूर्ण मनोभूमि का परिशोधन, भ्रम संशयों का उच्छेदन, प्रगति के लिये मार्ग दर्शन, यह सब कार्य उनके लिये सरल ही हो जाते हैं जिन्हें अनुभवी सद्-गुरु की प्राप्ति होजाय। इसके विना अध्यात्म-मार्ग के पथिक को अन्धकार में ही भटकते रहना पड़ता है।

गुरुपदेशशास्त्रर्थै विना चात्मा न बुध्यते।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी।

--योगवाशिष्ठ ६।४।।१६

"शास्त्र के अध्ययन और गुरु के उपदेश बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी जिज्ञासु, शास्त्राध्ययन और सद्गुरु इन तीनों के संयोग से ही आत्मज्ञान प्रकाश में आता है।

आचार्या द्वै विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापत्

"आचार्य के बिना पराशक्ति स्वरूपा ब्रह्म विद्या स्वधिष्ठित होती ही नहीं।"

मन्त्र, साधना विधान, स्वाध्याय और संयम का जैसा महत्व है वैसा ही गुरु के सहयोग का भी है। उचित मार्गदर्शन से आधी कठिनाई तो स्वयमेव हल हो जाती है। इस लिये गुरु को भी एक प्रकार से मंत्र एवं देवता ही माना गया गया है।

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थ वाचकाः।
तथा मंत्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचकाः।

"जिस प्रकार घट, कलश, कुंभ एक ही वस्तु के कई नाम हैं, उसी प्रकार मन्त्र, देवता और गुरु एक ही तत्व के नाम हैं।"

पन्थानो बहवः प्रोक्ता मन्त्र शास्त्र मनीषिभिः।
स्वगुरोर्मतयाश्रित्य शुभं कार्यं न चान्यथा ॥

"बहुत से मार्ग हैं, अनेक मन्त्र एवं शास्त्र हैं पर अपने गुरु के मतानुसार मार्गालम्बन करने से ही शुभ होता है। इसके विपरीत नहीं।"

अनेक कोटि मंत्राणि चित्त व्याकुल कारणम्।
मंत्र गुरोः कृपा प्राप्तमेकं स्यात् सर्वसिद्धिदम् ॥

"अगणित मन्त्र तो चित्त की व्याकुलता के कारण ही सिद्ध होते हैं। गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ एक मन्त्र ही सर्व सिद्धियाँ प्रदान करता है।"

गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकारों ने बताया

है कि सच्चा गुरु वही है । जो शिष्य की समस्याओं का समाधान कर सके । देखिये:—

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः
"जो धर्म का उपदेश करे उन्हें गुरु कहते हैं ।"
गिरत्यज्ञान मिति गुरुः
"जो अज्ञान को दूर करें, वे गुरु है ।"
अविद्या हृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवेत् ।
तयेव गुरुरित्यागुरु शब्देन योगिनः ।

—शङ्कराचार्य

"जो हृदय की अज्ञान ग्रन्थि को खोलें उन्हें गुरु कहते हैं।"

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरु रुच्यते ।

—मनु २।१४२

"जो स्वयं कर्तव्य कर्मों में संलग्न हो और दूसरों को भी वैसी ही प्रेरणा दे ऐसे ब्राह्मण को गुरु कहते हैं, ।"

आत्मा को अपने ही विचारों और तर्कों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसके लिये सुयोग्य मार्गदर्शक गुरु का होना कितना आवश्यक है, इस सम्बन्ध में 'महोपनिषद् में' वर्णित शुकदेव जी का प्रसग और कठोपनिषद् का प्रमाण मननीय है--

नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ ।

कठ १।२।९

"यह आत्म-बुद्धि तर्क से नहीं मिलती । हे श्रेष्ठ, दूसरे के द्वारा कही जाने पर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है ।"

शुकदेव जी के अन्त-करण में स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हुआ था। पर उससे काम न चला। इस सम्बन्ध में 'महोपनिषद्' अध्याय २ में इस प्रकार वर्णन मिलता है—

जात मात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्।
तेनासौ स्व विवेकेन स्वमेव महामनाः।
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्।

"उन शुकदेव जी को विना गुरु के उपदेश के ही स्वतः आत्मज्ञान हुआ था। उनकी वासनाएं स्वतः निवृत्त हो गई थीं। परन्तु वह ज्ञान दृढ़ न होने के कारण उनके मन को शान्ति नहीं हुई। उन्हें अपने ज्ञान में विश्वास नहीं हुआ। इसलिए अपने पिता व्यास जी के आदेश से उन्हें जनक के पास ज्ञान ग्रहण करने जाना पड़ा।"

यह भी ध्यान रखने की वात है कि सत्पात्र श्रद्धालु और विश्वासी शिष्य ही गुरु कृपा का लाभ उठा सकता है। जिसमें यह गुण नहीं उस ऊसर भूमि में किसी भी गुरु का वोया हुआ ज्ञान-बीज नहीं जम सकता है। गुरु के एक पक्षीय प्रयत्न से भी शिष्य का कल्याण नहीं हो सकता। दोनों ही पक्षों की श्रेष्ठता से गुरु-शिष्य संयोग का सच्चा लाभ मिलता है। कहा भी है:—

गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुपादृते।
उष्ट्रं दान्तं वलीवर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ।

—योगवाशिष्ठ ५।४३।१६

"यदि गुरु किसी अविचारी और पुरुषार्थहीन का उद्धार कर सकते होते तो ऊँट हाथी बैल आदि का उद्धार क्यों न करते?"

आज कोई गुरु वनने की फिकर में है। क्योंकि इससे गुरु वनने वाले को शिष्य से पूजा, सम्मान, आदर और दक्षिणा मिलते रहने से धन का लाभ भी होता है और अपने अहङ्कार की तृप्ति भी होती है। इसलिये लोगों ने शिष्य मूँडना, कान फूंकना भी एक व्यवसाय वना लिया है। पर वस्तुतः यह कार्य हर किसी का नहीं है। जिसमें इतना चरित्र तथा आत्मवल हो कि अपना ही नहीं शिष्य का भी कल्याण कर सके, उसे ही यह महान उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लेने का साहस करना चाहिये। गुरु की योग्यता इस प्रकार की होनी चाहिये:—

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्व शास्त्रार्थ तत्ववित्।
परोपकार निरतो जप पूजादि तत्परः।
अमोघ वचनः शान्तोवेद वेदार्थ पारगः।
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः।
इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुरागम सम्मतः।

—शारदातिलक

"जो असली माता-पिता से पैदा हो सदाचारी हो, शुद्ध भावना वाला हो, इन्द्रियाँ जिसके वश में हों, जो समस्त शास्त्रों के सार को जानता हो, परोपकारी हो, जप पूजा आदि उपासनाओं में संलग्न हो, जिसकी वाणी अमोघ हो, शान्त हो, वेद और वेदार्थ का पारदर्शी हो, योगमार्ग में जिसकी प्रगति हो, जो हृदय में देवता के समान हो, इस प्रकार के गुण जिसके स्वभाव में हों, वही शास्त्र सम्मत गुरु वनाने योग्य है।"

ऐसे गुरु ही अपने द्वारा दीक्षित शिष्य का हित-साधन कर सकते हैं। कहा भी है :—

य: समः सर्व भूतेषु विरागो वीत मत्सरः।
कर्मणा मनसा वाचा भीतेचाभयदः सदा ।।
समबुद्धिपदं प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मयः।
पञ्चकाल परश्चैव पाञ्चा रात्रार्थ वित्तथा ।।
विष्णु तत्वं परिज्ञाय एकं चानेक भेदगम्।
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वा किं पुनश्चोपसन्नतान् ।।

—तत्वसार

"जो समस्त प्राणियों को समान मानते हैं, राग-द्वेष रहित हैं, मन-कर्म वचन से दूसरों के दुख को दूर करने में रत्त हैं, जिनकी बुद्धि सम है, जो भगवन्मय हैं, जो नित्य कर्म में सावधान हैं, भगवत् तत्व को जानते हैं, वे शरणागत अधिकारी शिष्य को ही नहीं सारी पृथ्वी को दीक्षित कर सकते हैं।"

शास्त्रों में दस श्रेणी के व्यक्तियों को गुरु कहा गया है—

उपाध्यायः पितामाता ज्येष्ठो भ्राता महीपति
मातुलः श्चसुरश्चैव मातामह पितामहो।
वर्ण ज्येष्ठः पितृव्यश्च सर्वे ते गुरुवः स्मृताः।।

—कौर्य० उत्तरा० १२।२६

"उपाध्याय, पिता-माता, बड़ाभाई, राजा, मामा श्वसुर, नाना, बावा, ब्राह्मण ये दस गुरु कहे गये हैं।"

किन्तु इन सब में आचार्य श्रेणी के गुरु की महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित की गई है :—

आचार्य श्रेष्ठो गुरुणाम्

—गौ० ध० सू १।३।५६

गुरुओं में आचार्य ही श्रेष्ठ है। आचार्य किसे कहते हैं ? उसमें यह लक्षण होने चाहिये :—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्त्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते।

—वायुपुराण

"जो शास्त्रों के उद्देश्यों (अर्थों) को जाने, स्वयं सदाचारी हो और जनता को सदाचार में लगावे उसे आचार्य कहते हैं।"

स्वयंमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यिपि।
आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेनचोच्यते

—ब्रह्माण्ड पर्व ३२।३२

"स्वयं श्रेष्ठ आचरण करे और दूसरों को वैसी ही प्रेरणा करे। शास्त्र के मर्म को जाने, उसे आचार्य कहते हैं।"

इस श्रेणी के सत्पुरुष आजकल नहीं के बराबर हैं।

मनसि वचसि काये प्रेम पीयूष पूर्णा—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रोणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून पर्वती कृत्य नित्यं
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।

—भृतहरि

"जिनका मन, वचन और काया प्रेमरूपी अमृत में भरे हैं, अपने उपकारों की बाढ़ से जो तीनों लोकों को निमग्न करते हैं, दूसरों के छोटे गुणों को भी पर्वत के समान महान मानते हैं, अपने हृदय को विकसित करते रहते हैं, ऐसे सन्त इस संसार में कितने हैं ?"

फिर भी प्रयत्न करने से किन्हीं सौभाग्यशाली व्यक्तियों

को सद्-गुरु क्षमता वाले मार्ग दर्शक भी प्रयत्न करने पर मिल जाते हैं। संसार में किसी वस्तु का पूर्ण अभाव कभी नहीं होता। कमी भले ही हो जाय।

शिष्य के भी गुरु के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। उन सव में आवश्यक कर्तव्य है सच्ची श्रद्धा और भक्ति भावना का होना। यही वह आकर्षण है जिसके वल पर शिष्य गुरु के हृदय में से आवश्यक सहायता और कृपा प्राप्त कर सकता है। यदि वछड़ा थन को चूसेगा नहीं तो गाय उसके मुख में अपना दूध उड़ेल नहीं सकेगी। जिसके मन में भक्ति भावना का अभाव है, केवल चिन्ह पूजा के लिये अथवा प्रयोजन विशेष के लिये किसी गुरु को वरण किया है तो ऐसे लोग वह प्रसाद प्राप्त नहीं कर सकते जो श्रद्धा भावना वाले शिष्य प्राप्त करते हैं।

शिष्य को आरम्भ में गुरु-भक्ति की स्थापना हृदय में करनी पड़ती है और यही आगे चलकर ईश्वर-भक्ति के रूप में परिणित हो जाती है। गुरु-भक्ति ईश्वर-भक्ति का ही प्रारम्भिक एवं स्थूल रूप है। आरम्भिक शिष्यों के लिये इसकी उपयोगिता वताते हुये कहा गया है कि :—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यार्थाः प्रकाशन्तो महात्मनः। प्रकाशन्ते महात्मनः।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।२३

"जिसके मन में परमात्मा की भक्ति के समान ही गुरु की भी भक्ति है, उसी महान आत्मा वाले के हृदय में यह ज्ञान प्रकाशित होता है। उसी के हृदय में यह ज्ञान प्रकाशित होता है।"

माता-पिता पूज्य हैं। उनके प्रति संतान का महान कर्तव्य एवं उत्तारदायित्व है, किन्तु शिष्य का गुरु के प्रति भी काम

उत्तरदायित्व नहीं है, वरन् उससे भी कुछ अधिक ही है। क्योंकि गुरु भी आध्यात्मिक जीवन को प्रदान करने वाला पितर ही है।

गुर्गरीयान् मातृतः पितृतश्चेति मे भातिः।

शा० १०८।१७

"माता-पिता से भी गुरु का स्थान ऊँचा है।"

क्योंकि—

माता पितरौ शरीरमेव काष्ठ कुंड्यादि समं जनयतः।
आचार्यस्तु सर्व पुरुषार्थ क्षम रूपं जनयति।

"माता-पिता तो लकड़ी के ढोल सरीखे इस देह को ही जन्म देते हैं पर आचार्य सब पुरुषार्थ भरे अध्यात्म रूप को ही जन्म देता है।"

अध्यात्म विद्या का प्रवेशद्वार गुरुदीक्षा है। यों भावना से भी किसी को गुरु माना जा सकता है पर दीक्षा का विशेष विज्ञान एवं महत्व है। कोई स्त्री चाहे तो भावना मात्र से भी किसी को पति मान सकती है पर यदि विधिवत् विवाह संस्कार के साथ देवताओं और गुरुजनों की साक्षी में पति वरण किया जाय तो उसका प्रभाव और महत्व दूसरा ही है। गुरुदीक्षा का भी अपना विज्ञान है। इस संस्कार के माध्यम से गुरु अपनी प्राणशक्ति की चिनगारी शिष्य के हृदय में विधिवत् स्थापित करता है। जो उचित शुभ सिंचन होते रहने से एक दिन प्रचण्ड तेजोमयी दिव्य ज्योति के रूप में प्रस्फुटित होती है। साधन-पथ के पथिकों के लिये यह प्रक्रिया आवश्यक मानी गई है :—

दीक्षां विना न मोक्ष स्यात् प्राणिनां शिव शासनात्,
सा च न स्याद विनाचार्यमित्याचार्य परम्परा ॥

उपासना शते नापि यां विना नैव सिद्धयति ।
तां दीक्षामाश्चयेद् यत्नात् श्रीगुरोर्मन्त्रसिद्धये ।।

—पिच्छिला तंत्र

'शिवजी के आवेश के कारण दीक्षा के विना किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । आचार्य परम्परा के विरुद्ध दीक्षा भी सफल नहीं होती । अनेकों प्रकार की उपासनायें हैं पर विना दीक्षा के कोई सफल नहीं होती । गुरु दीक्षा के आधार पर ही मोक्ष प्राप्त होता है ।"

दिव्य ज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम् ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तंत्र वेदिभिः ।।
दीक्षा मूलं जपं सर्वं दीक्षा मूलं परं तपः ।
दीक्षामाश्रित्य निवसेद्यत्र कुत्राश्रमे वासन् ।
देवि दीक्षा विहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन गुरुणादीक्षितो भवेत् ।।

"जिससे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और पापों का क्षय होता है, इसलिये उसे दीक्षा कहते हैं । जप का मूल दीक्षा है, तप का मूल दीक्षा है । किसी भी आश्रम में रहे दीक्षा लेकर रहे । हे पार्वती ! दीक्षाहीन को न सिद्धि मिलती है न सद्गति । इसलिये प्रयत्नपूर्वक दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ।"

ते नराः पशवो लोके किं तेषां जीवने फलम् ।
यैर्नलब्ध्वा हरेर्दीक्षा नार्चितोवा जनार्दनः ।।

—स्कन्द पुराण

"संसार में वे मनुष्य पशु तुल्य हैं, उनके जीवन में क्या लाभ ? जिनने दीक्षा लेकर भगवान् की उपासना नहीं की ।"

दीक्षाग्नि दग्ध कर्मा सौ यायाद्विच्छिन्न बन्धनः ।
गतस्तस्य कर्म बन्धो निर्जीवश्च शिवो भवेत् ।।

—कुलार्णव

"दीक्षा की अग्नि में कर्म जल जाने से बन्धन कट जाते हैं और जीव शिवत्व को प्राप्त कर लेता है।"

दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाप पद्धतिः ।
तेन दीक्षोच्यते मंत्रे स्वागमार्थ बलाबलात् ।।

—लघु कल्प सत्र

"जिससे परम ज्ञान दिया जाय और पाप प्रक्रिया नष्ट हो उसे शास्त्रों में दीक्षा कहा गया है।"

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पाप क्षयं ततः ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्वं तंत्रस्य संमता ।।

—विश्वसार

"जिससे दिव्य ज्ञान दिया जाय, और पाप क्षय हों, उसे दीक्षा कहते हैं।"

ददाति दिव्यं भावञ्चेत् क्षिणुयात् पाप संततिम् ।
तेन दीक्षेति विख्याता मुनिभिस्तंत्र पारगैः ।।

—गौतमीय तंत्र

"जिसके द्वारा दिव्य भाव दिया जाय और पाप शृङ्खला टूटे, उसे मुनियों ने दीक्षा कहा है।"

रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत् ।
दीक्षा विद्धस्तथैवात्मा शिवत्वंलभते प्रिये ।।

—कुलर्णव

"जिस प्रकार रसायन विधि से साधारण धातु स्वर्ण बन जाती है, उसी प्रकार दीक्षा विधान से साधारण आत्मा भी शिवत्व को प्राप्त करती है।"

अनीश्वरस्य मर्त्यस्य नास्तित्राता यथा भुवि।
तथा दीक्षा विहीनस्य नेहस्वामी परत्र च॥

—दत्तात्रेय यामल

"दीक्षा विहीन मनुष्य का इस लोक और परलोक में कहीं कल्याण नहीं।

यथा कूर्मः स्वतनयान्ध्यान मात्रेण पोषयेत्।
वेध दीक्षोपदेशस्तु मानसः स्यात्तथाविधः॥

—कुलार्णव

"जिस प्रकार कछुआ अपने बच्चों का ध्यान मात्र से पोषण करता है, उसी प्रकार गुरु भी अपनी मनः स्थिति से शिष्य की मनःस्थिति का पोषण करता है, इसे वेध-दीक्षा कहते हैं।"

अध्यात्म मार्ग के पथिकों के लिये मार्ग-दर्शक का चुनाव एवं वरण करना आवश्यक है। यह कार्य विधि-विधान के साथ सम्पन्न किया जाय तो ही उसका समुचित लाभ भी मिलता है। गुरुदीक्षा का यही तत्वज्ञान है।

उपनिषदों में देव-उपासना

उपनिषदों में वर्णित साधना विधान में देव-उपासना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जहाँ आत्म चिन्तन, ब्रह्मध्यान, मनोनिग्रह, विवेक वैराग्य आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है

वहाँ अनेक देवताओं की उपासना के भी विधि-विधानों एवं महत्वों की चर्चा हुई है। कई उपनिषद् देवताओं के नाम पर ही हैं, उसमें प्रतिपादित देवता के गुण धर्म एवं उपासना के प्रतिफल विस्तारपूर्वक बताये गये हैं। उच्च मनोभूमि के साधक वेदान्त की अद्वैत साधना में संलग्न रहें एवं उससे कुछ नीची श्रेणी के साधक देव-उपासना द्वारा अभीष्ठ काम्य-प्रयोजनों की भी पूर्ति करते रहें, ऐसा अभिमत उपनिषद्कारों का रहा है।

सूर्य, शिव, गणेश, नृसिंह, गरुड़, हनुमान, कृष्ण, राम, राधा, सीता, सरस्वती, लक्ष्मी, काली, त्रिपुरा आदि देवी देवताओं की उपासना का उद्देश्य क्या है और उनका क्या प्रतिफल प्राप्त होता है, उसका वर्णन उन देवताओं के प्रयोजन से बने हुए उपनिषदों में हुआ है। यह देवपूजा विशेषतया लौकिक प्रयोजनों के लिये की जाती है। पीछे अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए साधक ब्रह्म प्राप्ति के परम श्रेयस्कर लक्ष की ओर अभिमुख हो जाता है। देव-उपासना भी परमात्मा के एक रूप विशेष की ही पूजा है और उससे सीमित उद्देश्य की पूर्ति भी होती है। देव-उपासना के परिणामों की कुछ चर्चा नीचे देखिये:—

"एक बार कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा—मैंने सूर्य की उपासना की, इससे तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू सूर्य की किरणों का सब ओर से आवर्तनकर, उन सबके रूप में ॐकार का चिन्तन कर, इससे निश्चय ही तेरे बहुत पुत्र होंगे।"

—छान्दोग्य, पंचम खंड

"सूर्य नारायण का अष्टाक्षर मंत्र नित्य जपने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है। सूर्य की ओर मुख करके जाप करने से घोर

रोगों से छुटकारा मिलता है, दरिद्रता दूर होती है, पाप दूर होते हैं। प्रातःकाल पाठ करने से भाग्यवृद्धि होती है। उसे पशु, धन आदि के साथ ही वेदार्थ ज्ञान की उपलब्धि भी होती है। सूर्य के हस्त नक्षत्र पर रहते हुये इसका जप करने वाला महामृत्यु से पार होता है।"

—सूर्योपनिषद्

"चाक्षुषी विद्या नेत्र रोगों का नाश करने वाली तथा नेत्रों को तेजयुक्त करने में समर्थ है। इसका विनियोग नेत्र रोगों के शमनार्थ होता है।

—चाक्षुषोपनिद्

"गणपति का अभिषेक करने वाला वक्ता बन जाता है। चतुर्थी तिथि को उपवास करके जो इसे जपता है वह विद्यावान होता है, ऐसा महर्षि अथर्वण का कथन है। इस मन्त्र द्वारा तप करने वाले को कभी भय नहीं लगता। दूर्वा के अंकुरों द्वारा गणपति का यजन करने वाला कुबेर के समान धनवान होता है। लाजाओं द्वारा यज्ञ करने वाला यशस्वी होता है। सहस्र मोदकों द्वारा यजन करने वाला इच्छित फल पाता है। जो घृत और समिधा से यज्ञ करता है, उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। सूर्य ग्रहण के समय किसी महानदी या प्रतिमा के निकट बैठ कर जप करे तो मन्त्र सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा साधक विघ्नों से भी छुटकारा पा लेता है।

—गणपत्युपनिषद्

"एक समय मृत्यु, पाप और संसार से सब देवता अत्यन्त भयभीत हुए और भागकर प्रजापति की शरण में पहुँचे। ब्रह्मा जी ने उन्हें भगवान नृसिंह का मन्त्र बताया देवताओं ने

इस मन्त्र की सिद्धि द्वारा 'मृत्यु पर विजय प्राप्त करली । वे सब पापों से मुक्त हो गये और संसार रूपी समुद्र को भी लांघ गये । अतः जो मनुष्य मृत्यु, पाप और भवसागर से भय मानता हो, वह इस नृसिंह मन्त्र की शरण ग्रहण करे ।"

—नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्

"प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—प्रणव, यजुर्लक्ष्मी, गायत्री और नृसिंह गायत्री ये सब मन्त्रराज के अङ्गभूत मंत्र हैं । इनका ज्ञाता ऐश्वर्य प्राप्ति के साथ ही अन्त में अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ।"

—नृसिंहपूर्व तापनीयोपनिषद्

"जो व्यक्ति नृसिंह मन्त्र का नित्य प्रति जप करता है, वह अग्नि की गति रोकने में भी समर्थ होता है वह वायु की भी गति रोक देता है । सूर्य चन्द्रमा की गति तथा जल के प्रवाह को रोक देता है । वह सब ग्रहों की गति रोक सकताहै, सब देवताओं को स्तंभित कर सकता है तथा विष का भी स्तंभन कर सकता है ।..........सब देवताओं, यज्ञों तथा नागों को आकर्षित कर लेता है । मनुष्य भी उसकी ओर खिचते हैं तथा सभी उससे आकर्षित रहते हैं ।"

—नृसिंहपूर्व तापनीयोपनिषद्

नृसिंह सबका कल्याण करने वाले हैं । ये ही विष्णु हैं । ये ही सर्वतोमुख हैं । ये ही उग्र वीर एवं तुरीय हैं । ये ही महान् ज्वलन और भीषण हैं । ये ही कल्याण स्वरूप हैं तथा ये ही मृत्यु के लिये भी मृत्यु हैं । ये ही 'नमामि' पद के लक्ष्यार्थ तथा अहम' पद के आश्रयभूत हैं—......महान् ज्वलन्, उग्र, वीर, भीषण,सर्वतोमुख, कल्याणमय नृसिंह रूप यह

सब कुछ ब्रह्म ही है...............अतः जो ब्रह्म को भय रहित एवं उपरोक्त गुणों से सम्पन्न जानता है वह ज्ञानी भय रहित होता है और ब्रह्म ही बन जाता है।"

—नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्

"जो इस नरसिंह चक्र को जानता है, वह सभी वेदों का अध्ययनकर्त्ता समझा जाता है। वह सभी यज्ञों का कर्त्ता समझा जाता है। उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। वह सर्वत्र शुद्ध हो जाता है। सब की रक्षा करता है। भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, वेताल आदि भयङ्कर योनियों का नाश करने वाला भी वह होता है और सब प्रकार निर्भय हो जाता है।"

—नरसिंहषटचक्रोपनिषद्

मनुष्यो ! इन भगवान नीलकंठ का दर्शन करो। यही भगवान रुद्र हैं, जो जल में, औषधियों में निहित होकर रोग रूप पापों को नष्ट करते हैं। यह प्राणियों के लिए प्राण रूप हैं। तुम्हारे अमङ्गल को नष्ट करने के लिये और अप्राप्त कामनाओं को पूर्ण कराने के लिये तुम्हारे निकट पधारें।"

—नीलरुद्रोपनिषद्

"जो इस विद्या का अमावस्या के दिन अध्ययन करता है, उसे सारे जीवन भर सांप नहीं काटते।............मन से ही विष को मुक्त किया जा सकता है।"

—गरुड़ोपनिषद्

"जो कवित्व, भोग, निर्भयता अथवा मोक्ष की इच्छा करता हो वह इन मन्त्रों के द्वारा भगवती सरस्वती की भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति करे। भक्ति और श्रद्धा सहित विधिपूर्वक पूजा करने वाला, नित्य स्तुति करने वाला भगवती की कृपा शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। वह दूसरों से सुने विना भी ग्रन्थों के अर्थों को समझने वाला होता है।"

—सरस्वती रहस्योपनिषद्

"इस सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् की साधना से साधक अग्निपूत और वायुपूत होता है। वह सब धन-धान्य, स्त्री, पुत्र, हाथी, अश्व, गौ, भैंस, सेवक आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर ज्ञानी बनता है और अन्त में परम पद को प्राप्त करता है।"

—सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्

"सर्वाङ्ग सुन्दरी त्रिपुरा देवी का देह रूप गुहा में स्थित काम, रूप, कला का ध्यान करके मनुष्य काम रूप हो जाता है और कामनाएँ पूर्ण करता है। इस कामोपभोग संस्कारों से फिर जन्म धारण करने पड़ते हैं। अतः मोक्ष के इच्छुकों को यह कामो-उपासना नहीं करनी चाहिये।"

—त्रिपुरोपनिषद्

देवता और उनकी सिद्धि साधना

इस सृष्टि का उत्पादक, पोषक, संहारक, कर्ता-हर्ता—एक परमात्मा ही है। उसे ही अनेक नाम से पुकारते हैं। "एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ती" उस एक ही सत् परमात्मा को विद्वानों ने वहुत प्रकार से कहा है।

सृष्टि में अनेकों प्रक्रियाएँ चलती हैं। उनकी संचालक शक्तियां भी अनेक हैं। यद्यपि वे सभी परमात्मा की ही शक्तियाँ हैं पर उनकी गतिविधियों की प्रथकता के अनुरूप उनके नामकरण अलग-अलग किये गये हैं। सूर्य एक ही है पर उसकी अनेक किरणें अपने गुण धर्म की प्रथकता के कारण अल्टा वायलेट, अल्फा वायलेट, एक्सरेज आदि अनेक नामों से पुकारी जाती हैं। मनुष्य शरीर एक ही है पर उसके विभिन्न अंगों का उपयोग और स्वरूप भिन्न-भिन्न होने के कारण उन अंगों के नाम भी पृथक-पृथक हैं। शरीर को जो कार्य करना होता है वह अपने तदनुकूल अंग से ही उसे पूरा कराता है।

ईश्वर के विराट स्वरूप से अंग प्रत्यंगों को उसकी क्रिया-किरणों को देवता नाम से पुकारते हैं। यह देवता अपने-अपने कार्य क्षेत्र में उसी प्रकार संलग्न रहते हैं जिस प्रकार किसी सरकार के अनेक मन्त्री एवम् अफसर अपने अपने विभाग को संभालते हुये राजतन्त्र का संचालन करते हैं।

देवताओं की सत्ता पृथक से दृष्टिगोचर होते हुये भी वे वस्तुतः एक ही विराट ब्रह्म के अवयव मात्र हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व भासता तो है पर है नहीं। लहरें और बबूले जल के ही अंग हैं। विविध देवताओं का जहाँ स्वरूप और गुण धर्म शास्त्रकारों ने वर्णन किया है वहां यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वे सब वस्तुतः एक ही परमात्मा के अंग-प्रत्यंगमात्र हैं। कहा गया है कि :—

एकं सद्विप्रा बहुता वदन्ति

—ऋग्वेद ६।३।२२।४६

उस एक ही परमात्मा को विद्वान लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं।"

एकं सन्तं वहुधा कल्पयन्ति।

"उस एक ही अनेक रूपों में कल्पना की गई है।"

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम्।
स संज्ञा यांति भगवानेक एक जनार्दनः।

—विष्णु पुराण १।२।६६

"वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्पादन, पालन और संहार करता है। उसी के ब्रह्मा, विष्णु, महेश नाम हैं।"

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्

—एतरेय १।१।१

"यह आत्मा एक ही था!"

एकमेवाद्वितीयम्

—छान्दोग्य ६।२।१

"वह एक ही है, दो नहीं।"

एकैव सा महाशक्तिस्तया सर्वं मिदं ततम्।

"वह एक ही महाशक्ति है। उसी से यह सारा विश्व आच्छादित है।"

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन

—शिव पुराण

"तव (सृष्टि के आदि में) अकेका रुद्र ही था और कोई नहीं।"

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचंद्रमाः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः

—यजु० ३२।१

"यह परमात्मा ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, और वरुण है।"

तमादि देवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम्
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्राह्मणं केचिदुच्यते

—बृहन्नारदीय पुराण १।२।५

"उस अनादि, अजर परमात्मा कोई शिव, कोई विष्णु, कोई ब्रह्मा कहते हैं।"

त्रिधाभिन्नोह्यहं विष्णो, ब्रह्मा विष्णु हराख्यया।
सर्गरक्षालय गुणैर्निष्कलोऽहं सदा हरे।

—शिव पुराण २।१।६।२८

"सृष्टि के उत्पादन, पालन तथा संहार के गुणों के कारण मेरे ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीन भेद हुये हैं। वस्तुतः मेरा स्वरूप सदा भेद रहित है।"

ब्रह्मा दक्षः केवेरो यमवरुणमरुद्वन्हि चन्द्रेन्द्र रुद्राः।
शैलानद्यः समुद्रा ग्रह गण मनुजा दैत्य गन्धर्वनागाः॥
द्वीपा नक्षत्र तारा रवि वसु मुनयोव्योमभूरश्विनौ च।
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु वोविश्वरूपः॥

"ब्रह्मा, दक्ष, कुवेर, यम, वरुण, मरुत, अग्नि, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, पर्वत, नदी, समुद्र, ग्रह, मनुष्य, दैत्य, गन्धर्व नाग, द्वीप, नक्षत्र, तारागण, रवि, वसु, मुनि, आकाश-पृथ्वी, अश्वनीकुमार आदि सभी जिसमें लीन हैं, उस विश्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।"

यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः।
या काली सैव कृष्णः स्याद् यः कृष्ण सैव कालिका॥
देव देवीं समुद्दिश्य न कुर्यादन्तरं क्वचित्।
तत्तद्भेदो न मन्तव्यः शिव शक्तिमयं जगत्॥

"जो ब्रह्मा है वही हरि हैं, जो हरि हैं वे ही महेश्वर हैं। जो काली है वही कृष्ण है, जो कृष्ण है वही काली है। देव और देवी को लक्ष्य करके कभी मन में भेद भाव उत्पन्न होने देना उचित नहीं है। देवता के चाहे जितने नाम और रूप हों, सभी एक हैं। यह जगत् शिव शक्तिमय है।"

विभिन्न देवताओं की अलग-अलग उपासना का तात्पर्य परमात्मा की उस शक्ति से सम्बन्ध स्थापति करना है जो साधक के अभीष्ट प्रयोजन से सम्बन्धित है। जैसे समस्त प्रजा एक ही राजा के राज्य में रहती है तो भी उसे अलग-अलग प्रयोजनों के लिये अलग-अलग विभागों के दफ्तरी एवं कर्मचारियों के पास जाना पड़ता है। देव उपासना का भी यही प्रयोजन है। साधक अपनी आवश्यकता और आकांक्षा के अनुरूप उनमें से समय समय पर इन देवताओं का अंचल पकड़ता है और छोड़ता रहता है।

किस देवता की आराधना किस प्रयोजन के लिये किस प्रकार करनी चाहिये इसका वर्णन और साधना शास्त्रों में विस्तारपूर्वक मिलता है। श्रीमद्भागवत में भी इस प्रकार का प्रसंग आता है:—

ब्रह्मवर्चसमामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रिय कामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥
देवीं यायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान्वीर्य कामोऽथ वीर्यवान्॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्ग कामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टि काम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठा कामः पुरुषो रोदसी लोक मातरौ॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान्स्त्रीकामोऽप्सर उर्वसीम्।

आधिपत्य कामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ।।
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।
विद्या कामस्तुगिरिशं दाम्पत्यार्थ उमाँ सतीम् ।।
धर्मार्थं उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन्पितृन्यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्य जनानोजस्कामो मरुद्गणाम् ।।
राज्य कामो मनून्देवान् निर्ऋतिंत्वभिचरन्यजेत् ।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम् ।।

—श्रीमद्भागवत २।३।२—९

"ब्रह्मतेज की इच्छा वाले को ब्रह्मा की, इन्द्रिय भोगों के लिये इन्द्र की, सन्तान के लिये प्रजापति की, सौभाग्य के लिये दुर्गा, की तेज, के लिए अग्नि की धन के लिये वसुओं की, वीर्य के लिए रुद्र की, अन्न के लिए अदिति की, स्वर्ग के लिए आदित्यों की, राज्य के लिये विश्वेदेवों की, लोक प्रियता के लिए साध्यगण की, दीर्घायु के लिए अश्विनी कुमारों की पुष्टि के लिये बसुन्धरा की, प्रतिष्ठा के लिए अन्तरिक्ष की, रूप के लिए गन्धर्वों की रमणी के लिये उर्वशी की, आधिपत्य के लिए प्रजापति की, यश के लिए यज्ञ की, कोश के लिए वरुण की, विद्‌या के लिए शंकर की, दाम्पत्य के लिये गौरी की, धन संचय के लिये नारायण की, कुटुम्ब वृद्धि के लिए पितृगण की, रक्षा के लिए यज्ञों की, बल के लिये मरुद्गण की, अभिचार के लिए राक्षसों की, भोगों के लिए चन्दमा की, और जिसे कोई इच्छा न हो वह परमात्मा की उपासना करे।"

यह देव शक्तियां विभिन्न आकार प्रकार में चित्रित की गई हैं। इनकी आकृतियां, आयुध, वाहन, आदि का भी स्वरूप दिखाया गया है पर वस्तुतः इस सब का आधार ध्यान-विद्या का विज्ञान है। किस प्रकार से ध्यान करने पर कौन-सी

देव शक्ति को साधक अपनी धारणा में अवतीर्ण कर सकता है, इस सूक्ष्म विज्ञान के ज्ञाता बहुत खोज करने पर ही प्राप्त हो सकते हैं।

देव उपासना में जहाँ विधि-विधान और कर्मकाण्ड का महत्व है वहाँ श्रद्धा और विश्वास की सुदृढ़ भावना का होना भी आवश्यक है। उथली श्रद्धा के साथ, केवल कौतुक, कौतूहल समझकर, मन्त्र या देवता की परीक्षा के लिए कुछ आधा-अधूरा साधन कर लेने से समुचित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिए गहरी श्रद्धा और पूर्ण विश्वास का होना अपरिहार्य है। इस श्रद्धा-विश्वास को ही (अमृत) कहते हैं। इसी को पीकर देवता तृप्त एवं प्रसन्न होते हैं। उपनिषद् में इसी प्रकार का वर्णन आता है:—

न वै देवा अश्नन्ति, न पिवन्त्येत देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।

—छान्दोग्य ३।६।१

"देवता न तो खाते हैं, न पीते हैं। केवल अमृत को देख कर तृप्त रहते हैं।"

उपासक केवल विधि-विधान की लकीर पीट रहा है या वह 'अमृत' भी अर्पण कर रहा है, इसकी परीक्षा के लिए कई वार देवताओं की ओर से साधना काल में लोभ और भय के अवसर उपस्थित किए जाते हैं। दुर्बल मनोभूमि का साधक उस परीक्षा में विचलित हो जाता है, फलस्वरूप अभीष्ट सिद्धि से उसे वंचित रहना पड़ता है।

यों देवता सर्वव्यापी है पर उनका सबसे निकटवर्ती निवास स्थान अपनी 'देह' ही है। इस मानव शरीर में सभी देवता निवास करते है। विभिन्न अंग प्रत्यङ्गों में विभिन्न

देव-शक्तियों का निवास है। इसलिए साधक को अपना शरीर एवं मन इस योग्य बनाना होता है कि वहां निवास करने वाली देव शक्तियाँ जागृत होकर अपनी सजातीय महाशक्ति को सूक्ष्म जगत में से आकर्षित न कर सकें। आहार-विहार, व्रत, संयम, उपवास, ब्रह्मचर्य एवं विविधि तपश्चर्याओं द्वारा शरीर में रहने वाली देव शक्तियों को शुद्ध करना भी अभीष्ट सिद्धि के लिए आवश्यक है। 'एतरेयोपनिषद्' में कहा गया है:—

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशना पिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एन मब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठित्ता अन्न मदामेति।

—एतरेयोपनिषद् १।२।१

"परमात्मा ने अग्नि आदि सब देवता उत्पन्न किए और इन्हें इस संसार में भेजा। उन्हें भूख और प्यास से युक्त कर दिया। तब वे देवता परमात्मा से बोले—हमारे लिए स्थान की व्यवस्था कीजिए जहां रहकर हम अपना आहार प्राप्त कर सकें।"

ताभ्यः पुरुषमामयत्ता अब्रुवन् सुकृतं वतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽयतनं प्रविशतेति।

—एतरेयोपनिषद् १।२।३

"परमात्मा ने उनके लिए मनुष्य का शरीर उपस्थित किया। तब देवताओं ने कहा—बस, हमारे लिए यह बहुत सुन्दर स्थान बन गया। यह सचमुच ही बड़ी सुन्दर रचना है। तब परमात्मा ने कहा—अब तुम लोग अपने लिए इसमें उचित स्थान ढूंढलो और उसी में प्रवेश कर जाओ।"

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुःप्राणो भूत्वा नासिके प्राविश-दादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधि वनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशं श्चचन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ।

—एतरेयोपनिषद् १।२।४

"अग्नि ने वाणी बनकर मुख में प्रवेश किया। वायु प्राण बनकर नासिका में रहने लगा। सूर्य ने नेत्र बनकर आँखों में स्थान ग्रहण किया। दिशा-देवता ने कर्णेन्द्रिय बनकर कानों में, वनस्पति देवता ने रोम बनकर त्वचा में, चन्द्रमा ने मन बनकर हृदय में, यम ने अपान वायु बनकर नाभि में और वरुण देवता ने वीर्य बन कर शिश्नेन्द्रिय में प्रवेश किया।"

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभि प्रजानीहीति। ते अब्रवी देतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येता सुभागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनाया पिपासे भवतः।

—एतरेयोपनिषद् २।२।५

"तब भूख और प्यास परमात्मा से बोलीं—हमारे लिये भी स्थान दीजिए। उनने उत्तर दिया तुम्हें इन देवताओं में ही प्रविष्ट किये देता हूँ। तुम्हें इन्हीं का भागीदार बनाता हूं। यह देवता तुम्हारे ही द्वारा अपनी-अपनी हवि ग्रहण करेंगे। तुम दोनों उन्हीं की भागीदार रहोगी।"

शरीर में निवास करने वाले देवताओं को भूख, प्यास के माध्यम से ही पोषण मिलता है। अर्थात् जैसा कुछ हम खाते पीते हैं, उसी के अनुरूप देव शक्तियां सशक्त एवं दुर्बल होती हैं।

सात्विक खान-पान देव-तत्वों को पुष्ट करता है, और आसुरी तमोगुणी आहार करने से, मद्य-मांस सेवन करने से देवता दुर्बल हो जाते हैं। यह देवता केवल मुख के द्वारा ही आहार नहीं लेते वरन् प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा उसकी उचित-अनुचित प्रक्रयाओं के आधार पर वे देवता पुष्ट एवं असक्त बनते हैं। जो अपनी इन्द्रियों का दुरुपयोग करता है, उनके द्वारा अनैतिक आचरण करता है, अग्राह्य को ग्रहण करता है तो शरीरवासी देवता असक्त हो जाते हैं, फिर विधि-विधान एवं मन्त्र प्रक्रया भी वैसा फल नहीं देती जैसी शरीर में पुष्ट देव-स्थिति होने पर दिया करती है। इसलिये देव उपासकों को इन्द्रिय-संयमी, सदाचारी, होना और आहार-विहार की शुद्धता का भी भरपूर ध्यान रखना आवश्यक है।

साधक यदि अपने शरीर-देवताओं को परिपुष्ट रखे और श्रद्धा, विश्वास पूर्वक नियत विधि-विधान के साथ साधनाकरे तो देव वरदान का वही लाभ हो सकता है जो शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा } **श्रीराम शर्मा आचार्य**
अषाढ़ सुदी ३०, सम्वत् २०१८

१०८ उपनिषद्

(साधना–खण्ड)

—ॐ—

योगचूड़ामण्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निरकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों, वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र बल और सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद् ब्रह्मरूप हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुये मुझको उपनिषद् धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

योगचूड़ामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः॥१॥
आसनं प्राणसंरोध-प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥२॥

एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ।
षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम् ॥३॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ।
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥४॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदयं द्वादशारकम् ।
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥५॥

ॐ। योगियों की हित कामना से 'योगचूड़ामणि' उपनिषद् को कहता हूँ। यह कैवल्यपद और सिद्धियों का प्रदाता है और योगवेत्ताओं द्वारा सेवित (अभ्यासित) है ॥ १ ॥ योग के छः अङ्ग कहे गये हैं—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। आसनों में प्रथम सिद्धासन है, दूसरा पद्मासन है। षटचक्र, षोडश आधार और पाँच आकाशों को जो अपनी देह के भीतर नहीं देखता, उसको सिद्धि कहाँ हो सकती है ? इनमें आधार चक्र (मूलाधार) चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान में छः दल हैं, नाभि में दश दल वाला और हृदय में बारह दल वाला पद्म है, फिर सोलह पंखुड़ियों वाला विशुद्ध चक्र है और भ्रकुटियों के मध्य दो दल का चक्र है ॥२—५॥

सहस्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि ।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥६॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ।
कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥७॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ।
तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥८॥
नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित् ।
तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥९॥

त्रिकोणं तत्पुरं वन्हेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।
समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।।१०।।

ब्रह्मरंध्र के महापथ में सहस्र दल-कमल है। प्रथम चक्र 'आधार' है और दूसरा स्वाधिष्ठान है। यह योनि स्थान में दोनों के मध्य में स्थित है और 'कामरूप' कहा जाता है। 'काम' नाम का चार दल का कमल गुदा स्थान में है। उसके मध्य में सिद्धों द्वारा वन्दना की गई 'काम' नाम की योनि है और उसके मध्य में पश्चिम की तरफ मुख वाला महालिङ्ग स्थित है ।।६—८।। नाभि में मणि के समान आकार वाले (मणिपुर) को जो जानता है, वही योगी है। तप्त सुवर्ण के समान चमक वाला, विद्युत धारा के सदृश्य सुप्रकाशित, तीन कोण युक्त वह्नि का स्थान मेढ़ के नीचे स्थित है। वहां पर समाधि में विश्वतोमुख अन्नत परमज्योति दिखाई देती है ।।९—१०।।

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते ।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ।।११।।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ।
तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ।।१२।।
तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।।१३।।
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्वं न विन्दति ।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।।१४।।
तत्र नाड्यः समुत्पन्ना सहस्राणिः द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रे पुद्विसप्ततिरुदाहृता ।।१५।।

योगाभ्यास द्वारा उसे देख लेने पर आवागमन से छुटकारा हो जाता है। प्राण को 'स्व' कहा जाता है और यह स्वधिष्ठान के

आश्रय में रहता है । स्वाधिष्ठान के आश्रय में होने से उसे मेढ्र भी कहा जाता है । यही तागे में पिरोए हुये मणि के समान सुषुम्ना-नाड़ी का केन्द्र है ॥१२॥ नाभि- मण्डल में रहने वाला यह चक्र मणिपूरक कहा जाता है । इस बारह दल वाले और पाप-पुण्य से रहित चक्र में जब तक जीव तत्वज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक उसे संसार में भ्रमण ही करना पड़ता है । मेढ्र से ऊपर और नाभि के नीचे वाले केन्द्र में पक्षी के अण्डे की आकार वाली योनि है । उसी स्थान से बहत्तर हजार नाड़ियां उत्पन्न हुई हैं, जिनमें से बहत्तर प्रधान कही गई हैं ॥१३—१५॥

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ।
इडा च पिंगला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा ॥१६॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥१६॥
एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।
इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥१८॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे तु दक्षिणे ॥१९॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा ।
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥२०॥

इनमें से भी दश प्राण वाहिनी नाड़ियाँ मुख्य मानी गई हैं—इडा, पिंगला और तीसरी सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी दशवीं है ॥१५—१७॥ नाडियों का यह महाचक्र योगियों के लिये सदैव ज्ञातव्य है । इनमें इडा बायीं तरफ और पिंगला दाहिनी तरफ रहती है । इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना का स्थान है । गान्धारी बांए नेत्र में, हस्तिजिह्वा दायें नेत्र में रहती है । पूषा दायें कान में और यशस्विनी बांयें कान में

रहती है । अलम्बुसा मुख में कुहू लिंग्रेन्द्री में तथा शङ्खिनी मूल स्थान में है ।। १८—२० ।।

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात् ।
इडापिङ्गलसौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ।।२१।।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ।।२२।।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।
हृदि प्राणः स्थिती नित्यमपानो गुदमण्डले ।।२३।।
समानो नाभि देशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ।।२४।।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।।२५।।

इस प्रकार क्रम से शरीर के विभिन्न द्वारों में एक-एक करके समस्त नाड़ियाँ स्थित हैं और इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना प्राण-मार्ग में स्थित रहती है ।।२१।। सोम (चन्द्र) सूर्य और अग्नि देवता प्राण को सदैव गतिमान रखते हैं । प्राण, अपान, समान व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय से वायु तथा उपवायु हैं । इनमें प्राण, वायु हृदय में स्थित रहता है और अपान गुदा स्थान में । समान नाभि देश में, उदान कण्ठ में, व्यान सर्व शरीर में—ये पाँचों प्रधान वायु हैं ।।२२—२४।। उद्गार (डकार) में नाग, उन्मीलन (पलक बन्द करना) में कूर्म, छींकने में कृकर, जँभाई लेने में देवदत्त को जानना चाहिये ।।२५।।

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजय ।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ।।२६।।
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलित कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तया जीवो न तिष्ठति ।।२७।।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणामार्गभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥२८॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ॥२९॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानेन कर्षति ॥
ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥३०॥

धनंजय वायु ऐसा सर्वव्यापी है कि मृत्यु के पश्चात भी नहीं छोड़ता । इन समस्त नाड़ियों में जीव भ्रमण करता रहता है ॥२६॥ जिस प्रकार हाथ से फेंकी हुई गेंद इधर-उधर जाती रहती है, उसी प्रकार प्राण भी प्राण और अपान वायुओं के वेग से स्थिर नहीं रह पाता ॥२७॥ प्राण और वायुओं के वशीभूत होकर जीव ऊपर और नीचे दौड़ता रहता है और वाम तथा दक्षिण मार्गों से भी आता जाता है, पर गति में अधिक शीघ्रता होने से वह दिखाई नहीं देता ॥२८॥ जिस प्रकार रस्सी से बँधा हुआ श्येन (पक्षी) जाता है और पुनः खींच लिया जाता है, उसी प्रकार गुणों के बन्धन में पड़ा जीव प्राण और अपान वायुओं से खींचा जाता है ॥२९॥ प्राण और अपान की शक्ति से जीव निरन्तर ऊपर नीचे आता जाता है । अपान प्राण को खींचता है और प्राण अपान को खींचता है । जो योगवित् है वह इनके ऊपर नीचे जाने को समझता है ॥३०॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥३१॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ॥३२॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥३३॥
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जयः ॥३४
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ।
कुण्डलिन्यां समुद्भता गायत्री प्राणधारिणी ॥
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥३५

यह जीव (प्राणवायु) 'ह'कार ध्वनि से बाहर आता है और 'स'कार ध्वनि से भीतर जाता है और इस प्रकार वह सदैव 'हंस-हंस' मन्त्र का जप करता रहता है ॥ ३१ ॥ इस तरह एक दिन रात्रि में जीव इक्कीस हजार छः सौ मन्त्र सदैव जपता है ॥ ३२ ॥ इसका नाम 'अजपा गायत्री' है, जो योगियों के लिए मोक्ष-प्रदायक है, इसके संकल्पमात्र से सब पापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ३३ ॥ न इसके समान कोई विद्या है, न इसके समान कोई जप है और न इसके समान कोई ज्ञान भूत या भविष्यत काल में हो सकता है ॥ ३४ ॥ कुण्डलिनी में उत्पन्न हुई यह गायत्री प्राण-धारिणी प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इसको जानता है वही वेदज्ञ है ॥३५॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ॥३६
ब्रह्मद्वारमुख नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ॥३७
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वन्हियोगेन मनसा मरुता सह ॥३८
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥३९

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वाऽथ पद्मासनं
गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चरयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥४०

कन्द के ऊर्ध्वभाग में कुण्डलिनी शक्ति आठ कुण्डलों में व्याप्त है और वह वहीं पर ब्रह्मद्वार को ढककर सदैव स्थित रहती है ॥ ३६ ॥ जिस ब्रह्मद्वार से निष्पाप होकर जाना पड़ता है, उसी द्वार को मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति सोई हुई है ॥ ३७ ॥ वन्हियोग से जागृत होकर मन और प्राण सहित वह सुषुम्ना में होकर सुई के समान ऊपर की ओर चलती है ॥ ३८ ॥ जैसे घर के द्वार को कुञ्जी द्वार खोलते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी शक्ति द्वारा मोक्ष के द्वार का भेदन करे ॥ ३९ ॥ हाथों को संपुटित करके, पद्मासन को दृढ़तापूर्वक लगाकर, ठोड़ी को छाती पर लगाकर, ब्रह्म का ध्यान करते हुए बारम्बार वायु को ऊपर खींचे और फिर बाहर निकाल दे। इस प्रकार करने से मनुष्य को विशेष शक्ति का अनुभव होता है ॥४०॥

अंगानाँ मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥४१
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेतसिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥४२
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थां शावशेषितः ।
भुञ्जते शिव संप्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥४३
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढ़ानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥४४

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलवन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ।।४५

इस अभ्यास में श्रम होने से जो पसीना निकले उसको शरीर में ही मर्दन कर लेना चाहिये, भोजन में कटु, खट्टे, नमकीन पदार्थों का त्याग करके दूध का आहार विशेष रूप से करना उचित है ।।४१।। जो योगी ब्रह्मचारी, मिताहार करने वाला और योग-परायण होगा, वह एक वर्ष में सिद्धि प्राप्त कर सकेगा इसमें सन्देह नहीं ।।४२।। उसे स्निग्ध और मधुर आहार करना चाहिये और उदर का चौथाई भाग खाली रखना चाहिये । जो भगवान का ध्यान रखते हुये भोजन करता है वह मिताहारी कहा जाता है ।।४३।। कन्द के ऊर्ध्वभाग में जो आठ कुण्डलों युक्त कुण्डलिनी शक्ति है वह मूढ जनों के लिये बन्धन रूप और योगियों के लिए सदैव मोक्ष प्रदायिका है ।।४४।। जो योगि महा मुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाण, जलंधर-बन्ध और मूलबन्ध को जानता है वह मुक्तिभाजन होता है ।।४५।।

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलवन्धो यमच्यते ।।४६
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलवन्धनात् ।।४७
ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओडि्डयाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ।।४८
उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभिर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे वन्धस्तत्र वन्धो विधीयते ।।४९
वध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो वन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।।५०

ऐड़ी से दृढ़तापूर्वक दबाकर योनि स्थान को दृढ़ रूप से संकुचित करे तथा अपान वायु को ऊपर की तरफ आकर्षित करे तो यह मूलबन्ध कहलाता है ॥४६॥ इससे अपान और प्राण-वायु एक हो जाते हैं और मूत्र तथा मल घट जाता है। जो व्यक्ति सदैव इस बन्ध का अभ्यास करता है वह वृद्ध होने पर भी युवा हो जाता है ॥४७॥ जिस प्रकार एक महापक्षी विश्रान्ति के लिए उड्डियाण करता है, उसी प्रकार उड्डियाण अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी के लिये सिंह के समान ही है ॥४८॥ उदर से नाभि के नीचे तानना पश्चिमतान कहा जाता है। उड्डियाण बन्ध भी उदर में होता है और इसको वहीं किया जाता है ॥४९॥ जो नीचे की तरफ जाने वाले आकाश और जलतत्व को शिर में ही स्थिर रखता है, ऐसा जालन्धर बंध दुःख और कष्ट समूह का नाश करने वाला है ॥५०॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ दुःखौघनाशने ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥५१
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥५२
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥५३
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
बध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥५४
चित्तं चरति खे यस्माजिह्वा चरति खे यतः ।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥५५

जालन्धर बन्ध के करने में जो कंठ का संकोचन किया जाता , उससे अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और वायु भी नहीं दौड़ता अर्थात् स्थिर हो जाता है) ॥५१॥ जिह्वा को लौटकर कपाल

कुहर में प्रविष्ट करने और दोनों भौंहों के बीच दृष्टि स्थिर करने से खेचरी मुद्रा होती है ॥५२॥ इसका साधन करने से न रोग, न मरण न भूख और न क्षुधा का भय रहता है। जो खेचरी मुद्रा को जानता है उसे मूर्छा भी नहीं होती ॥५३॥ वह रोग से कभी पीड़ित नहीं होता और न कर्मों में लिप्त होता है। जो खेचरी को जानता है उसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता ॥५४॥ जिस खेचरी मुद्रा के साधन से चित्त आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी आकाश में विचरण करती है, उसको सिद्ध नमस्कार करते हैं ॥५५॥

विन्दुमूलशरीराणि सिरा यत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥५६
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षीयते विन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥५७
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥५८
ज्वलितोऽपि यथा विन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥५९
स पुनर्द्विविधो विन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा।
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥६०

पैर से लेकर सिर तक के समस्त अङ्गों का पोषण करने वाली सिराओं का आधार विन्दु है ॥५६॥ जिसने खेचरी मुद्रा द्वारा जिह्वा के ऊपर विवर (कपाल कुहर) को बन्दकर लिया है, उसका विन्दु (वीर्य) फिर किसी तरह नष्ट नहीं हो सकता, रमणी के आलिंगन पर भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ता ॥५७। जब तक देह में वीर्य स्थित है तब तक मृत्यु का क्या भय है ? और जब तक खेचरी मुद्रा बंधी हुई है तब तक बिन्दु नहीं जाता ॥५८॥ यदि बिन्दु निकलकर अग्निकुण्ड को प्राप्त हो

जाए, तो भी योनि मुद्रा द्वारा शक्तिपूर्वक उसे रोक कर ऊर्ध्वगामी किया जा सकता है ॥५६॥ यह बिन्दु दो प्रकार का होता है, एक सफेद और दूसरा लाल, सफेद का नाम शुक्ल और लाल का नाम महारज कहा जाता है ॥६०॥

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः ।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥६१
बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥६२
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः ।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥६३
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥६४
शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राऽभिधीयते ॥६५

रज का स्थान सिन्दूर के समान चमकने वाला रवि-स्थान है और शुक्र का चन्द्र स्थान है, इन दोनों का संयोग होना बड़ा कठिन होता है ॥६१॥ बिन्दु ब्रह्मा है और रज शक्ति है, बिन्दु चन्द्रमा रूप है तथा रज सूर्य रूप है इन दोनों के संगम से परम पद की प्राप्ति होती है ॥६२॥ जब वायु द्वारा चालित रज बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है तब देह दिव्य हो जाती है ॥६३॥ शुक्ल चन्द्र से और रज सूर्य से संयुक्त है, जो इनकी एकता को, विषय को समझता है वह योग को जानने वाला है ॥ ६४ ॥ अब महामुद्रा को बतलाते हैं, जिससे नाड़ी जाल का शोधन, चन्द्र सूर्य का चलाना और रस का सुखाना होता है ॥ ६५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचये—
देतद्व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥६६

चन्द्रांसेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्सेत्पुनः ।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसा सर्वेऽपि नीरसाः ।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥३८

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥६९

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥७०

ठोड़ी को छाती पर रखकर, बाँये पैर से योनि स्थान को देर तक दबाकर, दांये पैर को सीधा फैला दोनों हाथों से भली प्रकार पकड़े। तब दोनों कुक्षियों (बगलों) में श्वास भरे और फिर धीरे-धीरे उसका रेचन करे, यह सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने वाली महामुद्रा कही जाती है ॥ ६६ ॥ पहले चन्द्र अंश (बांयी नासिका) से अभ्यास करे फिर सूर्य अंश (दांयी नासिका) से अभ्यास करे। जब दोनों की संख्या समान हो जाय तब अभ्यास का बन्द करदे ॥ ६७ ॥ इस मुद्रा के प्रभाव से पथ्य-अपथ्य ही नहीं, सब प्रकार का नीरस भोजन भी रसवान बन जाता है, अधिक खाया हुआ और तीव्र विष भी अमृत के समान बन जाता है ॥ ६८ ॥ क्षय, कोढ़, गुदावर्त (भगन्दर) गुल्म, अजीर्ण और आगे होने वाले समस्त रोग महामुद्रा के अभ्यास से शमन हो जाते हैं ॥ ६९ ॥ मनुष्यों को महासिद्धि देने वाली जो यह महामुद्रा यहाँ बताई गई है,

इसको प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये, चाहे जिस किसी को न बतलाना चाहिये ॥ ७० ॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम् ॥७१

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म । तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयं ज्योतिरात्मिका । आत्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । तेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति । तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः । राजसो ब्रह्मा सात्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति । एते त्रयो गुणयुक्ताः । ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव । धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः । एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते । तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम् । ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते । ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्रणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते । गुणत्रययुक्तं कारणम् । सर्वेषा मेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्रः । तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजसप्राज्ञात्मानश्चेति ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः ॥७२

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर, सीधा बैठकर, शरीर और शिर को सीधा रखकर, नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर अव्यय

ओंकार का जप करना चाहिये ॥ ७१ ॥ ॐ नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, निरञ्जन, नाम रहित, अनादि, मृत्यु स्वरूप, एक तुरीय, भूत, भविष्य-वर्तमान में अविच्छिन्न रहने वाला जो परब्रह्म है, उसी से स्वयं-ज्योति रूप पराशक्ति उत्पन्न हुई है। आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई. आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। इन पञ्च महाभूतों के पांच प्रति (स्वामी) सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा हैं। इनमें से ब्रह्मा उत्पत्ति, विष्णु स्थिति और रुद्र प्रलय के करने वाले हैं। ब्रह्मा रजोगुण युक्त, विष्णु सतोगुण वाले और रुद्र तमोगुण वाले हैं। ब्रह्मा देवताओं से प्रथम उत्पन्न हुए। ब्रह्मा सृष्टि रचने के लिये, विष्णु सृष्टि का पालन करने के लिये, रुद्र नाश करने के लिये और चन्द्रमा भोगों के लिये सबसे पहले हुये। इनमें से ब्रह्मा से लोक, देव, तिर्यक, नर और स्थावर की उत्पत्ति होती है। इनमें से मनुष्यों का शरीर पञ्चभूत से मिलकर बनता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान, विषय प्राण आदि पञ्च वायु, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—ये सब स्थूल रूप में कल्पे हुये हैं और वह शरीर भी स्थूल प्रकृति का ही कहा जाता है। ये ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान, विषय, पञ्च वायु, मन, बुद्धि, सूक्ष्म रूप में 'लिंग' कहे जाते हैं। तीन गुणों से युक्त कारण है। इससे सबके तीन शरीर होते हैं। चार अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय हैं, जिनके अधिपति विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा में चार पुरुष होते हैं। स्थूल का भोक्ता विश्व है, एकान्त का भोक्ता तैजस है, आनन्द का भोक्ता प्राज्ञ है और 'पर' सबका साक्षी रूप है ॥ ७२ ॥

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥७३
अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो

लोकास्त्रयो गुणास्त्रयोऽक्षराणि एवं प्रणवः प्रकाशते ।
अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु ।
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥७४

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकार. । हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः । कारणाव्याकृतप्नाज्ञश्च मकारः ।
अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते ।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥७५

मकारस्तामसः कृष्णो पुद्रश्चेनि तथोच्यते ।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥७६

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ।
अकारे लीयते ब्रह्मा उकारे लीयते हरिः ॥७७

मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते ।
ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञानीनामधोमुखः ॥७८

एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित् ।
अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥७९

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ।.८०

वह (पर-तत्व) सब जीवों के भोग काल में प्रथक रूप से रहता है और सब अवस्थाओं में अधोमुख रहकर आनन्द रूप है ॥ ७३ ॥ 'अ'कार 'उ'कार और 'म'कार ये तीन, तीन वर्ण, तीन वेद, तीन लोक, तीन गुण, तीन अक्षर, तीन स्वर—ये सब प्रणव द्वारा प्रकाशित होते हैं। सर्व जीवों में जाग्रत अवस्था में 'अ'कार नेत्रों में रहता है, स्वप्नावस्था में 'उ'कार कण्ठ में रहता है और सुषुप्ति अवस्था में म'कार हृदय में रहता है ॥ ७४ ॥ 'अ'कार स्थूल, विराट और विश्व है, 'उ'कार हिरण्यगर्भ, तैजस और सूक्ष्म है और 'म'कार कारण, अव्याकृत और

प्राज्ञ है। 'अ'कार राजस, रक्तवर्ण और ब्रह्मा कहा जाता है। 'उ'कार सात्विक, शुक्लवर्ण और विष्णु कहा जाता है, तथा 'म'कार को तामस, कृष्ण वर्ण और रुद्र के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार प्रणव से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति है, प्रणव में ही विष्णु की उत्पत्ति है और प्रणव से ही रुद्र उत्पन्न हुआ है। प्रणव ही परातत्व है। ब्रह्मा 'अ'कार में लय हो जाते हैं, 'उ'कार में विष्णु का लय होता है और 'म'कार में रुद्र लय होते हैं, केवल प्रणव ही प्रकाशित (स्थिर) रहता है। वह ज्ञानी में ऊर्ध्वमुख होता है और अज्ञानी में अधोमुख होता है। इस प्रकार प्रणव ही निश्चय रूप से स्थित है और उसको जानने वाला ही वेदवित् कहा जाता है। वह अनाहत रूप से ज्ञानियों में ऊर्ध्वगति होता है ॥ ७५—७९ ॥ प्रणव की यह अनाहत ध्वनि तेल की अविच्छिन्न धार और घण्टा के दीर्घ निनाद (शब्द) के समान होती है और अग्रभाग ही ब्रह्म कहा जाता है ॥ ८० ॥

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः।
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ॥८१
जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते।
सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ॥८२
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्।
सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद्ध्रुवम् ॥८३
इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते।
ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः ॥८४
भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८५

वह अग्रभाग (ब्रह्म) ज्योतिर्मय और वाणी से परे है, महापुरुष उसे सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देखते हैं, उसका जानने वाला ही वेदवित्

है ॥ ८१ ॥ जाग्रत अवस्था में दोनों नेत्रों के मध्य हंस प्रकाशित होता है। इसमें 'स'कार खेचरी रूप है और वह निश्चित रूप से 'त्वं' का पद है। 'ह'कार परमेश्वर का पद है और उससे निश्चित रूप से तत्' प्रकट होता है। जो जीव 'स'कार का ध्यान करता है वह निश्चित रूप से 'ह'कार ईश्वर) हो जाता है ॥ ८२—८३ ॥ इन्द्रियाँ जीव को बन्धन में डालती हैं, वे आत्मा को नहीं बाँध सकतीं। ममता होने में जीव रहता है और ममता के छूट जाने पर कैवल्य स्वरूप हो जाता है ॥ ८४ ॥ भूलोक, भुवःलोक और स्वर्लोक तथा चन्द्र, सूर्य और अग्नि देवता परम ज्योति स्वरूप ॐकार की मात्राओं में ही स्थित रहते हैं ॥ ८५ ॥

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रा स्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमति ॥८६
वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमति ॥८७
शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥८८
चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥८९
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥९०

क्रिया, इच्छा और ज्ञान ये तीन शक्तियाँ, ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी ये तीन मात्रायें परम ज्योति रूप ॐकार में स्थित हैं ॥ ८६ ॥ उसे वाणी से सदैव जपे शरीर से सदैव उसका अभ्यास (आचरण) करे, मन से उसका सदैव जप करे, वही परम ज्योति स्वरूप ॐकार है ॥ ८७ ॥ शुद्ध अथवा अशुद्ध अवस्था में भी जो सदैव ॐकार का जाप करता करता है, वह पाप में लिप्त नहीं

होता और संसार में कमल पत्रवत् रहता है ॥८८॥ वायु के चलित होने पर बिन्दु भी चलित होता है और वायु के निश्चल रहने पर वह भी स्थिर रहता है। बिन्दु की स्थिरता से योगी निश्चल होता है इस लिये वायु का निरोध करना ॥८९॥ जब तक देह में वायु स्थित है जब तक जीव उसे नहीं छोड़ सकता। वायु का निकल जाना ही मृत्यु है, इसलिये वायु का का निरोध करे ॥९०॥

> यावद्बद्धो मरुत् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
> यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥९१॥
> अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्।
> योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत् ॥९२॥
> षड्विंशदङ्गुलीर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
> वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते ॥९३॥
> शुद्धिमेति यदा सर्वं नाड़ीचक्रं मलाकुलम्।
> तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ॥९४॥
> बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
> धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥९५॥

जब तक देह में वायु स्थिर है तब तक जीव नहीं छूट सकता। जब तक दोनों भौंहों के बीच में दृष्टि स्थिर है तब तक काल का भय कहां? ॥९१॥ काल से बचने के लिये ब्रह्मा भी प्राणायाम परायण होते हैं, इसलिये योगियों और मुनियों को चाहिये कि प्राण के निरोध का अभ्यास करें ॥९२॥ हंस (श्वास) छब्बीस अंगुल बाहर जाता है। बायें और दाहिने मार्ग से प्राणायाम किया जाता है ॥९३॥ जब नाड़ीचक्र सब प्रकार के मलों से शुद्ध हो जाता है, तब योगी प्राणों के निरोध में समर्थ होता है ॥ ९४ ॥ योगी को बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र (बायी नासिका) से वायु को खींचना

और उसे यथाशक्ति भीतर रोककर सूर्य (दाहिनी नासिका) से बाहर निकालना ॥९५॥

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्रणायामे सुखी भवेत् ॥९६॥
स्फुरत्प्रज्वलसज्ज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥९७॥
प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत् ।
पीत्वा पिङ्गया समीरणमथो वद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः
शुद्धा न डिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः ॥९८॥
यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥९९॥
प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्ध्येत् ।
एकाश्वसमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने स्थितिः ॥१००॥

अमृत के समुद्र के समान, गौ के दूध के सदृश धवल चन्द्रमा के बिम्ब का ध्यान करता हुआ प्राणायाम करे ॥ ९६ ॥ फिर प्रज्ज्वलित ज्वाला के समान हृदय में स्थित सूर्य भगवान का ध्यान करते हुये प्राणायाम करे ॥ ९७ ॥ पहले इड़ा (बांयीं) नाड़ीं से श्वांस लेकर पिङ्गला दाहिनी से रेचक करे, फिर पिङ्गला से श्वास लेकर इड़ा से बाहर निकाल दे। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र दोनों बिन्दुओं का ध्यान (अभ्यास) करने से दो मास में नाड़ी शुद्ध हो जाती है ॥ ९८ ॥ वायु का यथेष्ठ धारण करना, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, नाद का सुनाई पड़ना, आरोग्य—ये सब नाड़ी शोधन से प्राप्त होते हैं ॥९९॥ जब तक देह में प्राणवायु स्थित है तब तक अपान को रोके। एक श्वास वाली मात्रा हृदयाकाश में ऊपर और नीचे गतिमान होती है ॥१००॥

रेचक, पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुक्तः ॥१०१॥
मात्राद्वादशसंयुक्तौ निशाकरदिवाकरौ ।
दोषाजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभि सदा ॥१०२॥
पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडषं भवेत् ।
रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते ॥१०३॥
प्रधमे द्वादशा मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥१०४॥
अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥१०५॥

रेचक, पूरक और कुम्भक ये प्रणव स्वरूप हैं, इस प्रकार का प्राणायाम द्वादश मात्रा में करना ॥ १०१ ॥ यह द्वादश मात्रा संयुक्त सूर्य और चन्द्र का प्राणायाम समस्त दोषों का नाश करने वाला है ॥ १०२ ॥ बारह मात्रा का पूरक करके सोलह मात्रा का कुम्भक करना चाहिए तब फिर दस मात्रा रेचक करना—यह ओंकार प्राणायाम कहा जाता है ॥ १०३ ॥ द्वादश मात्रा का प्राणायाम हलका है, इससे दुगुनी मात्रा वाला मध्यम है और तिगुनी मात्रा वाला उत्तम कहा जाता है ॥ १०४ ॥ हलके प्राणायाम से पसीना आता है, मध्यम से कम्पन उत्पन्न होता है, उत्तम में आसन से उठता जान पड़ता है, इस प्रकार वायु का निरोध करना चाहिये ॥ १०५ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्,
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥१०६॥
द्वाराणां नव संनिरुध्य मरुतं बद्ध्वा दृढां धारणां
नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम् ।

आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं।
यावत्तिष्ठति तावदेव महत्तां संगो न संस्तूयते ॥१०७॥
प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभि सदा ॥१०८॥
आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥१०९॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥११०॥

बद्ध पद्मासन पर बैठकर शिवरूपी गुरु को नमस्कार करना चाहिये फिर नासाग्र पर दृष्टि रखकर एकाकी प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ॥ १०६ ॥ नवों द्वारों को रोक वायु को बाँध कर दृढ़तापूर्वक शक्तिचालन करके अपान और अग्नि सहित कुण्डलिनी को ऊपर ले जाय और आत्म ध्यानपूर्वक उसे मस्तक में स्थिर करे, जब तक यह स्थिर रहे तक तक श्रेष्ठ है ॥ १०७ ॥ ऐसा प्राणायाम पाप रूपी ईंधन के लिये अग्नि स्वरूप है और संसार सागर से पार होने के लिए सेतु के समान है ॥ १०८ ॥ आसन से रोगों का नाश होता है और प्राणायाम से पापों का । योगी के मन के विकार प्रत्याहार से दूर हो जाते हैं ॥ १०९ ॥ धारणा से मन में धैर्य आता है, समाधि द्वारा अद्भुत चैतन्य की प्राप्ति होती है और इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों का नाश होकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ११० ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥१११
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥११२॥
समाधौ परमं ज्योतिरनन्त विश्वतोमुखम् ।

तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातातो न विद्यते ।।११३
संवद्ध्वाऽऽसनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वारानङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् ।
बद्ध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मनाः ।।११४
गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टाऽऽदीनां प्रवाद्याना नादसिद्धिरुदीरिता ।।११५

प्राणायाम के द्वादश वार के अभ्यास से प्रत्याहार होता है और बारह प्रत्याहार का अभ्यास करने से शुभ धारणा उत्पन्न होती है। बारह धारणा को ध्यान कहा गया है और बारह ध्यान से समाधि कहलाती है ।। ११२ ।। समाधि होने पर जो परम ज्योति अनन्त और विश्वतोमुख का भाव होता है उससे क्रिया, कर्म और आवागमन से छूट जाता है ।। ११३ ।। आसन पर बैठकर दोनों चरणों को मेढ़ स्थान में लगाकर, कान, आँख और नाक के द्वारों को अँगुलियों से बन्द करके, वायु को मुख द्वारा खींचकर भीतर ले जाय। उसे अपान के साथ मिलाकर छाती में रोके फिर मस्तक में स्थिर करे, इस प्रकार उसमें मन को संलग्न करके योगीजन समभाव के विशेप तत्व को प्राप्त करते है ।। ११४ ।। आकाश मण्डल में पवन के जाने से महान ध्वनि (नाद) सुनाई देने लगती है, घण्टा आदि का शब्द सुनने में आता है और नाद-सिद्धि होती है ।। ११५ ।।

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ।।११६
हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरः कर्णाक्षिवेदना ।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ।।११७
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।

तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥११८
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं प्रपूरयेत् ।
युक्तं युक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥११९
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥१२०
यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥१२१
इत्युपनिषत् ॥

प्राणायाम का अभ्यास होने से सब रोग दूर हो जाते हैं और प्राणायाम से रहित होने से सब रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ११६ ॥ हिचकी, खांसी, श्वांस, सिर, कान और आँख की पीड़ा आदि विविध प्रकार के रोगों का कारण वायु का विकार ही होता है ॥ ११७ ॥ जिस प्रकार सिंह, हाथी, व्याघ्र आदि को धीरे-धीरे वश में किया जाता है उसी प्रकार वायु को भी क्रमशः वश में करना चाहिये, अन्यथा वह साधक का नाश कर देता है ॥ ११८ ॥ वायु को युक्तिपूर्वक ही बाहर निकालना चाहिये और युक्तिपूर्वक ही भीतर लेना चाहिये और युक्ति से ही रोकना चाहिये, तभी सिद्धि मिलती है ॥ ११९ ॥ चक्षु आदि इन्द्रियां जो विषयों की तरफ चलती हैं उस को रोकना प्रत्याहार है ॥ १२० ॥ जिस प्रकार तीसरे प्रहर में सूर्य का प्रकाश कम हो जाता है, उसी प्रकार योगी तीसरे अङ्ग में स्थिर होकर मन के विकारों का शमन करे, यह उपनिषद् है ॥ १२१ ॥

॥ योगचूड़ामणि उपनिषद् समाप्त ॥

महोपनिषद्

ॐ आप्याय तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों, वाणी, प्राण, चक्षु श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त हों सब उपनिषद् ब्रह्मरूप हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुये मुझको उपनिषद् धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

प्रथमोऽध्यायः

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः।

तदाहुः—एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः। स एकाकी न रमेत।

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते।

तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशमहंकारस्त्रयोदश प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदश बुद्धि भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते संवत्सरादधिजायन्ते ॥१-६॥

महोपनिषद् का आरम्भ किया जाता है कि आदि में केवल एक नारायण ही थे। ब्रह्मा, रुद्र, जल, अग्नि, सो, आकाश, पृथिवी, नक्षत्र, सूर्य एवं चन्द्रमा आदि कुछ भी नहीं था। नारायण को अकेले रहना अच्छा नहीं लगा। तब उन्होंने अन्तःस्थ सङ्कल्प रूपी ध्यान किया। वह ध्यान ही यज्ञस्तोम कहा गया है। उस ध्यान से ही चौदह पुरुष और एक कन्या की उत्पत्ति हुई। वे चौदह पुरुष हैं—दस इन्द्रियाँ, तेजस्वी मन, अहङ्कार, प्राण और आत्मा। इन चौदहों के अतिरिक्त बुद्धि रूपिणी कन्या हुई। इनसे भिन्न सूक्ष्म भूत वाली पञ्च तन्मात्राएं और पञ्च महाभूत हुये। इन पच्चीसों के योग से एक पुरुष बना। उस पुरुष में विराट् पुरुष प्रविष्ट हुआ। परन्तु इस पच्चीस तत्व युक्त विराट् रूप से संवत्सरों की उत्पत्ति नहीं हुई। संवत्सर तो कालरूप संवत्सर से ही प्रकट हुये हैं ॥ १–६ ॥

अथ पुरनेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायता ततस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते बिभ्रच्छियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरसः खर्वाणि छन्दांसि तान्यंगे समाश्रितानि तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥७॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत ॥८॥

सोऽध्यातत्। पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदोऽग्निर्देवता। पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुव इति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्योदेवता। दक्षिणाभि-

मुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता ॥६॥

सहस्रशीर्ष देवं सहस्राक्षं विश्वशंभुवम् ।
विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ॥१०
विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति ।
पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे क विश्वरूपिणम् ॥११

फिर उन नारायण ने अन्य सङ्कल्पयुक्त अन्तःस्थ ध्यान किया। उनके उस ध्यान से एक ऐसे पुरुष की उत्पत्ति हुई जो तीन नेत्रों वाला था तथा वह अपने हाथ में त्रिशूल धारण किये हुये था। यश, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, वैराग्य, नियन्त्रित मन, ऐश्वर्य, प्रणव युक्त व्याहृतियां, चारों वेद और सम्पूर्ण छन्द उस सिद्ध पुरुष में समाश्रित थे। इसीलिए उसका नाम ईशान एवम् महादेव हुआ। उन प्रसिद्ध नारायण ने पुनः अन्तःस्थ ध्यान किया, उस समय उनके ललाट से पसीना टपकने लगा। वह पसीना ही जल रूप में फैल गया। उस जल में ही एक अण्डाकार हिरण्यमय तेज की उत्पत्ति हुई। उस तेज से ही ब्रह्माजी उत्पन्न हुये। ब्रह्मा जी पूर्व की ओर मुख करके भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद और अग्नि का ध्यान करने लगे। पश्चिम की ओर मुख करके भुवः व्याहृति, त्रिष्टुप छन्द, यजुर्वेद और वायु का ध्यान करने लगे। उत्तराभिमुख होकर स्वः व्याहृति, जगती छन्द, सामवेद और सूर्य का ध्यान करने लगे। फिर उन्होंने दक्षिणाभिमुख होकर महः व्याहृति, अनुष्टुप्त छन्द, अथर्ववेद और सोम का ध्यान किया। फिर उन ब्रह्मा ने सहस्रों सिर सहस्रों नेत्र वाले, सर्व मङ्गलों के कारण, सर्वत्र व्याप्त, परात्पर और नित्य स्वरूप नारायण का ध्यान किया और उन्होंने उन जगदीश्वर के क्षीर सागर में शयन करते हुए, दर्शन किये तथा यह जाना कि वही परमपुरुष विश्वरूप हैं और सम्पूर्ण संसार का जीवन इन्हीं पर अवलम्बित है ॥ ७–११ ॥

पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम् ।
हृदयं चाप्यधोमुखं संतस्तै सीत्काराभिश्च ॥१२
तस्ये मध्यं महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखम् ।
तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥१३
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः ।
स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट ॥
इति महोपनिषत् ॥१४॥

जो भले प्रकार से पद्मकोश के समान लम्बायमान एवं अधोमुख हृदय है, उससे सीत्कार शब्द निकलता रहता है। उस हृदय के मध्य में ही एक ज्वाला प्रदीप्त है। वही ज्वाला दीपशिखा के समान दसों दिशाओं में प्रकाश को बाँटकर विश्व को प्रकाशित करती है। उसी ज्वाला के मध्य में कुछ ऊपर उठी हुई एक क्षीण वह्निशिखा है। उसी शिखा में परमात्मा निवास करते हैं। वही परमात्मा ब्रह्मा, ईशान, इन्द्र हैं तथा वे अविनाशी एवम् परम स्वराट् हैं ॥ १२–१४ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः ।
जातमात्रेण मुनिराड् यत् सत्यं तदवाप्तवान् ॥१
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः ।
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्नुयात् ॥२
अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः षष्ठेन्द्रियस्थितेः ।
चिन्मात्र मेवायमणुराकाशादपि सूक्ष्मकः ॥३
चिदणोः परमस्यान्तः कोटिब्रह्माण्डरेणवः ।
उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात् ॥४

आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः ।
न किंचिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किंचन ॥५

आत्मा के परम आनन्द का निरन्तर आस्वादन करने वाले एक अत्यन्त तेजस्वी मुनीश्वर थे । उनका नाम शुकदेव था । जन्म लेते ही उन्हें सत्य एवं तत्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी । इसीलिये उन्होंने किसी की सहायता लिये विना ही, बहुत काल तक विचार करने के पश्चात् अपने ही विवेक से आत्मस्वरूप क्या है, इस पर एक निश्चित धारणा बनाई । आत्मा अनिर्वचनीय है इसलिये अगम्य है और मन रूपी षष्ठ इन्द्रिय में अवस्थित होने से यह अणु के आकार का है, चिन्मात्र एवं आकाश तत्व से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है । इस परम चिद् रूप अणु में कोटानुकोटि ब्रह्माण्ड रेणुकायें शक्ति क्रम के अनुसार उत्पन्न स्थित और विलय होती रहती हैं । यह आत्मा चिद्रूप होने के कारण आकाश रूप से भिन्न है, परन्तु बाह्य-शून्यता के कारण आकाश रूप भी है । इसके रूप का वर्णन नहीं हो सकने से यह वस्तु रूप नहीं है, परन्तु सत्ता होने से वस्तु रूप है ॥ १–५ ॥

चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः ।
स्वात्मनि व्योमनि स्वच्छे जगदुन्मेषचित्रकृत् ॥६
तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक् ।
जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः ॥७
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति ।
नास्त्यसावाश्रयाभावात् सद्रूपत्वादथास्ति च ॥८
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम् ।
सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतना यत्परिग्रहः ॥९
जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः ।
यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः ॥१०

प्रकाशात्मक होने के कारण यह चेतन स्वरूप है, परन्तु वेदनात्मक होने से शिला रूप है। अपने अन्तरतम में यह विभिन्न प्रकार के विश्व का उन्मेष करने वाला है। यह विश्व उसी का अपना प्रकाश मात्र होने से उससे भिन्न नहीं है। जो विश्वभेद आत्मा में परिलक्षित होता है, वह भी आत्मा से भिन्न नहीं है। सबसे सम्बद्ध होने के कारण उसकी गति सर्वत्र है, परन्तु उसमें गति न होने से चलता-फिरता नहीं है। निराश्रित होने से वह नास्ति रूप है, परन्तु तत्स्वरूप होने के कारण उसे अस्ति रूप मात्र हो गया है। वहीं धन देने वाले की महान गति है। आनन्द एवं विज्ञान रूप जो ब्रह्म है तथा जिसका ग्रहण सभी मानसिक सङ्कल्पों का त्याग मात्र ही है, मेधावी जन जिसकी प्रतीति जाग्रत अवस्था की प्रतीति न होने को ही कहते हैं तथा जिसके संकोच से प्रलय और विकास से सृष्टि की रचना होती है ॥ ६–१० ॥

निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः ।
अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः ॥११
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवान् शुकः ।
स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः ॥१२
इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ ।
केवलं विरराामास्य चेतो विषयचापलम् ।
भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥१३
एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितम् ।
पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥१४
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने ।
कथं च प्रशमं याति कियत् कस्य कदा वद ॥१५

जो वेदान्त वाक्यों की निष्ठा रूप तथा वाणी के लिए अकथनीय हैं, मैं उस सत् चित् एवं परमानन्द स्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं हूँ।

अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा श्री शुकदेव जी ने यह सब कुछ जान लिया और इस स्वयं उपलब्ध परम तत्व में वे निरन्तर लगे रहने वाले मन से युक्त हुये। उनके हृदय में इस प्रकार विश्वास जम गया कि यही वस्तु है, इनसे भिन्न कुछ नहीं है। जैसे धारा प्रवाह वर्षा से सन्तुष्ट हुये चातक की चञ्चलता दूर हो जाती है, वैसे ही शुकदेव जी का चित्त विभिन्न प्रकार के भोगों से उत्पन्न चञ्चलता से मुक्त होकर कैवल्य अवस्था को प्राप्त हुआ। उन शुकदेव जी ने एक बार मेरु पर्वत के निर्जन में स्थित अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन की कुटी में जाकर उनसे भक्तिपूर्वक निवेदन किया—'महामुने! इस संसार रूप प्रपञ्च की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और इसका विलय किस प्रकार होता है, यह क्या है, किसका है, इसकी उत्पत्ति कब हुई, यह सब मुझे कृपापूर्वक कहिये ॥ ११--१५ ॥

एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे ।
यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥१६॥
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः ।
स शुकः स्वकया बुद्धवा न वाक्यं वहु मन्यत ॥१७॥
व्यासोऽपि भगवान् बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम् ।
प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्वतः ॥१८॥
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे ।
यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात् सर्वमवाप्स्यसि ॥१९॥
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात् सुमेरोर्वसुधातलम् ।
विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम् ॥२०॥

शुकदेव जी की इस प्रकार जिज्ञासा देखकर आत्मज्ञानी मुनि ने सभी बातें यथावत् कहीं। परन्तु शुकदेव जी ने समझा कि यह सब बातें तो मैं पहले से ही जानता हूँ और इसने पिता की बातों पर विशेष ध्यान न दिया। उनके इस भाव को व्यास जी ने समझ लिया

और वे कहने लगे—'पुत्र मैं इन बातों को तत्वपूर्वक नहीं जानता। यदि तुम इस विषय में जिज्ञासा रखते हो तो मिथिला नरेश जनक के पास जाओ। वे इस विषय के पूर्ण ज्ञाता हैं। तुम्हें उनसे इच्छित ज्ञान की उपलब्धि होगी।' पिता के इस कथन पर शुकदेव जी मेरुपर्वत से उतरकर, समतल भूखण्ड पर आये और महाराज जनक की मिथिला पुरी में प्रविष्ट हुये ॥ १९--२० ॥

आवेदितोऽसौ याष्टीकैजनकाय महात्मने।
द्वारि व्याससुतो राजन् शुकोऽत्र स्थितवानिति ॥२१॥
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया।
उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ ॥२२॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमंगणे।
तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः ॥२३॥
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे।
राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम् ॥२४॥
तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः।
जनको लालयायास शुकं शशिनिभाननम् ॥२५॥
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः।
नाजह्रुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम् ॥२६॥
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः।
सम्पूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः ॥२७॥

शुकदेव जी को आया देखकर द्वारपालों ने महाराज जनक के पास जाकर निवेदन किया—'श्रीमान् महर्षि व्यासदेव जी के सुपुत्र श्री शुकदेव जी राज-द्वार पर खड़े हैं।' यह सुनकर राजा जनक ने अवज्ञापूर्ण कहा कि 'वे वहीं ठहरे रहें और सात दिन तक उनकी कोई खबर नहीं ली। आठवें दिन उन्हें राज-प्राङ्गाण में बुलवा कर फिर सात दिन तक उनसे बात नहीं की। इसके बाद उन्हें अन्तःपुर

के आंगन में बुलवाया, परन्तु फिर भी सात दिन तक राजा उनके समाने नहीं आये। इसके पश्चात् बाईसवें दिन उनका युवती नारियां, विभिन्न प्रकार के भोजनों और योग्य वस्तुओं द्वारा महाराज ने सत्कार किया। परन्तु सौम्यवदन शुकदेव जी के मन में उन भोगों के प्रति कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे मन्द पवन दृढ़ पर्वत को नहीं डिगा सकता वैसे ही राजा द्वारा प्रस्तुत कोई भोग साधन शुकदेव जी के मन को नहीं डिगा सकता। वे विकार रहित भाव से युक्त प्रसन्नचित्त, समभाव वाले तथा संग-दोष से रहित निर्मल पूर्णचन्द्र के समान शुभ्र तेज वाले बने रहे ॥२१—२७॥

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः
आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह ॥२८॥
निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः।
किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागतमाह तम् ॥२९॥
संसाराडम्बरमिदंकथमभ्युत्थितं गुरो।
कथं प्रशममायाति यथावत् कथयाशु मे ॥३०॥
यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना।
तदेव यत् पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया ॥३१॥
स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः।
एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥३२॥
भवताऽप्येषः एवार्थः कथितो वाग्विदां वर।
एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥३३॥
मनोविकल्पसंजातं तद्विकल्पपरिक्षयात्।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः ॥३४॥
तत् किमेतन्महाबाहो सत्यं ब्रूहि ममाचलम्।
त्वत्तो विश्रममाप्नोति चेतसा भ्रमता जगत् ॥३५॥

महाराज जनक ने इस प्रकार श्री शुकदेव जी की परीक्षा की और जब उन्हें अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण पाया तब उन्हें अपने समीप बुलाकर प्रणाम किया और उनका सौम्य सत्कार करते हुये बोले— आपने अपने सांसारिक विषयों को समाप्त कर दिया है और आप स्वयं ही पूर्ण मनोरथ हैं, कृपया बतलाइये अब आपकी क्या कामना शेष है ? इस पर श्री शुकदेव जी ने जिज्ञासु भाव से निवेदन किया—'हे गुरु श्रेष्ठ इस सांसारिक प्रपञ्च की उत्पत्ति किस प्रकार होती है और यह कैसे लय को प्राप्त होती है ? इस सम्बन्ध में मुझे यथार्थ बात शीघ्र ही बताने की कृपा करें।' इस पर जो बातें महान आत्मा महाराज जनक ने उन्हें बतलाईं, वे सब बातें उनके पिता परमज्ञानी व्यास जी पहले ही बता चुके थे। अतः शुकदेव जी ने कहा इन सब बातों को मैंने स्वयं जाना था, यही बातें मेरे पिता जी ने भी बतलाईं थीं, और आपने भी यही बातें मुझसे कही हैं और ऐसा ही शास्त्र कहते हैं। मानसिक संकल्प से प्रपंच की उत्पत्ति होती है और उस विकल्प के नष्ट होने पर प्रपंच का भी नाश हो जाता है। यह संसार निन्दनीय एवं सार-रहित है, तब यह क्या वस्तु है ? यही बात मुझे यथार्थ रूप में कहिए। मेरा यह चित्त संसार के विषय में भ्रमित हो रहा है, उसे आपके सदुपदेश द्वारा ही शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥२८–३५॥

शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया ।
श्रीशुक ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम् ॥ ३६ ॥
यद्विज्ञानात् पुमान् सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥३७॥
दृश्यं नास्तीति बोधेत मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥३८॥
अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः ।
मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एक विमलक्रमः ॥३९॥

ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥४०॥
पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ।
वासनातानवं ब्रह्मन् मोक्ष इत्यभिधीयते ॥४१॥

इस पर राजा जनक बोले—'हे शुकदेव जी ! अब मैं तुम्हारे प्रति ज्ञान को विस्तृत रूप से कहता हूं । यह ज्ञान सभी ज्ञानों का सार और सभी रहस्यों का रहस्य है जो पुरुष इसे जान लेता है, वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ।

महाराज ने कहा—'यह ज्ञान प्राप्त होने पर कि यह दृश्य जगत भ्रम है, दृश्य-विषय से मन की शुद्धि हो जाती है । जब यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है, तब निर्वाणमयी शान्ति प्राप्त होती है । त्याग वही परम श्रेष्ठ है जिसमें वासनाओं की पूर्ण समाप्ति की गई हो । यही श्रेष्ठ अवस्था विद्वानों द्वारा मोक्ष कही गई है । जो शुद्ध कामना से युक्त और अनर्थ-शून्य जीवन वाले है तथा जो जानने योग्य तत्व के ज्ञाता हैं, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहे जाते हैं, हे शुकदेव जी ! पदार्थ-भावना में दृढ़ता ही बन्धन है और वासनाओं के क्षय को ही मोक्ष कहा गया है ।३६-४१।

तपःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४२॥
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः ।
न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४३॥
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४४॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४५॥
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४६॥

अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ।
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति ।
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४७॥
संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते ।
यस्यासावजडा संवित् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४८॥
रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४९॥
मौनवान् निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५०॥
सर्वत्र विगत स्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
निरीच्छो वर्तते कार्ये जीवन्मुक्त उच्यते ॥५१॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यने ॥५२॥
यावतो दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
स येन सुष्ठु संत्यक्या स जीवन्मुता उच्यते ॥५३॥
कटवल्लवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च ।
सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५४॥
जरा मरणमापच्च राज्यं दारिद्यमेव व ।
रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५५॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःख तधा मरणजन्मनी ।
धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५६॥
उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५७॥
सर्वेच्छाः सकलाः शंकाः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५८॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदययास्तयेषु च ।

सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥५९॥
न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति ।
भुङ्क्तेयः प्रकृतान् भोगान् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६०॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६१॥
यः समस्तार्थ जालेषु व्यवहार्यपि निस्पृहः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥६२॥

जीवन्मुक्त वही है जो तप आदि साधनों के बिना, स्वभाव से ही सांसारिक भोगों से विरक्त है । समय समय पर मिलने वाले सुख अथवा दुःख में जो आसक्त नहीं होता तथा जो सुख से हर्षित अथवा दुःख से दुःखित नहीं होता, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है । ऐसा पुरुष काम, क्रोध, हर्ष, उद्वेग, शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है और अहंकारयुक्त वासना को स्वभाव से ही त्याग देता है । चित्त के अवलम्बन में जो सदा त्याग-भाव रखता है, वही जीवन्मुक्त है । जो सदा अन्तर्मुखी दृष्टि वाला, पदार्थ-आकांक्षा से रहित, किसी वस्तु की कामना या उपेक्षा से शून्य सुषुप्ति के समान अवस्था में स्थित रहने वाला है, वह जीवन्मुक्त है । जो पूर्ण पवित्र मन वाला, सदा आत्मा में लीन रहने वाला, अत्यन्त शांत अवस्था में रहने वाला, कामना और आसक्ति से रहित सदा उदासीन रहता, वह जीवन्मुक्त है । जिसका हृदय किसी पदार्थ में लिप्त नहीं रहता और चेतन संवित् स्वरूप वाला है, वह जीवन्मुक्त है । जो किसी कार्य में फलाफल की अपेक्षा नहीं करता तथा जो राग-द्वेष से रहित, सुख-दुःख से निरपेक्ष, और धर्माधर्म से निर्लिप्त है वह जीवन्मुक्त है । जिसने अहंकार के भाव का परित्याग कर दिया है, जो मान-मत्सर के विकार से मुक्त हो गया है, जो उद्वेग-रहित होकर कर्म में रत है, उसे ही ज्ञानीजन जीवन्मुक्त कहते हैं । जो मोह रहित रहकर साक्षी के समान जीवन व्यतीत करता है और बिना किसी

फल की कामना किये कर्म में लगा रहता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त ही है। जिसने धर्माधर्म और सभी कामनाओं तथा सांसारिक विषयों के चिन्तन का त्याग कर दिया है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जिसने इस दिखाई पड़ने वाले विश्वरूप प्रपंच का भले प्रकार त्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो पुरुष, खट्टे, चरपरे, कड़ुवे, मीठे, नमकीन आदि पदार्थों को स्वाद की चिन्ता किये विना अर्थात् स्वादिष्ट और स्वाद रहित तथा खराब स्वाद वाले पदार्थों को एक समान मानकर भोजन करता है, वह जीवन्मुक्त है। जो वृद्धावस्था, मृत्यु विपत्ति, ऐश्वर्य-भोग एवं दारिद्रय में समभाव रखता हुआ सब स्थितियों में संतुष्ट रहता है, वह जीवन्मुक्त है। धर्माधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म मरण में हर्ष विषाद न करने वाला पुरुष जीवन्मुक्त है। जो उद्वेग और आनन्द से रहित, शोक अथवा हर्षोत्साह से ममत्व एवं स्वच्छ बुद्धि वाला है, वह जीवन्मुक्त है। सभी इच्छाओं, शंकाओं, कामनाओं और निश्चयों को जिसने पूर्णतः त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त है। उत्पत्ति, स्थिति और विलीनावस्था में तथा उन्नति-अवनति में जो समान मन वाला है, वह जीवन्मुक्त है। जो केवल प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला आकांक्षाओं में रहित तथा किसी के प्रति द्वेष-ईर्ष्या नहीं करता, वह जीवन्मुक्त है। जो कलायुक्त होते हुये भी कला-रहित रहता है, चित्त के रहते हुये भी जो चित्त रहित बना हुआ है तथा जिसने सांसारिक विषयों का चिन्तन छोड़ दिया है, वह जीवन्मुक्त है। विश्व के सभी अर्थ-जालों के मध्य स्थिर होकर भी उसने पराये धन से निस्पृह रहने वाले धर्मात्मा के समान जो पुरुष निस्पृह रहता है, वह आत्मा में ही पूर्णता का अनुभव करने वाला महात्मा जीवन्मुक्त है ॥४२—६२॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥६३॥
विदेहनुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।

न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥६४॥
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किंचिदवशिष्यते ॥६५॥
न शून्यं नापि चाकारि न दृश्यं नापि दर्शनम् ।
न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम् ॥६६॥
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात् पूर्णतराकृतिः ।
न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च ॥६७॥
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनाधि निरामयम् ॥६८
द्रष्टृ दर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम् ।
नातः परतरं किंचिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ॥६९
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते ॥७०
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः ।
भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥७१
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
स्वरूपे तपसि ब्रह्मन् मुक्तास्त्व भ्रान्तिमुत्सृज ॥७२
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः ।
शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी संपूर्णकेवलः ॥७३

यह पुरुष काल के द्वारा शरीर के कवलित कर लिये जाने पर जीवन्मुक्त अवस्था को त्यागकर उसी प्रकार विदेह मुक्तावस्था को प्राप्त होता है जिस प्रकार गतिहीन पवन हो जाता है। विदेहमुक्त अवस्था में उन्नति, अवनति से दूर रहता है, उस समय उसका नाश भी नहीं होता। उसकी यह अवस्था सत्, असत् से परे होती है और वह दूरस्थ भी नहीं होती। उसमें अहंभाव अथवा परभाव भी नहीं होता। विदेहमुक्त अवस्था में गंभीरता और स्तब्धता होती है तथा उसमें तेज

एवं अन्धकार का भी अस्तित्व नहीं होता। उसमें अभिव्यक्त न होने वाला तथा अनिर्वचनीय सत् शेष रहता है। उसका न कोई आकार है और न शून्य ही है, वह न अदृश्य है और न दिखाई ही देता है। वह भूत आदि के समूहों से रहित तथा सत् रूप अनन्त में स्थित होता है। उस विचित्र तत्व के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी आकृति पूर्ण से भी अत्यन्त पूर्ण है। वह सत्, दोनों में से कुछ भी नहीं होता और सत् असत् दोनों के योग से भी परे है। उसमें भावना का भी अभाव होता है। वह चित्त रहित और अनन्त होता है। तथा चेतनामात्र है। वह शिवस्वरूप, जरारहित और कल्याणकारी है। आदि, मध्य और अन्त से भी परे है। वह दोषों से मुक्त तथा अनादि है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन में उसे केवल दर्शन रूप कहा गया है। हे शुकदेव जी! इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जाता है। तुम इस तत्व के स्वयं जानने वाले हुए हो और तुमने अपने पिता से भी सुना है कि संकल्प से ही जीव बंधन में पड़ता और संकल्पों का त्याग करने पर मुक्ति को प्राप्त होता है। जिस तत्व का बोध होने पर सज्जनों को सांसारिक दृश्य प्रपंचों में विरक्ति हो जाती है, उस तत्व को तुमने स्वयं ही जान लिया है। तुम पूर्ण चेतना को उपलब्ध कर पाने योग्य वस्तु को प्राप्त कर चुके हो। तुम अपने भ्रम का त्याग करो,तुम तप स्वरूप में स्वयं स्थित हो इसीलिये मुक्त भी हो। हे शुकदेव जी! तुम बाह्य तथा आन्तरिक और अत्यन्त आंतरिक दृश्य को देखते हुए भी उसे नहीं देखते, क्योंकि तुम कैवल्य स्थिति में साक्षिमात्र रूप से ही अवस्थित हो॥ ६३—७३॥

> विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि।
> वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः॥७४
> जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम्॥७५
> तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना।

देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥७६
व्यपगतकलनाकलंकशुद्धः स्वयममलात्मनि पावने पदेऽसौ ।
सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम ॥
इति महोपनिषत् ॥७७

यह सुनकर शुकदेव जी शोक, भय, संशय और श्रमादि से रहित होकर कामना-हीन होगये और परतत्व रूप आत्मा में स्थित होकर मेरु पर्वत पर चले । वहाँ वे आत्म-देश में हजारों वर्षों तक स्थित रहे और उस निर्विकल्प समाधि के द्वारा उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुई । जैसे समुद्र में जल-कण विलीन होकर समुद्र रूप हो जाते हैं, वैसे ही शुकदेव जी संकल्प रूप दोषों से मुक्त शुद्ध स्वरूप होकर वासना विहीन होते हुए पवित्र और निर्मल आत्मपद में एकीभाव को प्राप्त होगए ॥७४—७७॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीयोऽध्यायः

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः ।
विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्राऽनुज्ञातवान् स्वयम् ॥१
सार्धत्रिकोटितीर्थे स्नात्वा गृहमुपागतः ।
स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः ॥२
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः ।
प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥३
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय न ।
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ॥४
सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः ।
अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः ।
श्लिष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनया स्वया ॥५
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव ।

शाम्यतीदं कथं दुःखमिति तप्तोऽस्मि चेतसा ॥६
चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे ।
सप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥७
इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा ।
श्रीर्मुने परिमोहाय साऽपि नूनं न शर्मदा ॥८
आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभंगुरम् ।
उन्मत्त इव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीकम् ॥९
विषयाशीविषासंगपरिजर्झरचेतसाम् ।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥१०

बाल्यावस्था से ही तपकांक्षी निदाघ अपने पिता से आज्ञा लेकर तीर्थयात्रा के उद्देश्य से चल पड़े। अपनी इस यात्रा में उन्होंने साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान किया। फिर घर लौटकर. अपने पिता महर्षि ऋभु को अपनी बात सुनाते हुए कहा—'पिता जी, मैंने जिन साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान किया है, उनके पुण्य स्वरूप मेरे मन में मह विचार उत्पन्न हुए हैं कि यह विश्व उत्पन्न होता और नष्ट हो जाता है और फिर उत्पन्न होने के लिये ही नष्ट होता है। सभी चराचर जीवों की चेष्टा वाला यह प्रपंच अस्थिर है, इसका जीवन क्षण-मात्र हैं। यह ऐश्वर्ययुक्त सम्पूर्ण पदार्थ विपत्तियों के कारण हैं। यह सभी लोहे की कील के समान परस्पर पृथक रहते हुए मानसिक कल्पना रूप चुम्बक के द्वारा ही एकत्र किये जाते हैं। जैसे मार्ग चलने वाला व्यक्ति मरुभूमि में चलते-चलते विरक्त हो जाता है, वैसे ही मैं इन सब सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो रहा हूँ। क्योंकि यह मुझे दुःखदायी जान पड़ते हैं। इस दुःख से मुक्ति किस प्रकार मिलेगी, यह विचार मेरे हृदय को सन्तप्त कर रहा है। जिन धन रूप ऐश्वर्यों के कारण चिन्ताएँ चक्कर काटती रहती हैं, वे धन मेरे लिये सुख देने वाले नहीं हैं। स्त्री, पुत्र आदि सब घोर विपत्तियों के घर हैं। विश्व में उदारता की मूर्ति, अत्यन्त कोमलांगी वह लक्ष्मी जी

भी अत्यन्त मोह उत्पन्न करने वाली हैं। निश्चय ही इनके द्वारा जीव को सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे पत्ते के अग्रभाग में जो जल की बूंद लटकती है वह क्षणभंगुर है, वैसे ही मनुष्य की आयु भी क्षणभंगुर है। इसलिये असमय ही इस देह को त्याग कर मुझे उन्मत्त के समान प्रस्थान करना पड़ेगा। जिनका मन विषयरूपी सर्प के सङ्ग से जीर्ण होगया है और जिनको आत्म विवेक की प्राप्ति नहीं हुई, उनका जीवन कष्ट का ही कारण बना है ॥१—१०॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्यः च खण्डनम्।
ग्रथनं च तरंगाणामास्था नायुषि युज्यते ॥११
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥१२
तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥१३
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभा ॥१४
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः।
अशान्तस्य मनो भारं भारोऽनात्मविदो वपुः ॥१५
अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः।
अहंकारवशादीहा नाहंकारात् परो रिपुः ॥१६
अहङ्कारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम्।
तत्तत् सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥१७
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति।
मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा ॥१८
क्रूरेण जडतां याता (नः) तृष्णाभार्यानुगामिना।
वशो कौलेयकेनेव ब्रह्मन् मुक्तोऽस्मि चेतसा ॥१९
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।

अपि वह्न्यशनादह्मन् विषमश्चित्तनिग्रहः ॥२०
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥२१

वायु का लपेटना, आकाश के टुकड़े-टुकड़े करना और लहरों का गूंथना भले ही सम्भव हो जाय, परन्तु जीवन में आस्था रखना मेरे लिए सम्भव नहीं है। जिसके द्वारा पाने योग्य वस्तु को भले प्रकार पा लिया जाय, जिसके कारण फिर शोक न करना पड़े और जिसमें परम शान्ति की उपलब्धि हो, वही तो जीवन है। वैसे तो वृक्ष और पक्षी भी जीवित रहते हैं, परन्तु यथार्थ में वही जीवित है जो आत्म चिन्तन में लीन है। इस विश्व में जो उत्पन्न हुये हैं, उनमें उन्हीं जीवों का जीवन श्रेष्ठ है जिन्हें आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता। इनसे भिन्न तो जरावस्था प्राप्त गधे के समान है जो असक्त होते हुये भी बोझा ढोने के लिए विवश हैं। ज्ञानी जन के लिये शास्त्र बोझा के समान हैं, राग-द्वेष से युक्त पुरुष के लिये ज्ञान बोझ रूप है। जो अशान्त है, उसका मन ही बोझ रूप है और जो आत्मज्ञान से हीन हैं. उनके लिए यह देह भी बोझ ही है। अहंकार सब दुःखों का कारण है। उससे विपत्ति प्राप्त होती है, दुष्ट मनोविकारों की उत्पत्ति होती है और विभिन्न कामनाओं का प्रादुर्भाव होता है, इसलिये मनुष्य का इससे अधिक कोई शत्रु नहीं है। अहङ्कार के वशीभूत हो मैंने जिन-जिन भोगों का उपभोग किया, वे सभी मिथ्या थे। अहंकार-शून्यता ही जीवन की यथार्थता है। व्यग्रता के वश पकड़कर यह मन व्यर्थ ही इधर-उधर भ्रमता है · यह विभिन्न ग्रामों में घूमते-फिरने वाले कुत्ते के समान दूर-दूर तक भ्रमण करता है। मैं भी तृष्णा रूप कुतिया के पीछे कुत्ते के समान भटकता हुआ जड़वत् होगया था। परन्तु अब मैं उनके प्रभाव से मुक्त होगया हूँ। चित्त को नियन्त्रित करना सुमेरु पर्वत को समूल उखाड़ने अथवा समुद्र के सम्पूर्ण जल का पान कर लेने से भी अधिक दुष्कर है। अग्नि का भक्षण

मारना भले ही सरल कार्य हो, परन्तु चित्त-निग्रह अत्यन्त ही विषम कार्य है। यह चित्त तथा बाह्य तथा अभ्यान्तर के विषयों का ग्रहण करने वाला है, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीन अवस्था वाले विश्व की स्थिति चित्तवृत्ति पर ही निर्भर है। चित्त की क्षीणता ही संसार को क्षीण करने वाली है। इसलिये आवश्यक है कि चित्त का ही प्रयत्न पूर्वक उपाय किया जाय ॥११---२१॥

यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणश्रियम्।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥२२
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्तऽपि फलमीहते।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥२३
क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभस्स्थलम्।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥२४
सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥२५
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज ॥२६
स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम्।
नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः ॥२७
कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम्।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम ॥२८
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम्।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम ॥२९
जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम्।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥३०

हे मुने ! दुष्ट कुतरनी जैसे वीणा के तार को काट डालती है, वैसे ही मेरी तृष्णा मेरे श्रेष्ठ गुणों को काट डालती है। यह तृष्णा चञ्चल बंदरिया के समान न थकने वाली अलंघ्य स्थान में भी जबरन पैर टिकाने को

उद्यत है। वह तृप्त हो चुकने पर भी विभिन्न फलों की कामना करती हुई उन्हें तोड़ती है और अधिक समय तक एक स्थान पर नहीं टिकती। वह क्षण भर में आकाश-भ्रमण करती दिखाई देती है, क्षण भर में ही पाताल गामिनी होती है और क्षण भर में ही विभिन्न दिशाओं में चक्कर काटती है। विश्व के समस्त दुःखों में यह तृष्णा ही ऐसी है जो घोर दुःखदायिनी है तथा महलों में रहने वालों को भी घोर संकट में फँसाती है। यह तृष्णा एक महामारी है और इसे वही नष्ट कर सकता है जो चिन्ता को छोड़दे। यदि चिन्ता का क्षण भर को भी त्याग कर दिया जाय तो अत्यन्त सुख मिलता है। यदि थोड़ी सी भी चिन्ता मन में हो तो उससे दुःख की प्राप्ति होती है। इस देह के समान तुच्छ, गुण-रहित एवं शोच करने योग्य अन्य कोई पदार्थ नहीं है। इस देह रूप महान गृह में अहंकार रूप गृहस्थ निवास करता है। यह देह चाहे चिरजीवित रहे या शीघ्र नष्ट होजाय, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। जिस देह रूप घर में इन्द्रीय रूपी पशु पंक्तिबद्ध खड़े हैं और जिसके आंगन में तृष्णा रूपी वंदरिया चलती-फिरती है, जिसमें चित्त-वृत्ति रूप भृत्यों का समावेश है, ऐसा यह शरीर रूप गृह मुझे अभीष्ट नहीं है। जिह्वा रूपी वंदरिया से आक्रान्त हुआ यह मुख रूप द्वार इतना भीषण हो रहा है कि प्रारम्भ में ही दन्तरूप अस्थियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं ॥२२--३०॥

रक्तमांसमयस्यास्य सवाह्याभ्यन्तरे मुने ।
नाशं कथर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥३१

तटित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥३२

शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा ।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥३३

स्वचित्तविलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा ।
वलात् कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥३४

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम् ॥३५
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा ।
सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी ॥३६
क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना ।
आखुः स्तम्भमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति ॥३७
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम् ।
आत्मंभरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः ।
कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम् ॥३८

ऐसा यह देह रूप गृह मुझे अच्छा नहीं लगता । हे पिताजी ! यह देह बाहर से तथा भीतर से भी मांस और रक्त से ही व्याप्त है तो इस नाशवान् देह में सुन्दरता कहाँ से आई ? यदि कोई यह विश्वास करता हो कि विद्युत में चपलता अथवा गंधर्वों की नगरी में चंचलता नहीं है तो वह इस देह के स्थिर होने में भले ही सन्देह न करे। इस देह की तीनों अवस्थायें भय के देने वाली हैं । बालकपन में अपने से बड़े लड़कों से तथा माता-पिता आदि से भय लगता है । युवावस्था प्राप्त होने पर अपने ही चित्त के भीतर निवास करने वाले कामरूपी पिशाच के भ्रम जाल में फँसकर पराजय को प्राप्त करता है । वृद्धावस्था प्राप्त होने पर मनुष्य काँपता हुआ चलता-फिरता है । उसे देखकर स्त्रियाँ बन्धु, मित्र, पुत्र, पुत्रियाँ तथा नौकर-चाकर भी हँसी उड़ाते हैं । इस आयु में सामर्थ्यहीनता के कारण कामनाओं की अधिक वृद्धि होती है । यह जरावस्था हृदय को जलाने वाली सब विपत्तियों की सखी है । जिस सुख की भावना सांसारिक प्राणी करता है, वह सुख है कहाँ ? काल तो तिनके के समान [illegible] भी खा जाता है । यह काल छोटे से तिनके और रज के कणों को भी महेन्द्र तथा मेरु पर्वत को भी सरसों के समान कर देने में समर्थ है । यह सभी को नाश करने वाला है और [illegible]

भरने के लिये सब को निगलता रहता है। इस काल के द्वारा तीनों लोक व्याप्त किये हुये हैं ॥३१--३८॥

मांसपाश्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नय्वस्थिग्रन्थि शालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम् ॥३९
त्वङ् मासरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोच [क] ने।
समालोक [च]य रम्यं चेत् किं सुधा परिमुह्यसि ॥४०
मेरुशृंगतटोल्लासिगंगाजलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन् मुने मक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥४१
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्डमिवान्धसः ॥४२
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥४३
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥४४
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः।
नार्यो नरविहंगानामंगबन्धनवागुराः ॥४५
जन्म पल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डका ॥४६
सर्वेषा दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥४७
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क भोगभूः।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥४८

देह के अंग यंत्र के समान चंचल हैं और अस्थिपिंजर में मांस युक्त पुतली के समान स्त्री-देह में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सुन्दर कही जा सकती है? नेत्र के भीतर की त्वचा, मांस, रक्त तथा अश्रु इन सब में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो आकर्षक प्रतीत होती हो? यदि कोई वस्तु

नहीं है तो मोह करने से क्या लाभ है ? जो नारी सुमेरु शिखरों के किनारे उल्लसित होकर प्रवाहित होने वाली गंगा की गति के समान चंचल है और जो मुक्ताहार से सुशोभित देखी जाती है, वह स्त्री जब काल के चक्र में फँसती है, तब उसके मांस पिंड रूप स्तन को श्मशान में कुत्ते चाटते हैं। यह नारियाँ केश विन्यास और अञ्जनादि से सुसज्जित होकर प्रिय लगने पर भी दुःखदायक स्पर्श वाली होती हैं। वे अग्नि-ज्वाल के समान दग्ध कर देने वाली ललनाएँ विधाता की दुष्कृति रूप हैं। यह दूरस्थ प्रज्वलित नरक रूप अग्नियों को ईंधन के समान हैं। इनकी सरसता में भी नीरसता भरी है। काम नामक शिकारी ने पुरुष रूपी मृगों को बाँध लेने के लिये नारी रूपी पाश को विस्तृत किया है। नारी दुर्वासना रूपी रस्सी में बँधे हुये उस पिंड के समान है जो चित्त रूपी कीचड़ में भ्रमण करने वाले पुरुष रूपी मत्स्यों को इस जीवन रूपी जाल में फँसा लेती है। समुद्र इन समस्त दोषयुक्त रत्नों का उत्पादक है। जिसके पास स्त्री है वह विलास की कामना में लीन रहता है, जिसके पास स्त्री नहीं है, उसके लिये भोग का कोई कारण नहीं। जो स्त्री का त्याग कर सका, उसने ही संसार का त्याग कर दिया और जो संसार को त्याग देता है, वही सुखी हो सकता है। इसलिये दुःखों की यह शृङ्खला हम से दूर ही रहे ॥ २९—४८ ॥

दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत् ।
शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥४९

शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोऽप्य ध्रुवजीवनः ।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्ते दानवादयः ॥५०

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् ह्रीयते हरिरप्यजः ।
भवोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः ॥५१

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः ।
नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम् ॥५२

आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्तिः संपदः।
क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत् ॥५३

अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम्।
विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ॥५४

जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम्।
इति मे दोषदावाग्निदग्धे संप्रति चेतसि ॥५५

स्फुरन्ति हि नभोगाशा मृगतृष्णासरःस्वति।
अतो मां बोधयाशु त्वं तत्वज्ञानेन वै गुरो ॥५६

नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः।
भावयान् मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः ॥५७

यह जगत् नाशवान् है। जब यह अदृश्य होता है तब दिशायें भी दिखाई नहीं देतीं, देश भी काल के गाल में समा जाते हैं, पर्वत खण्ड-खण्ड होते और तारे भी टूट-टूट कर गिर जाते हैं, समुद्रों में जल नहीं रहता और ध्रुवतारा भी लुप्त हो जाता है। दानवों का अन्त समय आता है और सिद्ध पुरुष भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अजन्मा विष्णु और चिरस्थायी ब्रह्मा भी अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। जैसे जल वड़वा-नल की ओर दौड़ता है वैसे ही देवता मनुष्य तथा अन्य सभी प्राणी विनाश की ओर दौड़ते हैं। उस समय सभी भाव अभाव बन जाते हैं। आपत्तियाँ क्षण-भर में विपत्तिग्रस्त करती हैं तो क्षण-भर में सम्पूर्ण वैभव की प्राप्ति हो जाती है। क्षण-भर में जन्म और क्षण-भर में मृत्यु होती है। यह सभी प्रपंच नाशवान् हैं। यहाँ कायरों द्वारा शूरवीरों का संहार होता है। कभी-कभी एक ही सैंकड़ों को मार गिराता है। इस प्रकार सर्वत्र विषमता छाई हुई है। विषय वासनाओं से चित्त में जो विषमता आ जाती है, वही विष रूप है। परन्तु, विष इतना भीषण नहीं है, क्योंकि वह जन्म को ही नष्ट करता है और विषय रूपी विष तो जन्म-जन्मान्तरों का विनाश कर देने वाला है। मेरा चित्त दोष रूप

दावानल में जल गया है, परन्तु मृग-मरीचिका के तड़ाग में खड़ा रहकर भी मैं भोग-लिप्सा से परे हूँ। हे पिता, हे गुरो ! आप मुझे तत्व-ज्ञानात्मक बोध प्रदान करो अन्यथा मैं मान-मत्सर का त्याग कर मौन धारण पूर्वक मैं अपने मन में भगवान् का स्मरण करूँगा ॥४९—५७॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थोऽध्यायः

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर।
प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया।
चित्तमालिन्यसंजातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥१
मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः ॥२
एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत्।
एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥३
शास्त्रैः सज्जनसंपर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः।
आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत् ॥४
स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ॥५
संकल्पाशाऽनुसंधानवर्जनं चेत् प्रतिक्षणम्।
करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम् ॥६
चेतसो यदकर्तृत्वं तत् समाधानमीरितम्।
तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥७
चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्।
यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः ॥८
सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्यमाभास्वरं
स्वदनमात्र-चैत्यचिह्नम्।

सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टिर्बोधार्थमेव
हि मुधैव तदोमितीदम् ।।९
सर्वं किंचिदिदं दृश्यं दृश्यते चेज्जगद्गतम् ।
चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यदस्तीति भावय ।।१०
नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन् वाऽपि जगत्क्रियाम् ।
आत्मकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमाब्धिवत् ।।११

निदाघ की यह बात सुनकर उनके पिता ऋषिवर ऋभु कहने लगे—"पुत्र ! तुम ज्ञानियों में श्रेष्ठ हो। अब तुम्हारे लिये जानने योग्य कुछ भी नहीं है। तुम पर भगवान की ऐसी कृपा हुई है कि तुम स्वयं अपनी बुद्धि के द्वारा ही सब विषयों के ज्ञाता हो गये हो। फिर भी चित्त की मलीनता से जो भ्रम शेष रह गया है, उसे मैं दूर कर डालूंगा। शम, विचार, सन्तोष और सत्संग यह चारों मोक्ष द्वार के द्वारपाल कहे गये हैं। यदि उनमें से एक का भी आश्रय ग्रहण कर ले तो शेष तीनों स्वयं ही वश में हो जाते हैं। जगत के पाश से मुक्त होने की कामना हो तो शास्त्रों के अध्ययन, तप, दम तथा सत्संग के द्वारा अपनी प्रज्ञा-वृद्धि करे। अपने अनुभव से शास्त्र-प्रमाण एवं गुरु के उपदेश से निरन्तर अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन की प्रवृति उत्पन्न होती है। यदि तुमने संकल्प और आशा का अनुसंधान त्याग दिया है तो कैवल्य की प्राप्ति स्वयं ही हो गई होगी। चित्त अकर्तृत्व ही चित्त-वृत्तियों का निरोध कहा गया है। इसे ही कैवल्य अवस्था अथवा पराशान्ति कहते हैं। विश्व के सब पदार्थों में आत्म-भावना का भले प्रकार त्याग कर गूंगे, अंधे और बहिरों के समान रहने से ही यह सम्भव है। शब्दमयी वैभिन्नता युक्त दृष्टि नितान्त व्यर्थ है। एक है, अजन्मा है, आदि मध्य रहित तथा तेजोमय है इत्यादि शब्द रूप चिन्तन आत्मबोध में बाधा स्वरूप हैं। यह दिखलाई पड़ने वाला सम्पूर्ण प्रपंच तत्व रूप में प्रणव ही है। यहाँ जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह चित्विश्व में दिखाई पड़ता है। अतः

यह चित् के स्पन्दन का एक अंश रूप ही है। इसलिए चित्त ही सब कुछ है। तुम सांसारिक कार्यों को करते हुये भी नित्य प्रबुद्ध चित्त से आत्मा के एकीभाव का ज्ञान प्राप्त कर प्रशान्त रहने वाले महान् सागर के समान निश्चल एवं दृढ़चित्त रहो। ऐसा करने से ही कल्याण सम्भव है ॥ १—११ ॥

तत्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥१२
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥१३
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने।
निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्ता संनिधिमात्रतः ॥१४
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देते कर्तृताकर्तृते।
यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव ॥१५
तस्मान्नित्यमकर्ताऽहमिति भावनयेद्धया।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥१६
निदाघ श्रृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः।
ते नित्यमेवाभ्युदिताः मुदिताः ख इवेन्दवः ॥१७

यह आत्मज्ञान वासना रूप तिनके को जलाने वाले अग्नि के समान है। इसी को समाधि कहा गया है। केवल मौन रहना ही समाधि नहीं है। जैसे रत्न बिना किसी कामना के यों ही पड़ा रहता है तो भी उसे देखने वाले व्यक्ति उसकी ओर आकर्षित होते ही हैं, वैसे ही सत्तामात्र जो परतत्व है उसकी ओर सम्पूर्ण विश्व आकर्षित होता है। इसी आत्मा में कर्तृतत्व और अकर्तृतत्व दोनों ही विद्यमान हैं। कामना रहित रहने पर आत्मा अकर्ता है और सन्निधिमात्र से कर्ता बन जाता है। ब्रह्म में कर्तृत्व ओर अकर्तृत्व दोनों की ही उपलब्धि है, तुम्हें जिसमें ऐसा चमत्कार दिखाई दे, उसी का आश्रय पकड़ लो। 'मैं सदा

अकर्त्ता हूं. ऐसी भावना करने पर परम अमृता नाम वाली समता ही शेष रहती है। जो प्राणी सत्व में विद्यमान रहकर इस लोक में उत्पन्न हुये हैं, वही गुणवान हैं। वे आकाशस्थ चन्द्र के समान सदा हर्षित रहते हैं और वे ही उन्नतिशील हैं ॥ १२—१७ ॥

नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा।
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि ॥१८
आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः।
समाः समरसाः सौम्याः सततं साधुवृत्तयः ॥१९
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः।
नियति न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥२०
कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम्।
प्रविचार्थं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना ॥२१
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्।
द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया ॥२२
शरीरमस्थि मांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम्।
भूतमुक्तावली तन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत् ॥२३
उपादेयानुपतनं हेयैकान्त विसर्जनम्।
यदेतन्मनसो रूपं तद्वाह्यं विद्धि नेतरत् ॥२४
गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः ॥२५

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यं, अग्निदाहो हिमसेचनमिव, अङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव, निरवधिनाराच विकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव, स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव, मूकीकरणमाननमुद्रेक, वाधिर्यं महानुपचय, इव, इदं नावहेलनया भक्तिव्यं, एवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति ॥ २५—१ ॥

गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्याऽतिशुद्धया ।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ।।२६

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्व विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय ।।२७

न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः ।
न कायक्लेशवैधुर्य न तीर्थायतनाश्रयः ।
केवलं तन्मनोमात्रजये नासाद्यते पदम् ।।२८

सत्व में स्थित पुरुष स्वर्णिम कमल के समान रात्रि रूप विपत्ति में कुण्ठित नहीं होते । जो भोग सहज उपलब्ध हो जाँय उनके सिवा अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करते और शास्त्र के अनुकूल चलते हैं, वे सहज ही मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि गुणों से विभूपित रहते हैं । वे सदा समान भाव में स्थित रहकर लगातार साधुवृत्ति में ही रहे आते हैं । वे लोक मर्यादा से परे रहकर समुद्र के समान विशाल हृदय वाले होकर सूर्य के समान नियत मार्ग पर ही गमन करते हैं । विचार करना हो तो स्वयं क्या है, विश्व प्रपंच कैसे उत्पन्न हुआ है, इस पर बुद्धिपूर्वक विचार करे । वह कभी निरर्थक कार्य को न करे और दुष्ट के संग से बचता रहे । मृत्यु सब को खा जाती है, उसके प्रति उपेक्षा-भाव न रखे । यदि उपेक्षा करनी है तो देह, अस्थि, माँस, रक्त आदि नश्वर पदार्थों के प्रति उपेक्षा करे । जैसे मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है, वैसे प्राणियों में पिरोये हुये चिदात्मा को देखे । देय वस्तु को त्यागे और उपादेय को ग्रहण करे । यह जान लो कि मन का स्वरूप बाहरी है, भीतरी नहीं । गुरु और शास्त्र के वचन तथा अपने अनुभव से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जान ले और शोकादि का त्याग करे । ऐसी अवस्था में तीक्ष्ण तलवार के सैकड़ों आघात कमल की कोमल मार के समान सहन करने योग्य हो जाते हैं । अग्नि के द्वारा जलाये जाने का प्रभाव शीतल जल में स्नान करने के समान सहनीय हो

जाता है। आग के अङ्गारों पर लेटना भी ऐसा लगता है जैसे चन्दन का लेप कर लिया हो। देह पर निरन्तर होने वाली घातक वाण वर्षा भी गर्मी को शान्त करने वाली शीतल जल के फुव्वारे के समान मन प्रसन्न करने वाली हो जाती है। सिर का कट जाना सुखदायिनी निद्रा के समान होता है। गूँगा हो जाना मौनावलम्बन के समान और वहिरा हो जाना उन्नति के समान सुखप्रद होता है। परन्तु ऐसी अवस्था उपेक्षा से नहीं मिल सकती। इसकी प्राप्ति वैराग्य से उत्पन्न हुये आत्मज्ञान द्वारा ही सम्भव है। गुरुशास्त्र के वचनों और अपने अनुभव के आधार पर जो मानसिक पवित्रता प्राप्त होती हैं, उसी के द्वारा निरन्तर आत्म साक्षात्कार होते रहना सम्भव है। जैसे भभूड़े के नष्ट होने पर दिशा का ज्ञान पुनः होने लगता है, वैसे ही विज्ञान द्वारा ध्वस्त हुये विश्व की स्थिति नहीं रहती। धन, मित्र, वन्धु, पुत्र-परिजन आदि मनुष्य का उपकार नहीं कर सकते। शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से अथवा तीर्थस्थान में वास कर लेने मात्र से ही मनुष्य लाभान्वित नहीं हो सकता, वह तो चिन्मात्र में लय होकर ही परमपद पा सकता है ॥ १८—२८ ॥

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधय।
शान्तचेतःसु तत् सर्व तमोऽर्केष्विव नश्यति ॥२९

मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥३०

न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च।
न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः ॥३१

श्रुत्वा स्पष्ट्वा भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥३२

तुषारकरविम्वाच्छं मनो यस्य निराकुलम्।
मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते ॥३३

तपस्विषु वहुज्ञेपु याजकेषु नृपेषु च।

बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥३४॥
संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥३५॥
अप्राप्तं हि परित्यज्य संप्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः संतुष्ट इति कथ्यते ॥३६
नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम् ।
यः स सौम्यसमाचारः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥३७
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवान्तः पुराजिरे ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्दायिनी ॥३८
यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम् ।
यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम् ।
तावद्विचारयेत् प्राज्ञो यावद्विश्रान्तमात्मनि ॥३९
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात् ।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः ॥४०
नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ।
निर्मन्धर इवाम्भोधिः तिष्ठति यथास्थितः ॥४१

संसार में जितने दुःख, जितनी तृष्णायें और दुश्चिन्ताएं हैं, वे सब शान्त मन वाले पुरुष में, सूर्य की किरणों से अन्धकार दूर होने के समान ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे माता का पुत्र विश्वास करते है, वैसे ही शम वाले पुरुष का सभी मृदु एवं कठोर प्राणी पूर्ण विश्वास करते हैं। जो सुख मनुष्य को शांति से प्राप्त होता है, वैसा सुख लक्ष्मी के आलिंगन द्वारा अथवा अमृत का पान करने पर भी नहीं मिल सकता। शांत मनुष्य वही है जो शुभ-अशुभ को सुनकर भी हर्ष विषाद नहीं करता और भूखा रहने पर या भोजन कर लेने पर दुःख-सुख को नहीं मानता। जिसका मन चन्द्रमा के समान अत्यन्त निर्मल है और जो उत्सव, युद्ध अथवा मृत्यु में भी हर्ष-शोक द्वारा अधीर नहीं होता वहीं

पुरुष शान्तचित्त कहा जाता है। याज्ञिकों तपस्वियों, बहुश्रुतों, राजाओं, गुणवानों तथा वनवासियों में भी वही शोभा पाता है जो शम से युक्त है। आत्मा में रमण करने वाले महात्मा वही होते हैं जो सन्तोष रूपी अमृत को पीकर शान्त और तृप्त होते हैं। उन्हीं को परमपद की प्राप्ति होती है। सन्तुष्ट वही कहा जाता है जो सम्प्राप्त वस्तु में समान भाव रखता तथा अप्राप्त वस्तु की लालसा नहीं करता और जो सुख-दुख को नहीं देखता। प्राप्त वस्तु के भोग में सन्तुष्ट रहने वाला, अप्राप्त वस्तु की चिन्ता न करने वाला पुरुष समान भाव का आचरण करता है, वही सन्तुष्ट है। जैसे साध्वी नारी अपने घर के आंगन में रहती हुई सुख मानती है, वैसे ही जो प्राप्त हो जाय उसी में सुख मानती हुई बुद्धि रमण करती है, वही अत्यन्त आनन्ददायिनी अवस्था जीवन्मुक्त कही जाती है। जब तक आत्म-विश्रान्ति की प्राप्ति न हो जाय तब तक समय के अनुसार, देश के अनुरूप और शास्त्र के अनुकूल यथासम्भव सत्सङ्ग करते हुए मोक्ष-मार्ग का विचार करता रहे। तुरीयावस्था की विश्रान्ति से युक्त तथा संसार समुद्र से निवृत जो पुरुष है, वह गृहस्थ हो या सन्यासी, चाहे सांसारिक जीवन में रहे या न रहे, उसे श्रुति-स्मृति के भ्रम जाल में पड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। वह तो उत्प्लवहीन समुद्र के समान आत्म-स्थित रहकर ही सब कुछ प्राप्त कर लेता है ॥२६—४१॥

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम् ।
भाति प्रसृतिदिक्कालावह्यं चिद्रूपदेहकम् ॥४२

एवामात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः ।
निष्ठात्याशु तथा तत्रतद्रूपश्च विराजते ॥४३

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
तत् सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्याति ॥४४

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्या मित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थ यस्य संज्ञा महात्मनः ॥४५

यथा कटकशब्दार्थं पृथग्भावो न काञ्चनात्,
न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छशब्दार्थता परा ।।४६
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते ।
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽन्तर्बन्ध इत्यभिधीयते ।।४७
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ।
जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते ।।४८
मनसेवेन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते ।
यावदेतत् सम्भवति तावन्मोक्षो न विद्यते ।।४९
ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा ।
मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते ।।५०
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः ।
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ।।५१
संकल्पन मनो विद्धि संकल्पस्तन्न विद्यते ।
यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम् ।।५२
संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केन चित् ।
संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिश्यते ।।५३
अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते ।।५४
महाप्रलयसम्पत्तौ ह्यसत्तां समुपागथे ।
अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते ।।५५
अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः ।
सर्वदा सर्वकृत् सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः ।।५६
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मक्तैरवगम्यते ।
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः ।।५७

परायों को अपना देखने वाली सर्वात्ममयी वेदना का जब आविर्भाव होता है तब दिशा और काल के रूप में विस्मृत हुआ विश्व

चिद्रूपात्मक ही लगता है । इस प्रकार आत्मा जहाँ जिस रूप में उल्लास को प्राप्त होता है, वहाँ उसी रूप में अवस्थित होकर तद्रूप में स्थित हो जाता है । सुषुप्ति में विलीनावस्था को प्राप्त हुये स्वप्न की भाँति यह सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम दृश्य-जगत प्रलय काल में नष्ट हो जाता है । ज्ञानीजन इस आत्मा को परब्रह्म, सत्य स्वरूप तथा यज्ञ स्वरूप बतलाते हैं । जैसे कङ्कण शब्द की स्वर्ण से पृथक कुछ सत्ता नहीं है, वैसे जगत भी परब्रह्म है, उसकी पृथक् कोई सत्ता नहीं है । परब्रह्म ने ही अपने इस रूप को जगत रूप माया में परिवर्तित किया है । द्रष्टा जब दृश्य में अन्तर्भूत हो जाय तभी बन्धन हो जाता है । दृश्य के वशीभूत होकर ही द्रष्टा बन्धन में पड़ता है और दृश्य के न होने पर ही मोक्ष है । संसार की 'तेरा-मेरा' रूप भाव वाली सृष्टि ही दृश्य है। संसार में सम्पूर्ण प्रपञ्च रूप माया मन के द्वारा ही प्रवृद्ध होती है । जब तक मानसिक कल्पना नष्ट नहीं होती, तब तक मुक्ति का मार्ग दिखाई नहीं देता । स्वयं आविर्भूत ब्रह्मा ने इस विश्व की मानसिक कल्पना द्वारा रचना की है । इस लिये यह दिखाई पड़ने वाला विश्व मनोमय ही समझना चाहिये । बाह्याभ्यन्तर कहीं भी यह मन सद्रूप में अनावस्थित है । विषयों का बोध होना ही मन कहा गया है । संकल्प ही मन का स्वरूप है क्योंकि वह संकल्प में ही रम रहा है । अतः संकल्प को ही मन समझना चाहिये । आज तक कोई भी संकल्प और मन को प्रथक नहीं कर सका । सभी संकल्पों के विनष्ट होने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है । विश्व 'मैं' और 'तू' इत्यादि इस दिखाई पड़ने वाले प्रपञ्च के प्रशान्त होने पर जब दृश्य का परतत्व हो जाता है तभी कैवल्य की प्राप्ति मानी जाती है । महाप्रलय काल में जब दृश्य में सत्ता का अभाव हो जाता है, तब केवल शान्त आत्मा ही अवस्थित रहता है । जो आत्मरूपी सूर्य अस्त को कभी प्राप्त नहीं होता तथा जो सब दोषों से परे, देव स्वरूप है, जिसमें जाकर वाणी लौट जाती है, उस सर्वकर्त्ता और सर्व रूप के ज्ञाता मुक्त पुरुष ही है । जिनकी आत्मा एवं रूपों की

कल्पना जाती हैं, वे स्वभावतः रूप रहित ब्रह्म ही परमात्मा कहे जाते हैं ॥४२–५७॥

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने ॥५८
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् ।
निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥५९
तस्मिन् निरस्तनिःशेषसंकल्प स्थितिमेषि चेत् ।
सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥६०
उदितौदार्यसौन्दर्यनैराग्यरसगर्भिणी ।
आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥६१
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता याऽसौ समाधिरभिधीयते ॥६२
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम् ।
तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत् सकलं मृषा ॥६३
मत्त ऐरावती बद्धः सर्षपीकोणकोटरे ।
मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरणुकोटरे ॥६४
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना ।
निदाघ विद्धि तादृक् त्वं जगदेतद्भ्रमात्मकम् ॥६५
चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥६६
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः ।
देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते ॥६७
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम् ।
मनोविलासः संसार इति मे निश्चिता मतिः ॥६८

आकाश तीन माने गये हैं। चिताकाश, चिदाकाश और भौतिक आकाश। चिदाकाश इन सब में सूक्ष्मतर है। एक देश से दूसरे देश को

गमन करने पर जो मध्य में चित्त का व्यवधान है, उसके निमेष से चिदाकाश ही शेष रहता है। उसी चिदाकाश में समस्त संकल्पों को सत्ताहीन करके स्थित होने पर सर्वात्मक शान्त पद की प्राप्ति हो जाती है। चिदाकाश में अवस्थित होने पर उदारता और वैराग्य से सम्पन्न सर्वानन्दमयी अवस्था की उपलब्धि ही समाधि कही जाती है। उस समय दृश्य पदार्थों की शून्यता का बोध होने पर राग-द्वेषादि दोषों के नष्ट होने पर समाधि अवस्था प्राप्त होती है। उस समय अभ्यास की शक्ति से एकाग्र चित्त में रमण करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। दृश्य की सत्ता के अभाव का बोध ही ज्ञान है। उसे ही चिदात्मक ज्ञेयत्व कहते हैं। उसे ही आत्म कैवल्य मानना चाहिये, उससे भिन्न सब प्रपंच मिथ्या है। जैसे एक धूलिकण के बिल में मच्छरों का सिंहों के साथ युद्ध करना सम्भव नहीं है और मदोन्मत्त ऐरावत का सरसों के एक कोण छिद्र में बांधा जाना सम्भव नहीं है तथा कमल की पंखुड़ी में स्थित सुमेर का भ्रमर के बालक द्वारा निगला जाना मिथ्या गाथा है, वैसे ही यह विश्व अस्तित्व में नहीं आ सकता, इसकी सत्ता भ्रमात्मक है। राग-द्वेष आदि से दोषयुक्त हुआ चित्त ही संसार रूप है, उसके दोषों से मुक्त हो जाने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है। मन जब देह की भावना करता है तब आत्मा देहात्मक बनता है और जब देह रूप वासना का लोप हो जाता है, तब वह देह धर्म से लिप्त नहीं होता। मन ही कल्प को क्षण तथा क्षण को कल्प बना देता है। अतः मेरे विचार से यह विश्व मन की कल्पना मात्र ही है ॥५८-६८॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो नासमाहितः।
नाशांतमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥६९
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन ॥७०
परात् परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्।

कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ॥७१
अहं ब्रह्मेति नियत मोक्षहेतुर्महात्मनाम् ।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥७२
जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥७३
त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीव विभ्रान्तिमाश्रिताः ॥७४
तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किंतु ब्रह्मतत्व निश्चलेन विचार्यताम् ॥७५
अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिन्दवयात् ।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥७६
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभ तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥७७
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते ॥७८
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ।
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ॥७९
सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वतं भानुमन्धवत् ॥८०
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम् ।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ॥८१
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८२

जो मनुष्य एकाग्रचित्त अथवा शान्त मन वाला नहीं है तथा जो विपरीत आचरण में विरक्त नहीं हुआ है, उसे आत्मबोध कभी नहीं हो सकता। उत्कृष्ट कैवल्य ज्ञान ही आत्मसाक्षात्कार का एकमात्र साधन है। उस निर्गुण, सत्यस्वरूप, द्वन्द्वातीत विद्वान और आनन्दमय ब्रह्म को अपना ही रूप मान लेने वाला पुरुष कभी भयभीत नहीं होता। "मैं वह ब्रह्म हूँ जो सदा देवताओं का भी उपास्य देव है, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर, महान से भी महान, शाश्वत, कल्याणमय, परमतेजोमय, सर्वज्ञ, सनातन एवम् पुराण पुरुष है।" इस प्रकार की भावना ही मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ कारण है। मनता बन्धन का कारण है और ममता का परित्याग ही मोक्ष है। यही दो कारण प्राणी के लिये बन्धन अथवा मुक्ति स्वरूप हैं। ब्रह्म संकल्प से लेकर संकल्प त्याग पर्यन्त यह सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक सृष्टि की कल्पना ईश्वर ने की है और जाग्रत अवस्था से मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त समस्त संसार प्राणी के द्वारा ही कल्पित हुआ है। कठोपनिषद् के अन्तर्गत त्रिणाचिकेतनाग्नि से श्वेताश्वर के योग पर्यन्त के ज्ञान का आधार ईश्वरीय भ्रान्ति है और चार्वाक के मत से लेकर कपिल को सांख्य सिद्धान्त तक की दार्शनिकता का आधार जीव की भ्रांति है। इसलिये जो पुरुष मुक्ति की कामना करता है, वह जीव और ईश्वर के वादविवाद में अपनी बुद्धि को भ्रमित न करे। उसे तो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्व का ही मनन करना चाहिये। ज्ञानी पुरुष वही है जो दिखाई देने वाले सम्पूर्ण विश्व को निर्विशेष चिद् रूप मानता हो। शिव, ब्रह्मा और विष्णु भी वही है। विषयों का त्याग जितना दुर्लभ है, उतना ही दुर्लभ तत्वज्ञान प्राप्त करना है। सद्गुरु की कृपा के बिना सहजावस्था की प्राप्ति सम्भव नहीं है। जिसने अपनी बोधप्रद शक्ति को जगा लिया है और सब कर्मों का त्याग कर डाला है, ऐसा योगी स्वयं ही सहजावस्था को प्राप्त हो जाता है। जब तक इसमें किंचित भी भिन्नता रहती है, तब तक उसे भय ही भय है। सर्वमय सच्चिदानन्द के दर्शन की अभिलाषा हो तो ज्ञान के चक्षुओं से उनके दर्शन किये जा

सकते हैं। जिसके पास ज्ञान के चक्षु नहीं, उस अन्धे मनुष्य को प्रकाश-मान सूर्य के दर्शन न होने के समान ही परब्रह्म के दर्शन नहीं होते। वही ब्रह्म प्रज्ञान रूप है, सत्य का लक्षण भी प्रज्ञान ही है। मरणधर्मा मनुष्य ब्रह्म के ज्ञान से ही अमरत्व को पाता है। वह ब्रह्म कार्य कारण रूप है, उसका साक्षात्कार होते ही प्राणी के सब संशय दूर होते और कर्मों का क्षय हो जाता है तथा इसी से हृदय-ग्रन्थियां भी स्वयं खुल जाती है ॥६६-८२॥

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ ।
एकनिष्ठतयाऽन्तःस्थसंविमात्रपरो भव ॥८३
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत् ।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥८४
लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत् केवलात्मना ।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥८५
अधिष्ठानमनौपम्यमवङ्मनसगोचरम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥८६
सर्वं शक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत् ।
संयमासंयमाभ्यां च संसार शान्तिमन्वगात् ॥८७

हे पुत्र ! सांसारिक स्थिति में निर्विकार भाव से अनात्म के त्यागपूर्वक, आत्म चैतन्य में ही रमते रहो। जैसे मरुभूमि में भ्रमपूर्वक दिखाई देने वाला जल केवल स्थल ही रहता है, वैसे ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तावस्था वाला यह सम्पूर्ण संसार आत्म चिंतन द्वारा चिन्मय को समझना चाहिये। श्रेष्ठ ज्ञानी एवं शिव रूप वही प्राणी है जो लक्ष्यालक्ष बुद्धि का त्याग कर केवल आत्मनिष्ठ हो जाता है। संयम और असंयम के द्वारा सांसारिक प्रपञ्च शान्त हो जाता है, क्योंकि यह विश्व सर्व शक्तिमान महान् ब्रह्म का मनोविलास ही है। इसका अधिष्ठान अनुपम है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अव्यय स्वरूप है ॥८३-८७॥

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते ।
यद्यत् स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन् मोक्षमश्नुते ॥८८
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम् ।
यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम् ॥८९
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।
मनः प्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥९०
असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा ।
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥९१
भवभावनया मुक्तो युक्तः परमया धिया ।
धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम् ॥९२
परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम् ।
ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया ।
मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः ॥९३
अयं सोऽहमिदं तन्मे एतावन्मात्रकं मनः ॥
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलूयते ॥९४
छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि तथा शरदि धूयते ।
वातेनाकल्पकेनैव तथाऽन्तर्धूयते मनः ॥९५
कल्पान्तपवना वान्तु वान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥९६
असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिते ।
असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥९७
न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते ।
चंचलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥९८
एषा हि चंचला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसस्थिता ।
तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम् ॥९९
यत्तु चंचलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते ।

तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते ॥१००
तस्य चंचलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका ।
वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥१०१

मन में उत्पन्न हुए विकार का उपाय मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ। जिन-जिन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये यह मन चञ्चल हो उन-उन वस्तुओं का त्याग कर देना मोक्ष का एक सरल साधन है। जिसके लिए इच्छित वस्तु के त्याग की भावना, एकान्त प्रियता और आत्मा की आधीनता दुष्कर है, वह पुरुष रूप कीड़ा विकार का ही पात्र है। अपनी इच्छित वस्तु का अपने प्रयत्न से त्याग करना ही मन की शान्ति का श्रेष्ठ उपाय है। इसके सिवा अन्य गति नहीं है। संकल्प शून्यता रूपी अस्त्र जब इस चित्त को काट डालता है, तब सर्वरूप, सर्व अन्तर्यामी परमब्रह्म प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रपंच की भावना का त्याग कर श्रेष्ठ बुद्धि वाले होओ और मन को नियन्त्रित कर चिन्मात्र में स्थित हो जाओ। वैराग्य के आश्रम और अभ्यास के सहारे चित्त को अचित्तावस्था में स्थित कर हृदयाकाश में ध्यान करे और चेतन में निरत चित्त रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मन का दमन कर डाले। ऐसा करने से शंका नष्ट हो जायेगी और काम आदि शत्रु बन्धन में न डाल सकेंगे। तेरा मेरा की भावना ही मन है और जब इनका त्याग कर दिया जाता है तब मन का स्वतः नाश हो जाता है। जैसे शरद् ऋतु में छिन्न भिन्न हुए बादल वायु की ठोकरें खाकर आकाश में ही लय हो जाते हैं, वैसे ही सद्विचारों के द्वारा मन भी लीन हो जाता है। मन से रहित पुरुष को कोई हानि नहीं हो सकती, चाहे सम्पूर्ण समुद्र एक होकर सर्वत्र जलमयी सृष्टि ही क्यों न कर दें, चाहे प्रलयकालीन उपन्चासों पवन वेग पूर्वक क्यों न बहने लगें, चाहे बारहों आदित्य मिलकर घोर उष्णता क्यों न उत्पन्न कर डालें। केवल संकल्पहीनता ही सम्पूर्ण सिद्धियों का साधन है। अतः संकल्पहीनता में मग्न होकर रहो। जैसे अग्नि का

धर्म उष्णता है, वैसे ही मन का धर्म चंचलता है, इसलिये सर्वत्र चञ्चल मन ही दृष्टिगोचर होता है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का धर्म है। इस शक्ति को विश्व प्रपञ्च का ही रूप जाने। चञ्चलता रहित मन ही तप है, वह अमृत स्वरूप है, शास्त्र उसे मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है, वासना उसका लक्षण है। वह वासना ही शत्रु के समान है। विचार वान् पुरुषों का कर्तव्य है कि वे उस वासना को ही नष्ट करने का प्रयत्न करे ॥८८—१०१॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः।
योज्यते तत् पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ ॥१०२
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा।
विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव ॥१०३
मन एव समर्थ हि मनसो दृढनिग्रहे।
अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि ॥१०४
तृष्णाग्राहगृहगृहीतानां संसारावर्णवपातिनाम्।
आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः ॥१०५
मनसैव मनश्छित्वा पाशं परमबन्धनम्।
भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते ॥१०६
या यादेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा।
तां तां परिहरेत् प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥१०७
भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम्।
भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥१०८
एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च।
तत्तत् संवेद्यते किंचित् तत्रास्थापरिवर्जनम्।
अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥१०९
अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते।
नाम्नैवांगीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥११०

तावत् संसारभृगृषु स्वात्मना सह देहिनम् ।
आन्दोलयति नीरन्ध्रदु:खकण्टकशालिषु ।।१११
अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी ।
स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसं क्षयकारिणी ।।११२
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते ।
दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते ।।११३
इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने ।।११४

हे मुने ! जिस उद्देश्य में अपने मन को लगाओ उसे प्राप्त करने के लिए निर्विकल्प समाधि को पावो । चित्त को चित्त से वशीभूत करो और शोक रहित रहते हुए आतंक से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करो । विषयों से रहित मन ही मन का पूर्ण विरोध कर सकता है । जो राजा राज्य पर आसीन है, वही किसी राजा को पराजित करने में सफलता प्राप्त करता है । जो तृष्णारूपी ग्राह द्वारा ग्रहण किए हुए हैं, जो संसार सागर में गिरकर किनारे पर आने से असमर्थ हो चुके हैं तथा भँवर जाल में पड़ गये हैं, उनकी रक्षा के कार्य में विषय-विकारों से शून्य मन ही समर्थ है । वही नौका रूप होकर उन्हें पार लगा सकता है । हे मुने ! ऐसे अत्यन्त सामर्थ्य वाले मन के द्वारा इस घोर बन्धन रूप मानसिक पाश को खण्ड-खण्ड कर डालो और स्वयं ही इस संसार समुद्र से पार हो जाओ क्योंकि दूसरा कोई इस समुद्र से पार नहीं कर सकता । जब जब अन्तःकरण को अच्छादित करने वाली मन रूपी वासना का प्रादुर्भाव हो, तब तब उसका त्याग करना बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है । ऐसा करने से अविद्या रूप अन्धकार नष्ट हो जाता है । प्रथम भोग रूप वासना त्यागनी चाहिए, फिर भेद रूप वासना और उसके पश्चात् भाव अभाव दोनों का ही त्याग कर देना उचित है, इससे हे पुत्र ! तुम विकल्प रहित और सुखी होओ । मन का नाश ही अविद्या का

नाश होना है। मन के द्वारा जो कुछ भी अनुभव में आवे, उसमें चित्त को मत रमने दो। आस्था का त्याग करना ही मुक्ति है और आस्था के आश्रित रहना ही साक्षात् दुःख है। जो प्रज्ञावान हैं, उनमें अविद्या का स्पर्श भी नहीं होता। उनसे अविद्या दूर ही रहती है। यह प्रज्ञाहीन पुरुषों में ही विद्यमान रहती है। यह संसार रूपी भ्रमजाल दुःख रूप कंटकों से ओत-प्रोत है और इसे नष्ट करने वाली आत्मसाक्षात्कार की इच्छा जब तक बलवती नहीं होती, तब तक अविद्या इन देहों को निरन्तर भ्रमाती रहती है। जब वह अविद्या परतत्व की ओर से देखती है, तब वह स्वयं ही विनष्ट हो जाती है। सर्वात्मबोध के दर्शन होते ही अविद्या स्वयं ही छिप जाती है। उस अविद्या का स्वरूप केवल इच्छा का नष्ट होना ही मोक्ष कहा गया है। परन्तु इच्छा नष्ट तभी होती है जब संकल्पों का नाश हो जाय अन्यथा इच्छानाश सम्भव नहीं है ॥१०३—११४॥

मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये ।
कालिका तनुतामेति चिदादित्यावलोकनात् ॥११५
चैत्यानुपात रहितं सामान्येन च सर्वगम् ।
यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥११६
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम् ।
कल्पनाऽन्या मनोनाम्नी विद्यते न हि काचन ॥११७
न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥११८
केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् ।
चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥११९
तस्मिन् नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे ।
शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि ॥१२०
यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं सकंप्य धावति ।

चिच्चैत्यं स्वयमम्ला नंमनाम्न उच्यते ॥१२१

कलि रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये चित्त रूपी आकाश में वासना रूपी रात्रि के क्षीण होने और चेतना रूपी सूर्य के प्रकाशित होने की आवश्यकता है। चित्त जब विषयों का सङ्ग छोड़ देता है और सब ओर गमन करने वाला हो जाता है, तब उसकी वह अवस्था अनिर्वचनीय होती है। अवश्य ही यह ब्रह्म है, यही अव्यय, नित्य एवं चिद्रूप है। इससे भिन्न जो मन नाम की कल्पना की जाती है, उसका कहीं अस्तित्व नहीं है। वह तो केवल भ्रम ही है। यह भी दृश्य विकार अस्तित्वहीन हैं। इस जगत में कोई न जन्म लेता है और न कोई मृत्यु को प्राप्त होता है। यह सभी मिथ्या है। केवल सर्वव्याप्त, अव्यय, आभास रूप एवं चित्त के विकारों के अनुगत न होने वाले चिन्मात्र आत्मा का ही यहाँ अस्तित्व है। वह चिदात्मा नित्य, व्यापक, उपद्रव रहित, शान्त शुद्ध स्वरूप और निर्विकार भाव से शम रूप में स्थित है, उसमें जो चित्त स्वयं ही सङ्कल्पपूर्वक जाता है, चित्त की वही सङ्कल्प रूप अवस्था स्वयं निर्दोष होते हुये भी मन मन कही जाती है। इसलिए मन सङ्कल्प के द्वारा ही नष्ट हो जाता है ॥ ११५-१२१ ॥

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति।
नाहं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढ़ाद्बध्यते मनः।
सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढान्मुच्यते मनः ॥१२२
कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम्।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ॥१२३
नाहं दुखीं न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ॥१२४
नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम्।
इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ॥१२५
कथियतेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात्।

परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात् परमया धिया।
भोगेच्छां दूरस्तस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखो भव ॥१२६
मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम।
इतीयसिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति ॥१२७
मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम्।
अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि ॥१२८
कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः।
मदर्थ सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे ॥१२९
अहो नु चित्रं यत् सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्।
तिष्ठतस्तव कार्येषु माऽस्तु रागानुरञ्जनम् १३०
अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः।
अविद्यमाना याऽविद्या मया विश्वं खिलीकृतम्।
इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम् ॥१३१

अपने को ब्रह्म न मानना अथवा ब्रह्म से भिन्न मानना ही मन को बन्धन में डालने वाला है। इसके विपरीत 'ब्रह्म ही सब कुछ है' ऐसा सङ्कल्प मन को मुक्त कर देता है। अपने शरीर की चिन्ता करने और सांसारिक बातों पर ध्यान देने से ही प्राणी बन्धन में पड़ जाता है। परन्तु देह की चिन्ता से मुक्त और सांसारिक बातों से परे रहने वाला प्राणी सदा मुक्त रहता है। जो अपने को मांस-रक्त का पुतला न मानकर उससे भिन्न होने का भाव रखे, उसके अन्तःकरण से अविद्या का क्षय हो जाता है और वही प्राणी मुक्ति को प्राप्त होता है। अनात्म पदार्थों में आत्म-भाव रहना ही अविद्या जनित कल्पना है। इससे परे जो पुरुष अभ्यास और वैराग्य के सहारे से बुद्धिपूर्वक भोगेच्छा का यत्नात् दमन कर निर्विकल्प हो जाता है, वही सुखी है। मेरा रूप ममत्व वासना का ही रूप है तथा यह सब माया का ही खेल समझना

चाहिये, इसलिये सांसारिक मोह ममता रूप विकारों का त्याग कर देना चाहिये। हे पुत्र ! तुम अज्ञानी न बनो, अनात्म पदार्थ में आत्म-भावना करके रोना ही मूर्खता है। यह जड़ देह तुम्हारा कोई भी नहीं है। यह तो माँस-पिण्ड मात्र है। घोर अपवित्र और मूक है, इसके लिए व्यर्थ ही क्यों दुःख-सुख के चक्र में पड़े हो। कितना आश्चर्य है कि लोग परम सत्य ब्रह्म को भुला कर देह रूप जाल में फँस रहे हैं। हे मुने ! तुम ज्ञानवान् होओ। कर्तव्य कर्मों में लग कर भी मन को उन कर्मों में कभी भी लिप्त न होने दो। जो अविद्या अस्तित्वहीन है, उसी के द्वारा यह संसार अभिभूत हो रहा है मानो कमलनाल के तन्तुओं को रस्सी मानकर उनसे पर्वत बाँध दिये गये हों। तृण के समान जाग्रत, स्वप्न सुषुप्तावस्था वाला विश्व उस अविद्या के प्रभाव से ही वज्र के समान हो गया है ॥ १२२–१३१ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

पंचम अध्यायः

अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथातथम् ।
अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ॥१॥
पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः ।
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ॥२
शुद्धसन्मात्रसंवित्तः स्वरूपान्न चलन्ति ये ।
रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवाः ॥३
यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चैत्यार्थे चितिमज्जनम् ।
एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ॥४
अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः ।
सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥५

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥६

अहन्तांऽशे क्षते शान्ते भेद निष्पन्दचित्तता ।
अजडा या प्रचकति तत्स्वरूपमितीरितम् ॥७

ऋषिवर ऋभु कहते रहे—हे पुत्र ! मेरे वचनों को ध्यानपूर्वक सुनो । ज्ञान और अज्ञान दोनों की सात-सात भूमिकायें हैं । इनके मध्य में अन्य असंख्य भूमिकायें प्रकट होती हैं । अहंभाव स्वरूप के गिराने वाला है और स्वरूप में अवस्थित होने को ही मुक्ति कहा गया है । शुद्ध सत्ता रूप संवित आत्मा का रूप है, जो उससे हटती नहीं, उन्हें अज्ञान जनित राग द्वेप आदि दोषयुक्त विकार व्याप्त नहीं कर पाते । स्वरूप से गिरकर वासना के पीछे जो चित् में डूबना कहा गया है, उससे अधिक कोई अन्य मोह न हुआ और न कभी होगा । एक से दूसरे विषय में गमन करने वाले मन के मध्य में स्थित होने को स्वस्तमनन का रूप समझा जाता है । परन्तु संकल्पों के भले प्रकार शान्त हो जाने पर जो पापाणवत् निश्चेष्ट स्थिति होती है, उसे ही परा स्वरूप स्थिति कहते हैं । यह स्वरूप स्थिति शान्त, चेतन एवं भेदभाव रहित चित्त की अवस्था वाली होती है ॥ १–७ ॥

बीज जाग्रत् तथा जाग्रन्महाजाग्रत् तथैव च ।
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत सुषुप्तिकम् ॥८

इति सप्तविधो मोहः पुनरेप परस्परम् ।
श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं शृणु लक्षणमस्य तु ॥९॥

प्रथमं चेतनं यत् स्यादनाख्यं निर्मलं चित्तः ।
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥१०

बीजरूपं स्थितं जाग्रद् बीजजाग्रत् तदुच्यते ।
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्स्थितिं शृणु ॥११
नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम ।
इति यः प्रत्ययः स्वच्छस्तज्जाग्रत् प्रागभावनात् ॥११
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः ।
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम् ॥१३
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् ।
यज्जाग्रतो मनोराज्यं तज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते ॥१४
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णाऽऽदिभेदतः ।
अभ्यासं प्राप्य जाग्रत तन् स्वप्नो नानाविधो भवेत् ॥१५
अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि ।
परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते ॥१८
चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः ।
चिरकालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः ॥१७
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत् ।
षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः ॥१८
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्तिः सोच्यते गतिः ।
जगत् तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते ॥१९
सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मयाऽज्ञानस्य वै द्विज ।
एकैका शतसंख्याऽत्र नानाविभवरूपिणी ॥२०
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।
नानया ज्ञतया भूयो मोहपंके निमज्जति ॥२१

बीज जाग्रत अवस्था, जाग्रत अवस्था, महा जाग्रत अवस्था, जाग्रत स्वप्नावस्था, स्वप्नावस्था, स्वप्न जाग्रत अवस्था और सुषुप्तावस्था

इस प्रकार मोह के चार भेद है। परन्तु यह परस्पर मिल मिलकर अनेक रूप वाले हो जाते हैं। अब मैं इन सबके पृथक-पृथक लक्षण तुम्हारे प्रति कहता हूँ। प्रथम बीज जाग्रत अवस्था वह है जो नाम रहित, विकारहीन चेतन में चित् की होने वाली चित्त, जीव नाम शब्द और अर्थ की दृष्टि वाली अवस्था होती है। ज्ञाता की यह नवीन अवस्था है। इस अवस्था के पश्चात् जाग्रत अवस्था होती है। अपने अन्तर में तेरा मेरा के भावों की स्थिति ही मोह की यह द्वितीय अवस्था है। यह अतिरिक्त भावनाओं से पूर्ण होती है। महा जाग्रत अवस्था वह है जिसमें 'यह वह है' 'मैं यह हूँ अथवा यह वस्तु मेरी है' आदि पूर्व जन्मों के संस्कार सहित भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। जाग्रत स्वप्न अवस्था चौथी है। रूढ़ारूढ़ एवं मनोमय सृष्टि की अपना ही इसका रूप है। इसमें एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमाओं का आभास, सीप में चाँदी का आभास और मृग तृष्णा में जल का आभास होता है। इस प्रकार जाग्रत स्वप्न के अनेक प्रकार हैं। स्वप्नावस्था वह है जिसमें देखा हुआ दृश्य फिर दिखाई न दे और जागने पर मनुष्य को उस दृश्य की स्मृति मात्र ही रह जाय। इस स्वप्नावस्था के पश्चात् जो अवस्था होती है उसमें पूर्ण विकसित न हुआ स्वप्न जो विभिन्न कार्य कलापों के साथ देर तक टिके तथा जो जाग्रत के समान ही प्रकट हो अथवा जाग्रत अवस्था में ही स्वप्न दिखाई दे उसे ज्ञानीजन, स्वप्न जाग्रत कहते हैं। जब प्राणी इन छः अवस्थाओं को पार कर सकता है और जड़ात्मक स्थिति में अवस्थित होता है, उस विगत दुःख बोध वाली अवस्था को ही सुषुप्ति कहते हैं। ऐसी अवस्था में यह विश्व आंतरिक अन्धकार में छुप जाता है। हे ब्रह्मन् ! हे पुत्र ! मैंने तुम्हारे प्रति अज्ञान की यह सात भूमिकायें बतलाई हैं। इनमें से प्रत्येक भूमिका विविध ऐश्वर्यों वाली, विभिन्न अवस्थाओं के रूप में असंख्य रूप धारण करने वाली है। अब मैं तुम्हें ज्ञान की सात भूमिकाओं की बात सुनाता

हैं, उनका ज्ञान होने पर मनुष्य मोह रूपी कीचड़ में बारम्बार नहीं फँसता ॥ ८–२१ ॥

वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः ।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥२२
अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिका सप्तकात्परम् ॥२३
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाऽऽख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥२४
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् तयोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥२५
आसामन्तः स्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥२६
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥२७
सास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते स विचारणा ॥२८
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥२९
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥३०
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥३१
भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणाँ बाह्यानां पदर्थानामभावनात् ॥३२

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेननावबोधनम् ।
पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥३३
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् ।
यत् स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥३४
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम् ॥३५
ये निदाघ महाभागाः सप्तमी भूमिमाश्रिताः ।
आत्माऽऽरामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥३६
जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते ।
प्रकृतेनाथ कार्येण किंचित् कुर्वन्ति वा न वा ॥३७
पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् ।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः ॥३८
भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम् ।
प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छाऽऽदयोऽपि ये ॥३९
सदेहा वाऽप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः ।
ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति विमुक्तता ॥४०

योग-भूमिकाओं के अनेकानेक भेद ज्ञानियों ने कहे हैं, परन्तु मैं तो इन सात भूमिकाओं को ही अत्यन्त कल्याणमयी मानता हूँ। इन सात भूमिकाओं द्वारा प्रकट होने वाला अवबोध ही ज्ञान कहा जाता है। इन भूमिकाओं के अनन्तर होने वाली मुक्ति को ज्ञेय कहा गया है। प्रथम ज्ञान-भूमिका का नाम शुभेच्छा है। दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसी, चौथी सत्त्वापत्ति और पांचवीं असंसक्ति कही जाती है। छठवीं को पदार्थभावना और सातवीं को तुर्यगा कहते हैं। इन भूमिकाओं में पुनः शोक उत्पन्न न होने देने वाली मुक्ति विद्यमान है। मैं इनका विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ। वैराग्य धारण से पूर्व सांसारिक भ्रमजाल के प्रति ग्लानि उत्पन्न होना और शास्त्रादि के प्रति जिज्ञासा

का उदय होना, श्रेष्ठ कर्मों की इच्छा आदि को ही ज्ञानियों ने शुभेच्छा कहा है। इसके पश्चात् साधु-सङ्ग और शास्त्रों के अध्ययन आदि के द्वारा अभ्यास वैराग्य से युक्त सदाचरण की प्रवृति उत्पन्न होती है, उसे ही विचारणा कहा गया है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब विषयों के प्रति अनुराग क्षीण हो जाता है, वह अवस्था तनुमानुसी कही जाती है। जब इन तीनों भूमिकाओं का पूर्ण अभ्यास हो जाता है तब वैराग्य के प्रावल्य से चित्त शुद्ध सत्व स्वरूप में अवस्थित होता है। उस अवस्था को ही सत्वापत्ति कहा गया है। इन सब भूमियो का अभ्यास होने पर जो संसर्गहीन कला सत्वारूढ़ होती है, वही 'असक्ति' है। इन पाँचों भूमियों का अभ्यास होने पर अपने आत्मा में रमते रहने से और बाह्याभ्यांतरिक पदार्थों की भावना का नाश होने पर पदार्थ-भावना होती है। इन छः भूमिकाओं के पूर्ण अभ्यास के अनन्तर भेद-बुद्धि मिट जाती है और आत्मभाव में ही साधक एकनिष्ठ हो जाता है। उसकी यह अवस्था तुर्यगा कही गई है। इस अवस्था को जीवन्मुक्त पुरुष ही प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् विदेह मुक्ति वाली तुर्यातीत अवस्था प्राप्त होती है। जो अत्यन्त भाग्यशाली तुर्यगा भूमिका को ग्रहण कर लेते हैं, वे आत्मा में ही रमण करते हैं। ऐसे सन्त महान् पद को प्राप्त हो चुके हैं, जो जीवन्मुक्त हो गये हैं वे सुख दुःख के अनुभव से नितान्त दूर रहते हैं। वे कर्तव्य कर्मों में लगकर भी उनमें दूर रहते है, उनमें लिप्त नहीं होते। जैसे अपने साथियों द्वारा जगाये जाने पर मनुष्य सोकर उठ पड़ता है, वैसे ही वह श्रेष्ठ कर्मों में रत रहकर सनातन आचरण करते हैं। इन सात भूमिकाओं को मेधावीजन ही जानते हैं। यदि पशु और मलेच्छ आदि भी ज्ञान की इन भूमिकाओं को प्राप्त कर लें तो वे भी देह त्याग के पश्चात् मुक्त हो जाते है। हृदयग्रन्थियों का उद्घाटन ही ज्ञान है, जब इसकी प्राप्ति हो जाती है, तभी मुक्ति प्राप्त हो सकती है ॥२२-४०॥

मृगतृष्णाऽम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ।

ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम् ॥४१॥
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः ।
मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते ॥४२॥
सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्तश्च भूमिकाः ।
एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रम्हाभिधं पदम् ॥४३॥
त्वत्ताऽहन्ताऽऽत्मता यत्र परता नास्ति काचन ।
न क्वचिद्भावकलना न भावाभावगोचरा ।४४।
सर्व सान्तं निरालम्ब व्योमस्थं शावश्वतं शिवम् ।
अनामयमनाभासमनामकमकारणम् ॥४५॥
न सन्नासन्न मध्यं तन्न सर्वं सर्वमेव च ।
मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात् पूर्णं सुखात् सुखम् ।
असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् ।
सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते ॥४७॥

परम पद उन्हीं को मिलता है जो मोह रूप समुद्र से पार हो चुके हैं। जैसे मृगतृष्णा में जल का भ्रम उत्पन्न होता है वैसे ही अनात्म में आत्म बुद्ध का प्रादुर्भाव होता है, इसी को अविद्या कहा गया है और अविद्या नष्ट होना ही मुक्ति है । इन भूमिकाओं में वे पुरुष ही स्थित होते हैं जो आत्म साक्षात्कार के प्रयत्न में लगे हैं । मन की पूर्ण शान्ति के उपाय को योग कहा है । योग की सातों भूमिकाओं का वर्णन किया जा चुका है। इन भूमिकाओं का उद्देश्य ब्रह्मपद की प्राप्ति है। ब्रह्मपद वह है जिसमें मेरा-तेरा रूप अपने पराये का भेद-भाव नहीं होता। उस समय भगवान का न तो चिन्तन होता है और न भावात्मक बुद्धि ही शेप रहती है क्योंकि सांसारिक पदार्थों का अस्तित्व आत्म-संवेदन मात्र है, इससे भिन्न कुछ नहीं । आकाशस्वरूप शिव, शाश्वत, दोप-शून्य, आलम्बन-शून्य, कारण-रहित, अनिर्वचनीय, सद्-असत् से रहित, मध्य-अन्त से रहित, न सम्पूर्ण और सम्पूर्ण भी,

मन-वाणी से ग्रहण करने के अयोग्य, पूर्ण शान्त, सुख से भी अत्यन्त सुख-रूप तथा आत्मसाक्षात्कार रूप वह व्यापक ब्रह्म है। वह कभी संवेदन में नहीं आता ॥ ४१—४७ ॥

संबन्धे दृष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः ।
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम् ॥४८

देशाद्देशं गते चित्तो मध्ये यच्चेतसो वपुः ।
अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥४९

अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम् ।
अचेतनं चाजडत्वं तन्तयो भव सर्वदा ॥५०

जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत् ।
अमनस्कस्वरूपं तत् तन्मयो भव सर्वदा ।
चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥५१

पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात् ।
तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम् ।
शून्येन शून्यमपि विप्र यथाऽम्बरेण ।
नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम् ॥५२

संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति ।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः ॥५३

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् ।
अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥५४

साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि ।

निरिच्छं प्रतिविम्वन्ति जगन्ति मुकुरे यथा ॥५५
एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम् ।
इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ॥५६

रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला ।
यथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम् ॥५७

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत् ।
ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम् ॥५८
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किंचन ।
पश्य विश्रान्तिसंदेहं विगताशेपकौतुकम् ॥५९

द्रष्टा और दृश्य से सम्बन्धित मध्य में जो दृष्टि का स्वरूप होता है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से पृथक साक्षात्कार रूप से ही अवस्थित होता है। एक देश से दूसरी ओर जाने वाले चित्त के मध्य में जो स्थिति होती है, उसी में सतत तन्मय रहना चाहिये तुम्हारा सनातन स्वरूप जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से परे जड़ चेतन से शून्य में स्थित है, उसी में लीन रहो। जड़ता ही पाषाणरूपता है, उसके त्यागने पर जो अमनस्क स्थिति प्राप्त है, उसी में अवस्थित रहो। चित्त के दूरस्थ त्याग पर जो अवस्था हो वह ग्रहणीय है। परमात्मतत्व से मन का ही पहले आविर्भाव हुआ है। उसी मन के विकल्प रूप यह संसार प्रकट हुआ। शून्य भी शून्य को उत्पन्न करने वाला है। शून्य आकाश से ही सुन्दर दिखाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है। जब संकल्प का नाश हो जाता है तब चित्त की वृत्तियाँ गल जाती हैं और उसके परिणाम स्वरूप जगत का मोह रूप कुहरा भी गल जाता है। तब शरदागमन पर निर्मल आकाश के समान वह जन्मरहित, सभी प्राणी-पदार्थों का आदि और अनन्त एक चिन्मात्र रूप ही भासित होता है।

बिना रङ्ग आदि के और कर्ता के आकाश चित्रित हो रहा है। दृष्टा बिना, निद्रारहित स्वप्न दिखाई देता है। यह चिदात्मा समान रूप से स्वच्छ, निर्विकल्प, साक्षिरूप तथा दर्पण के समान निर्मल है, उसमें इच्छा के बिना ही तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे है। ब्रह्म सर्व स्वरूप, चिदाकाश स्वरूप, अखण्डित तथा एक है। ऐसी भावना करने से ही चित्त की चञ्चलता शान्त होती है। जैसे एक मोटी पाषाण शिला पर रेखा उपरेखाएँ खिची होती है, वैसे ही तीनों लोकों से युक्त ब्रह्म के दर्शन करने चाहिये। किसी अन्य कारण के अभाव में इस विश्व की उत्पत्ति ही नहीं हुई। चिन्मात्र के सिवा और कुछ नहीं है। ऐसा जानकर इस सम्पूर्ण सांसारिक माया से विरक्त होकर तथा संशय-रहित होकर केवल चिन्मात्र के दर्शन करो। अब जो जानना था, वह मैंने जान लिया, जो देखना था, उसे देख लिया और चिरकाल का थका मांदा मैं अब विश्राम को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ४८—५९ ॥

निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम् ।
त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्विषा ॥६०
महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ।
जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ॥६१
मननं त्यजतो नित्यं किंचित् परिणतं मनः ।
दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ॥६२
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः ।
विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरुकस्य जीवतः ॥६३
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि ।
अत्यन्तपक्ववैराग्यादरसेषु रसेष्वपि ॥६४
संसारवासनाजाले खगजाल इवाखुना ।

त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥६५
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति ॥६६

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव ॥६७
शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥६८

जो चित्तत्वहीन परम पद को पा चुके हैं और जो संकल्प जाल को व्यर्थ कर चुके हैं, वे दोषों से मुक्त हो जाते हैं और ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। जो मन को त्यागकर विमनस्क हो गये हैं, उनका शान्त चित्त उनकी मेधा को प्रवृद्ध करता है। जिनके मन की वृत्तियां नष्ट हो चुकी हैं और मानसिक संकल्पों के त्याग का अभ्यास करने से जिनका मन परिपक्व हो चुका है तथा जो वेदान्त के विचार में मननपूर्वक लगे रहते हैं, जो मुमुक्षरूप से देय और उपादेय दोनों प्रकार के पदार्थों का त्याग करते हैं, जो नित्य द्रष्टा और प्रपंच को न देखने वाले अद्रष्टा हैं, जो जानने योग्य परम तत्व में लगे रहकर जीवित हैं, जो रसमय तथा रस-हीन पदार्थों के प्रति अत्यन्त वैराग्य धारणपूर्वक मोहात्मक जगत के पथ में सुपुप्त बने हुये हैं, जिन्होंने वैराग्य की प्रबलता के कारण सांसारिक वासनाओं का सुनहरा पाश छिन्न-भिन्न कर डाला है और जिनके हृदय की गाँठें ढीली हो गई हैं, ऐसे ज्ञानी अपने स्वभाव के द्वारा उसी प्रकार शुद्ध हो जाते हैं, जैसे निर्मली फल से जल शुद्ध हो जाता है। जब वह मन पिंजड़े से मुक्त हुये पक्षी के समान मोह पाश से मुक्त हो जाता है तब अनासक्त, द्वन्द्वातीत, निरालम्ब और राग-रहित हो जाता है। जिनका दुरात्मभाव शान्त हो चुका है और जो प्रपंचात्मक विचार से विरक्त हो

चुके हैं, उनका चित्त पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सब प्रकार से शोभा पाता है ॥ ६०—६८ ॥

नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम् ।
इत्थं सदसतोर्मध्यं यः पश्यति स पश्यति ॥६९
अयत्नोपनतेष्वक्षिदृग्द्रव्येषु यथाः मनः ।
नीरागमेव पतित तद्वत् कार्येषु धीरधीः ॥७०

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेयि न चोरताम् ॥७१
अशङ्किताऽपि संप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः ।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते ॥७२

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टात्वाद्बहुमन्यते ॥७३
बन्धमुक्तो महीपालो ग्रासमत्रेण तुष्यति ।
परैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥७४

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥७५
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे ।
महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः ।
आकाशरशलाकाढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः ॥७६

प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥७७
तावन्निशीव वेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥७८

भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात् ।
सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः ॥७९
लालनात् स्निग्धललना पालनात् पालकः पिता ।
सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः ॥८०
स्वालोकितः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावितः ।
प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वाऽऽत्मान मनः पिता ॥८१
सुदृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः ।
स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः ॥८२
एनं मनोमणिं ब्रह्मन् बहुपङ्ककलंकितम् ।
विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान् भव ॥८३
विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च ।
इन्द्रियारीनलं छित्वा तीर्णो भव भवार्णवात् ॥८४

जो मनुष्य सत् असत् के मध्य से इस प्रकार देखता है कि न मैं यहाँ हूँ तथा अन्य कुछ भी यहाँ नहीं है, मैं सम्पूर्ण दोषों से रहित ब्रह्म हूँ" वही यथार्थ देखने वाला है। जैसे दर्शन, दृष्टा और दृश्यों की ओर विना राग के ही मन खिंच जाता है, वैसे ही ज्ञानीजन विना राग के ही कर्तव्य-कर्म करते रहते हैं। जैसे अनुग्रहीत चोर चौर्यकर्म को त्यागकर मैत्री निवाहता है, वैसे ही भले प्रकार विचार कर भोगा हुआ भोग संतुष्टि का कारण बनता है। जिस गाँव में जाने की कभी इच्छा भी नहीं की थी, उस गाँव के मार्ग पर अकस्मात आ जाने पर जिस प्रकार राहगीर उस मार्ग को देखता हुआ आश्चर्यान्वित होता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भोगात्मक ऐश्वर्यों को आश्चर्य से देखते हैं। नियंत्रित मन थोड़े से भोग को ही बहुत अधिक समझता हुआ उसे क्लेशप्रद मानकर पीछा छुड़ाना चाहता है। जिस राजा के लिए शत्रु द्वारा आक्रांत न होने पर राज्य के सभी भोग तुच्छ बने रहते हैं, वही राजा शत्रु के

वन्धन से छूटने पर भोजन के एक ग्रास से ही तृप्त हो जाता है। हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को चबाकर और अङ्गों से अङ्गों को भींचकर पूर्ण पराक्रम द्वारा मन को जीतने का यत्न करो। इस विश्व रूप सागर में मन को जीतने से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। इस घोर नरक में दुष्कर्म रूपी मदोन्मत्त गजराज विचरण कर रहे हैं। आशा रूपी अस्त्रों से सुसज्जित इन्द्रियरूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। जो चित्त के अहंकार का दमन करते हैं और इन्द्रिय-रूप शत्रुओं को जीत चुके हैं उनकी भोगलिप्सा हेमन्त में कमल क्षुप के नष्ट होने के समान ही नष्ट हो जाती है। वेतालरूपी वासना हृदय में तभी तक टिक सकती है, जब तक मन की एकाग्रता के अभ्यास द्वारा उस पर नियन्त्रण नहीं कर लिया जाता। विवेकी पुरुष अपने मन को भृत्य के समान आज्ञाकारी बना लेते हैं, वह उनके सभी प्रयोजनों का मन्त्री के समान पालन करते हैं। मैं समझता हूँ कि वह सम्पूर्ण इन्द्रियों को वशीभूत कर लेता है इसलिए सामन्त के समान भी है। मनन करने वाले पुरुष का मन लालन करने से स्नेहमयी ललना के समान और पालन करने से पिता के समान है। शास्त्र की अनुकूलता से और आत्मा-नुभव से प्राप्त प्रकाश और बुद्धि के द्वारा मन रूपी पिता परम सिद्धि का देने वाला है। आत्म गुणों से तेजस्विता को प्राप्त हुआ मन रूपी मणि हृदय में शोभा पा रहा है। यह सुदृढ़, स्वच्छ, अत्यन्त हृष्ट, भले प्रकार चैतन्य तथा भली भाँति नियन्त्रित है। यह विभिन्न प्रकार के कीचड़ों से मलीनता को प्राप्त हो रहा है। हे पुत्र! इस मन रूपी मणि को विवेक रूपी जल से स्वच्छ कर डालो। यही तुम्हें तेजस्विता प्रदान करेगी। विवेक के आश्रय से बुद्धि को सत्य का साक्षात् करने में लगाओ, इस उपाय से तुम्हारे इन्द्रिय रूपी शत्रु पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो जायेंगे और इसके फलस्वरूप तुम इस विश्व समुद्र से पार हो पाओगे ॥ ६९—८४ ॥

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः ।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः ॥८५
वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते ।
सा प्रसिद्धाऽतिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता ॥८६
धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि ।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा ॥८७
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम् ।
यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन् को न सिद्धिभाक् ॥८८
अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमच्युतः ।
नान्यदस्तीति संविद्या पर [प्रथ] मा सा ह्यहंकृतिः ॥८९
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं बालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति या संविदो ब्रह्मन् द्वितीयाऽहंकृति शुभा ॥९०
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥९१
पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः ।
अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः ॥९२
वर्ज्य इव दुरात्माऽसौ कन्दः संसारदुस्तरोः ।
अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति ॥९३
अनया दुरहंकृत्या भावात् संत्यक्तया चिरम् ।
शिष्टाहङ्कारवान् जन्तुः शमवान् याति मुक्तताम् ॥९४
प्रथमौ द्वावहङ्कारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ ।
तृतीयाऽहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुखःदायिनी ॥९५
अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः ।
स तिष्ठते तथाऽप्युच्चैः परमेवाधिरोहति ॥९६

संसार में आशा ही अनन्त दुःखों को उत्पन्न करने वाली है, केवल अनास्था ही सुख का सदन समझना चाहिए। वासना के सूत्र-बन्धन में बँधा हुआ वह विश्व पुनः-पुनः प्रकट होता है। वह वासना

अत्यन्त दुःखदायिनी होती हुई समस्त सुखों को समूल नष्ट करने वाली होकर आती है। वासना के पाश में अत्यन्त धीर, वीर कुलीन, महान् अथवा बहुश्रुत भी वैसे ही बंध जाते हैं, जैसे जंजीरों में सिंह बँध जाता है। ऐसा कौन-सा पुरुष है जो शास्त्रानुकूल आचरण और श्रेष्ठ कामों को करता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ? मैं सम्पूर्ण विश्वस्वरूप हूँ, अच्युत परमात्मा हूँ, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है. इस प्रकार का ज्ञानात्मक अहंभाव श्रेय माना गया है। 'मैं बाल के अग्रभाग से भी अत्यन्त सूक्ष्म हूँ और सम्पूर्ण प्रपच से परे हूं' इस प्रकार का अहङ्कारयुक्त भाव मुक्ति देने वाला है, बन्धन प्राप्त कराने वाला नहीं। जीवन्मुक्त पुरुष ही ऐसे अहंभाव से युक्त होते हैं। 'मैं हाथ-पांव आदि सहित शरीर वाला हूँ' यह लौकिक अहंकार अत्यन्त तुच्छ श्रेणी का है। अहङ्कार से ओत-प्रोत दुरात्मभाव वाला प्राणी ही दुःखदायी संसार-वृक्ष की जड़ है। इसके द्वारा ताड़ित जीव नीचे गर्त की ओर ही जाता है। इस तृतीय प्रकार के दुःखदायी अहङ्कार को छोड़कर श्रेष्ठ अहंभाव में लगने वाला प्राणी शमवान् होता हुआ कल्याण को पाता है। प्रारम्भ में प्रथम दो अहंभावों में लगकर तीसरे प्रकार के अहंभाव का त्याग करे और जैसे ही साधन शक्ति बढ़े, वैसे ही उन दोनों का भी त्याग कर निरहंकार वृत्ति धारण करे, इससे ही उच्च पद की प्राप्ति सम्भव है ॥८५—९६॥

भोगेच्छामात्र को बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते।
मनसोऽभ्युदतो नाशो मनोनाशो महोदयः।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि श्रृंखला। ९७
नानन्दं ननिरानन्दं नचलं नाचलं स्थिरम्।
नसन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञाननिमनो विदुः ॥९८
यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते।
तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते ॥९९

सर्वसङ्कल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता ।
सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा ॥१००
आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी ।
सकलाऽमलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी ॥१०१
नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति ।
न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित् ॥१०२
सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा ॥१०३
आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत् ।
पश्चात् सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥१०४
अज्ञस्यार्धं प्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥१०५
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः ।
नास्त्यविद्या मलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः ॥१०६
सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः ।
सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यां जगत्तथा ॥१०७

किसी प्रकार की भी भोगेच्छा हो, वह बन्धन स्वरूप ही है और भोगेच्छा का त्याग ही मुक्ति है । मन का नाश ही मनोन्नति का कारण है । मन का नाश भाग्यवान पुरुषों का ही होता है । ज्ञानी पुरुषों का मन नष्ट हो जाता है । ज्ञानी जन मन को न तो आनन्द मानते हैं और न आनन्दरहित । वे उसे चल, अचल, स्थिर, सत्, असत् अथवा उसके मध्य की अवस्था वाला भी नहीं मानते, परन्तु अज्ञानी जन मन के बन्धन में पड़े रहते हैं । सभी संकल्पों से परे और सब संज्ञाओं से रहित इस चिदात्मा को अविनाशी एवं स्वात्मा आदि कहा गया है । यह अखण्ड चेतन सत्ता सर्वव्याप्त होते हुए भी उसी प्रकार दिखाई नहीं देती जिस प्रकार चित् में स्थित आकाश सूक्ष्मता के कारण परिलक्षित

नहीं होता। ज्ञानी जन जिस चित्, चेतन सत्ता को आकाश से भी शतशः स्वच्छ और अवयवरहित देखते हैं, वह सम्पूर्ण निर्मल विश्व के रूप में केवल स्वयं को ही दिखाती है। वह सत्ता कभी उदय या अस्त को प्राप्त नहीं, वह गमनागमन से रहित है, न स्थिर रहती है और न उठती-बैठती है। वह वहां है न यहाँ है। वह तो अवलम्ब-रहित और विकल्परहित है। उसका स्वरूप निर्मल है। शम-दम आदि गुणों के द्वारा शिष्य के अन्तःकरण को शुद्ध करना गुरु का कर्तव्य है। फिर उसे ब्रह्मस्वरूप का बोध कराना चाहिए कि 'यह सब कुछ और तुम भी ब्रह्म रूप हो।' जो ज्ञान रहित तथा अर्द्ध विकसित बुद्धि वाला है उसके समक्ष 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा कहना उसे नरक रूप में ही धक्का देने के समान है। वेदान्त का उपदेश तो उसे ही देना चाहिए जिसकी भोगेच्छा नष्ट होकर बुद्धि जाग्रत हो गई है। जैसे दीपक से प्रकाश सम्भव है, सूर्योदय होने पर ही दिन की स्थिति है और पुष्प से ही सुगन्ध निकल सकती है वैसे चित्-चेतन् से संसार स्थित है। यथार्थ में तो इस संसार का अस्तित्व है ही नहीं, यह तो केवल आभास मात्र है। जब तुम्हारी दृष्टि आवरण रहित हो जायेगी और उसमें ज्ञान का प्रकाश भर जायगा, तब तुम स्वयं ही अपने रूप में स्थित हो जाओगे। उसी समय तुम्हें मेरे उपदेश की सार-असारता का भले प्रकार ज्ञान हो सकेगा ॥९७—१०७॥

प्रतिभासत एवेदं न जगत् परमार्थतः।
ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायाँ प्रबोधे विततोदये ॥१०८
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम्।
अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया ॥१०९
विद्या संप्राप्यते ब्रह्मन् सर्वदोषापहारिणी।
शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम् ॥११०
शम विष विषेणैति रिपुणा हन्तते रिपुः।

ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ॥१११
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति ।
नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया ॥११२
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा ।
भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत् ॥११३

श्रेष्ठ अविद्या स्वार्थ को नष्ट करने के लिये ही उद्यत है, उसी के द्वारा सर्वदोषनाशिनी विद्या प्राप्त होती है। अस्त्र ही अस्त्र को काटता है और मल से ही मल धुलता है। विष ही विष को नष्ट करने वाला है, शत्रु ही शत्रु का संहार करता है। इसी प्रकार यह भूत-माया अपने ही नाश द्वारा प्रसन्न होती है। इसका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। जब यह दिखाई देती है, तभी नाश को प्राप्त होती है। परन्तु इसे माया न मानकर सब कुछ ब्रह्म मानना ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। भेद का दिखाई देना ही अविद्या है, इसलिए भेद-दृष्टि का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ॥१०८—११३॥

मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते ।
कुतो जातेयमिति ते द्विज माऽस्तु विचारणा ॥११४
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा ।
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत् पदम् ॥११५
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम् ।
तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने ॥११६
यथैषा जन्मदुःखेषु न भयस्त्वां नियोक्ष्यति ।
स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः ॥११७
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम् ।
किंचित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्महार्णवे ॥११८
तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे ।
आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरति मारुतः ॥११९

तथैवात्माऽऽत्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवेति लोलताम् ।
क्षणं स्फुरित सा देवी सर्वशक्तितया तथा ॥१२०
देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः संप्रकर्षति ।
स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता ॥१२१
रूपं नरिमितेनासौ भावयत्यविभाविता ।
यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया ।१२२
तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः ।
विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियाऽऽस्पदम् ॥१२३
चितो रूपमिदं ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ।
वासनाः कल्पयन् सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः ।।१२४
अहङ्कारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते ।
बुद्धिः सङ्कल्पितकारा प्रयाति मननास्पदम् ॥१२५
मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः ।
पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः ॥१२६
एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः ।
दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नोचताम् ॥१२७
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम् ।
कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥१२८
स्वसंकल्पिततन्मात्रजालाभ्यन्तरवर्ति च ।
परां विवशतामेति श्रृंखलाबद्धसिंहवत् ॥१२९
क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित् क्रिया ।
क्वचिदेतहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम् ॥१३०
क्वचित् प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम् ।
क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित् कर्मेति संस्मृतम् ॥१३१॥
क्वचित्बन्ध इति ख्यातं क्वचित् पुर्यष्टकं स्मृतम् ।
प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संमतम् ॥१३२

इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् ।
दधदन्तः फलैर्हीनं वटधाना वटं यथा ॥१३३

हे पुत्र ! जो प्राप्त नहीं होता वह अक्षयपद कहा जाता है। माया की उत्पत्ति किसके द्वारा हुई, तुम्हें इसका विचार नहीं करना है। तुम्हें तो इस पर विचार करना चाहिये कि मैं इस माया को कैसे नष्ट करूँ ? जब यह क्षीण होकर नष्ट हो जाय, तभी अक्षय पद का ज्ञान पा सकोगे। यह जहाँ से प्रकट होती है, इसका जैसा स्वरूप है, जैसे यह नष्ट होगी इसका विचार करते हुये इस रोग के मूल की ही चिकित्सा करनी चाहिए, जिससे यह तुम्हें बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में न डाले और चित् रूपी समुद्र स्वयं में विभासित हो उठे। अपने अन्तर में यह दृढ़ भावना करे कि यह चित् सत्ता एक अखण्ड रूप की है। वह चित्-शक्ति चिन्मय रूप सागर में स्वल्प क्षोभ युक्त हो रही है। समुद्र में निर्मल चिन्मय तरंग ही लहरों के समान उठ रही हैं। वायु जैसे स्वयं ही आकाश सरोवर में लहरें मारता है, वैसे ही स्वात्मा में आत्मा तरङ्गित होता है। सर्व शक्ति सम्पन्नता के कारण ऐसी दिव्य स्फुरण क्षण भर के लिये होती है। जिस आत्मशक्ति को चलायमान करने में देश-काल और क्रियाशक्ति असमर्थ रहती है, वह आत्मशक्ति उच्च अनन्त पद में अवस्थित है। वह चित्-शक्ति जानी नहीं जाने से परिमित-सी होकर रूप-भावना वाली होती है। उस परम शक्ति में जब रूप की भावना होती है, तब उसके साथ नाम और संख्या आदि लग जाती है। चित् शक्ति का वह रूप देश, काल और क्रिया का आधार भूत है तथा विकल्प के रूप का धारण करने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। फिर वह भी वासनाओं की कल्पना से अहंकार का धारक होता है। निश्चयात्मक एवम् दोषयुक्त हुआ अहंभाव ही बुद्धि कहा जाता है। वही बुद्धि जब सङ्कल्प का रूप धारण करती है तब मन रूप हो जाती है और मन जब घोर विकल्प में पड़ जाती है, तब धीरे-धीरें इन्द्रिय रूप को प्राप्त होता है। मेधावी जन

हाथ-पाँव युक्त देह को ही इन्द्रिय बताते हैं। इस प्रकार सङ्कल्प और वासना की रस्सी में बँध जाने पर प्राणी दुःख-पाश में फँस कर अधोगति को पाता है। जैसे रेशम बनाने वाला कीड़ा अपनी इच्छा से बन्धन में पड़ता है, वैसे ही शक्तिमय चित् घोर अहंभाव को प्राप्त होकर बन्धन में पड़ जाता है। जंजीर में जकड़े हुये सिंह के समान अपने द्वारा ही कल्पित तन्मात्र रूपी पाश में रहकर यह चित्-शक्ति नितांत विवश हो जाती है। यह आत्मा ही कहीं अहंकार रूप से और कहीं चित् के नाम से जाना जाता है। उसे ही कहीं मन, कहीं बुद्धि और कहीं ज्ञान कहा गया है। वही कहीं क्रिया है, कहीं प्रकृति और मन कहा जाता है। इसे कहीं पुर्यष्टक और कहीं बन्धन कहा गया है। यह कहीं इच्छा है तो कहीं अविद्या। यही आशारूप पाश का निर्माता सम्पूर्ण जगत को वैसे ही धारण करता है, जैसे बिना फल का वट बीज वट के वृक्ष को धारण करता है॥ ११४-१३३ ॥

चिन्ताऽनलशिखादग्धं कोपाजगर चर्वितम् ।
कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम् ॥१३४
समुद्धर मनो ब्रह्मन् मातङ्गमिव कर्दमात् ।
एवं जीवाश्चितो भावा भवभावनयाऽऽहिताः ॥१३५
ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ।
संख्याऽतीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः ॥१३६
उत्पन्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात् ।
केचित् प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ॥१३७
केचित् च्चासंख्यजन्मानः केचित् द्वित्रिभवान्तराः ।
केचित् किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ॥१३८
केचिदर्केन्दुवरुणास्यक्षाधोक्षपद्मजाः ।
केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ॥१३९

केचित्तृणौपधीवृक्षफलमूलपतंगकाः ।
केचित् कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः ॥१४०
केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः ।
केचित् क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः ॥१४१॥
केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः ।
विहरन्त्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥१४२
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः ।
भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे ॥१४३
पतन्ति केचिदवुधाः संप्राप्यापि विवेकिताम् ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः ॥१४४
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः ।
तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम्ः ॥१४५
मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम् ।
कलयन्ती मनः शक्तिरादौ भावयति क्षणात् ॥१४६
आकाशभावनामच्छां शब्दवीजरसोन्मुखीम् ।
ततस्तद् घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः ॥१४७
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम् ।
ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः ॥१४८
शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः ।
रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह संमितम् ॥१४९
मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम् ।
क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत् ॥१५०
ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात् ।
गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत् ॥१५१

अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत् ।
वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरित व्योम्नि पश्यति ॥१५२
अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम् ।
तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम् ॥१५३
तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः
स्थूलतामेति पाकेन मनो विल्वफलं यथा ॥१५४
मूपास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे ।
संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः ॥१५५
ऊर्ध्वं शिरः पिण्डमयमधः पादमयं तथा ।
पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम् ॥१५६
कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम् ।
बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः ।
स एव भगवान् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥१५७

हे ब्रह्मन् ! जैसे हाथी कीचड़ में फँस जाता है, वैसे ही यह मन चिन्तारूपी अग्नि की ज्वाला से जलाया हुआ, क्रोधरूप अजगर द्वारा काटा हुआ और कामरूपी समुद्र के भंवर जाल में पड़ा हुआ है। यह अपने पितामह आत्मा को भी भूल गया है इसलिये इसी का सर्वप्रथम उद्धार करो। जीव के आश्रित हुये अनेक भाव लाखों, करोड़ों भेदों में ब्रह्म के द्वारा कल्पित होकर उत्पन्न हुए और हो रहे हैं। जैसे निर्झर में जल-कणों की उत्पत्ति होती है वैसे ही यह भविष्य में भी होते रहेंगे। कुछ भाव तो सैकड़ों बार उत्पन्न हो चुके हैं, कुछ असंख्य बार उत्पन्न हुये हैं, कोई दो-तीन बार ही उत्पन्न हुये और कुछ तो ऐसे हैं जो प्रथम बार ही जन्म ग्रहण कर रहे है। इन सबने विभिन्न नामरूप धारण किये हैं। कोई सूर्य, चन्द्रमा, हरि, शिव, वरुण, ब्रह्मा आदि के रूप में है तो कोई किन्नर, यक्ष, गन्धर्व और नाग रूप में प्रकट हुये है।

कुछ ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि नाम धारण किया है। कोई ताड़, तमाल, कदम्ब, नींबू, आम, तृण औषधि वृक्ष, मूल, पत्र एवं फल बन गए हैं, तो कोई विभिन्न पर्वतों के आकार में स्थित होकर मन्दर, मेरु, मलय, महेन्द्र आदि कहे जाते हैं। कोई जल-राशि के रूप में, कोई समुद्र, दूध, घृत, इक्षु-रस आदि के रूप में स्थित हुये हैं। कुछ ने महती दिशाओं का रूप धारण किया है तो कोई अत्यन्त वेगवाली नदी के रूप में प्रवाहित हो रहे हैं। जैसे हाथ से गेंद को बारम्बार गिराते हुये उछालते हैं उस प्रकार कुछ को मृत्यु बारम्बार ताड़ित करती है। अनेकों ऐसे हैं कि आकाश में उठते और फिर नीचे गिर जाते हैं। अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो विवेकी होकर भी अच्छे कर्म नहीं करते और हजारों जन्म भोग लेने पर भी उनका आवागमन नहीं मिटता। आत्म-तत्व जब दिशा और काल के प्रभाव से तथा अपनी शक्ति के द्वारा देह धारण करता है तब वही वासना से प्रभावित सङ्कल्पों की ओर जाने वाले चंचल मन के रूप में हो जाता है। यह सङ्कल्पों से ओत प्रोत मन शक्ति क्षण भर में ही स्वच्छ आकाश की भावना वाली हो जाती है उसमें शब्द रूप बीज के अंकुर फूटते हैं। फिर वही मन अधिक घनीभूत होकर स्पन्दन क्रम के कारण वायु-स्पन्दन के भाव में रमता है। उसमें स्पर्श रूप बीज के अंकुर लगते हैं। फिर दृढ़ अभ्यास से शब्द-स्पर्श रूप आकाश की उत्पत्ति होती है और वायु की टक्कर से अग्नि प्रकट होता है। वह अग्नि रूप तन्मात्रा के सहयोग से त्रिगुणात्मक हो जाता है और उन तीनों गुणों के साथ मिलकर मन रस-तन्मात्रा की भावना करता है। उस समय वह जल के शीतल गुण का चिन्तन करता हुआ जल का अनुभव करने लगता है। फिर वह चार गुणों वाला होकर गंध तन्मात्रा मय होकर पृथिवी का अनुभव करता है। इस प्रकार पांचों तन्मात्राओं से युक्त होकर वह अपनी सूक्ष्मता त्याग कर आकाश में अग्नि की चिङ्गारियों के रूप में स्फुरित होते हुये शरीर को देख पाता

है। वह शरीर ही अहङ्कार कलाओं से युक्त और बुद्धिबीज से समन्वित पुर्यष्टक कहा गया है। वह प्राणियों के हृदय कमल में मँडराने वाले भौरे के समान है। जैसे पाक कराने पर विल्वफल स्थूलता को प्राप्त होता है वैसे ही उस सूक्ष्म शरीर में तीव्र संवेगात्मक तेजस्वी शरीर की भावना होने पर स्थूल हो जाता है। वह तेज उस स्वच्छ आकाश में मूषा में लगाये हुये सोने के समान स्फुरित होता और अपने स्वभावानुकूल ही गठित हो जाता है। वह ऊपर सिर के समान, नीचे पांवों के समान, पार्श्वों में भुजाओं और मध्य में उदर के समान होता जाता है। इस प्रकार पूर्ण शरीर को प्राप्त हो जाता है। वही शरीर बुद्धि, बल, वीर्य, उत्साह, विज्ञान एवं वैभव से सम्पन्न हुआ सब लोकों का पितामह ब्रह्मा बन जाता है ॥ १३४–१५७ ॥

अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम् ॥१५८
चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः ।
एतस्मिन् परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि ॥१५९
अदृष्टापारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति ।
इति चिन्तितवान् ब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक् ॥१६०
अपश्यत् सर्गबृन्दानि समतीतान्यनेकशः ।
स्मरत्यथो स सकलान् सर्वधर्मगुणक्रमात् ॥१६१
लीलया कल्पयामास चित्राः संकल्पतः प्रजाः ।
नानाऽऽचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा ॥१६२
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये ।
अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत् ॥१६३
विरिञ्चरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः ।
तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात् ॥१६४
न जायते न म्रियते क्वचित् किंचित कदाचन ।

परमार्थेन विपेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते ॥१६५
कोशमाशाभुजंगानां संसाराडम्बरं त्यज ।
असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभाव निवेशय ॥१६६
गन्धर्वनगरस्यार्थे भूपितेऽभूपिते तथा ।
अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः ॥१६७
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टता ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥१६८
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः ।
तैरेव भोगैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥१६९
अतो निदाघ तत्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः ।
नष्टं नष्टंपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥१७०
अनागतानां भोगानाभवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम् ॥१७१
शुद्धं सदतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वाऽवलम्ब्य च ।
सवाह्यभ्यन्तरं दृश्यं भा गृहाण विमुञ्च मा ॥१७२
यस्य नेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः ।
न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः ॥१७३
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्वदते हृदि वै द्विज ।
तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात् ॥१७४
उच्चैः पदाय परया प्रज्ञया वासनागणात् ।
पुष्पाद्गंधमिवोदारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु ॥१७५

इस प्रकार प्रकट हुये ब्रह्मा जी भूत, भविष्यत, वर्तमान के प्रत्यक्ष देखने वाले हैं। उन्होंने अपने सुन्दर देह को देखकर विचार किया कि इस चिन्मात्र रूपी परमाकाश का आदि अन्त नहीं दिखाई देता। इसमें

सर्व प्रथम क्या हो ?' ऐसा विचार करते हुये उनकी आत्म-दृष्टि चैतन्य हुई और उन्हें अतीत में हुई सृष्टि के अनेकों सर्ग दिखाई दिए। उससे उन्हें सब धर्मों और गुणों के क्रम याद हो आए। उन्होंने अपने संकल्पों के द्वारा ही लीला पूर्वक विभिन्न प्रकार के रङ्गरूप और आचार विचार वाली प्रजा को उत्पन्न किया। उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिये उन्होंने चित्र-विचित्र पदार्थों पद्धतियों, शास्त्रों और स्वर्ग नरकादि की कल्पना की। हे पुत्र! यह मन ही ब्रह्मरूप है, क्योंकि कल्पना द्वारा संसार के स्थित होने के कारण ब्रह्मा के जीवन के साथ ही इसका जीवन है। जब ब्रह्मा की आयु समाप्त होती है, तब यह मन भी समाप्त हो जाता है। हे ब्रह्मन्! यथार्थ में तो न कहीं कोई जन्म लेता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है। यह जो कुछ दिखाई देता है वह सब मिथ्या है। यह संसार प्रपंच आशारूपी सर्पिणियों की पिटारी मात्र है, इसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। इसे असत् जानकर मातृ-भाव में अवस्थित होना उचित है। गंधर्व नगर सुसज्जित या असज्जित कैसा भी क्यों न हो, तुच्छ ही है। उसी के समान अविद्या के अंश रूप यह पुत्र, पत्नी आदि भी तुच्छ ही हैं। फिर इनके कारण सुख-दुःख मानने से क्या लाभ है? धन, स्त्री आदि सब कुछ प्रपंच हैं, इनकी वृद्धि दुःख का ही कारण है। इसमें संतोष मानना ही निरर्थक है। मोह-माया की वृद्धि होने पर कोई भी सुख-शान्ति नहीं पा सका। जो वस्तुएँ अज्ञानी पुरुष को सुखमय प्रतीत होती है, उन्ही वस्तुओं के प्रति ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं। इसलिये हे पुत्र! तुम तत्वज्ञानी हो, जागतिक व्यवहारों में जिस-जिस का अभाव होता जाय उसकी इच्छा मत करो और जो-जो सहज प्राप्त हो, उसे ग्रहण करते रहो। अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना और प्राप्त भोगों का उपभोग करना, यही पाण्डित्य है। सत्-असत् के मध्य शुद्ध पद का ज्ञान पाकर उसका अवलम्बन करना और बाह्याभ्यांतरिक दृश्यों का न ग्रहण करना और न त्याग करना,

यही कर्म है। जैसे कीचड़ में कमल पत्र पड़ा रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही इच्छा और अनिच्छा को समान मानने वाले ज्ञानी-जन कर्म में लिप्त रहते हुए भी अपनी बुद्धि को उनमें लिप्त नहीं होने देते। यदि तुम्हारे हृदय में इन्द्रियों से युक्त विषय स्पन्दन नहीं करते, तो अवश्य ही तुम जानने योग्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करके जगत रूप समुद्र से पार हो गए। वासनारूपी पुष्पों की सुगन्ध लेकर भी यदि उससे चित्तवृत्ति को शीघ्र हटा लिया जाय तो उच्चपद की प्राप्ति संभव है ॥१५८--१७५॥

संसाराम्बुनिधावस्मिन् वासनाऽम्बुपरिप्लुते।
ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे ॥१७६॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥१७७॥
अनन्तस्यात्मतत्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः।
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत् सङ्कल्पाङ्कुरं विदुः ॥१७८॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः।
याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्यायमेधयत् ॥१७९॥
भावयन्ति (न्तीं) चितिश्चैत्य व्यतिरिक्तमिवात्मनः।
सङ्कल्पतामिवायाति वीजमङ्कुरतामिव ॥१८०॥
संकल्पन हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते।
वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाययत् ॥१८१॥
मा सकल्पय संकल्प मा भावं भावय स्थितौ।
संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति ॥१८२॥
भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्।
संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने ॥१८३॥

छित्वा स्वात्मिनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ।
यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥१८४॥

तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा ।
नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम् ॥१८५

जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम् ।
नश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान् भव ॥१८६

यह संसार-सागर वासनारूपी जल से परिपूर्ण है। जो ज्ञानी पुरुष प्रज्ञा रूप नाव पर चढ़ गए, वे इससे पार हो गए। जो पुरुष इस सांसारिक प्रपञ्च के ज्ञाता हैं, वे न तो संसार के व्यवहारों की आकांक्षा करते हैं और न उसका त्याग ही करते हैं। वे सभी व्यवहारों में अनासक्त रहते हैं। विद्वानों ने संकल्प का अंकुरित होना आत्मतत्व रूप चेतन का विषयों की ओर दौड़ने को ही माना है क्योंकि संकल्प धीरे-धीरे दृढ़ होते जाते हैं और तब उनसे चित्तकाश आच्छन्न होकर जड़त्व को प्राप्त होता है। जैसे बीज अंकुर रूप होने लगता है, वैसे ही चेतन-विषयों को अपने से पृथक-सा मानते हुये वह संकल्प रूप में स्थित होता है। संकल्प के द्वारा उसकी क्रिया स्वयं ही प्रकट होती है और जल्दी-जल्दी वृद्धि को प्राप्त होने लगती है। परन्तु वह क्रिया सुख देने वाली नहीं होती, बल्कि दुःख ही देती है। इसलिये हे पुत्र ! अपने चित्त में होने वाली संकल्प की क्रिया का अवरोध करो। यदि संकल्प उत्पन्न भी तो उसमें पदार्थ भावना न करो क्योंकि जो संकल्प को नष्ट करने के लिये कटिबद्ध है, वे उसको क्रियात्मक नहीं होने देते। यदि भावना नष्ट हो जाय तो संकल्प भी स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। मन के द्वारा मन को जीतो और संकल्प के द्वारा संकल्प को नष्ट कर डालो। इस प्रकार आत्म-स्वरूप में स्थित होकर उद्योगी पुरुष बनने की चेष्टा करो। आकाश के समान यह संसार भी शून्य

है। जैसे तांबे की कालोंच अथवा धान का छिलका प्रयत्न द्वारा पृथक किया जाता है, वैसे ही मनुष्य का मल-दोष क्रिया द्वारा ही नष्ट होना सम्भव है ॥१७६--१८६॥

॥ पंचम अध्याय समाप्त ॥

षष्ठ अध्याय

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम् ।
योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिन् लीलया विहरानघ ॥१
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयाऽनया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवाशिष्यते ॥२
खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया ।
स्वसंकल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥३
समताः सर्वभावेषु याऽसौ सत्यपरा स्थितिः ।
तस्यासवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥४
अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥५
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्यज ।
चिन्मनः कलनाऽऽकारं प्रकाशतिमिरादिकम् ॥६
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम् ।
समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥७
हृदयात् संपरित्यज्य सर्वां वासनापङ्क्तिकाम् ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥८
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश ।
युक्त्या वै चरतोऽज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ॥९

सबाह्याभ्यान्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममय जगत ॥१०॥

हे पाप-रहित ! अन्तर की आस्था और भाव रूप सम्पत्ति का त्याग करके, अपने यथार्थ रूप मे इस संसार में विचरण करो और स्वयं को सर्वत्र अकर्त्ता मानो, ऐसा करने से अमृता नाम वाली समता ही अवशिष्ट रहती है । भेद और उल्लास यह दोनो हो मनुष्य द्वारा स्वयं उत्पन्न किये हुये हैं । ऐसा समझ लेने पर समता ही शेष रहेगी । समता की यथार्थ स्थिति के भले प्रकार धारण कर लेने पर फिर आवागमन का कारण समाप्त हो जाता है । अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का त्याग कर डालो और मन का पान कर अपने यथार्थ रूप में स्थित हो जाओ । अन्त में सबका त्याग कर समाधिस्थ हो जाओ । चेतन ही प्रकाशरूप है और वही अन्धकार बन जाता है, क्योकि वही मानसिक संकल्प का रूप धारण कर लेता है, इसलिए वासना के कारण का भूल सहित त्याग करके आकाश के समान स्वच्छ और शान्त मन वाले बनो । मुक्त वही जो हार्दिक रूप से सब वासनाओं को त्याग देता है और किसी प्रकार की आकुलता को मन में नहीं टिकने देता । वह भ्रान्ति के वश में पड़ कर दसों दिशाओं में चक्कर काटते हुये द्रष्टव्य पदार्थों को देखने में समर्थ है । देह के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सर्वत्र आत्मा है, उसके लिए यह विश्व अनात्ममय कभी नहीं होता । अपितु जो लोग प्रयत्नपूर्वक सदाचार में रत रहते हैं वे ज्ञानी पुरुष इस संसार सागर को सहज में ही तरने योग्य बना लेते हैं ॥१-१०॥

न तदस्ति न यत्राहं य तदस्ति न तन्मयम् ।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ॥११॥

समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम् ।
अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजनघ ॥१२॥

तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः ।
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जराऽस्ति न जन्म वा ॥१३॥
यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा ।
यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात् ॥१४॥
त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा ।
यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमाश्वेव महामते ॥१५॥
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ।
विरक्तमनसां सम्यक् स्वप्रसङ्गादुदाहृतम् ॥१६॥
द्रष्टृदृश्यसमायोगात् प्रत्ययानन्दनिश्चयः ।
यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे ॥१७॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं समुपास्महे ॥१८॥
द्वयोर्मध्यगगं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः ।
प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे ॥१९॥
संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥२०॥
उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन् पुनः पुनः ।
हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ॥२१॥

हे पाप रहित-निदाघ ! मैं अन्य हूँ और यह अन्य है, इस प्रकार की भ्रांति त्याग देने योग्य ही है। जहाँ मैं नहीं हूँ, वह स्थान नहीं है, उस वस्तु का भी अभाव है, जो आत्ममय नहीं हो। यह सभी कुछ सत् और चिन्मय है तो मैं अन्य किस वस्तु की अभिलाषा करूँ ? यह सभी कुछ आत्मा है, यह निश्चय ही ब्रह्म है। इसमें शोक, मोह, जरा, जन्म कुछ भी नहीं है। इस नित्य सच्चिदानन्द घन परमेश्वर में कल्प-

नात्मक भावों की संभावना नहीं है । जो आत्मतत्व में है, वही सब कुछ है । इसलिए कहीं भी, किसी भी वस्तु की कामना न करते हुए जो सहज में ही प्राप्त हो जाय, उसको निर्लिप्त भाव से भोगता रहे । न किसी का त्याग और न ग्रहण, इस प्रकार विकार रहित रहो । हे पुत्र ! जिस पुरुष का यह जन्म अन्तिम अर्थात् जिसका आगे जन्म नहीं होना है उस पुरुष में श्रेष्ठ जाति के मुक्ता के समान स्वच्छ विद्या प्रविष्ट होती है । जिनके चित्त में वैराग्य का समावेश है उनके द्वारा भले प्रकार अपने अनुभव द्वारा यह मत व्यक्त किया जाता है कि द्रष्टा को दृश्य के द्वारा जिस सुख की अनुभूति होती है, वह आत्मतत्व से उत्पन्न हुआ स्पन्दन ही है और हम उसी का भले प्रकार से उपासना करते हैं । अस्ति और नास्ति के मध्यस्थ, प्रकाशों के भी प्रकाशक आत्मा के हम उपासक हैं । वह आत्मा हमारे हृदय में महेश्वर रूप में स्थित हैं । जो व्यक्ति उस शाश्वत आत्मा को छोड़कर अन्य वस्तुओं की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, वे अपनी हस्तगता कौस्तुभ मणि का परित्याग कर अन्य रत्न की कामना करते है । यह इन्द्रिय रूपी शत्रु सबल हों या बलहीन, विवेक रूपी दण्ड से बारम्बार ताडन करने योग्य हैं । जैसे इन्द्र अपने वज्र के प्रहार द्वारा बड़े-बड़े पर्वतों को भी गिरा देते हैं, वैसे ही विवेक बुद्धि के द्वारा इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को उठने न देना चाहिए ॥११-२१॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे ।
सर्वतवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥२२॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहृतः ।
शेषे कलत्रचिन्ताऽऽर्तः किं करोति नराधमः ॥२३॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता ।
सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥२४॥
येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ ।

तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥२५॥
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥२६॥
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः ।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हृतः ॥२७॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भवः ।
हेयादेयदृशो त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥२८॥
निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता ।
निरीहृता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥२९॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषता ।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥३०॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम् ।
संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥३१॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्दि बुद्धिशलाकया ।
वात्ययेवाम्बुद जालं छित्त्वा तिष्ट तते पदे ॥३२॥

यह देह रूप भ्रम संसार रूप रात्रि में दुःख स्वप्न के समान है और इसका प्रसार भी पवित्रता से परे है । बाल्यकाल में अज्ञान घेरे रहता है और युवावस्था में नारी के नयन बाण द्वारा मारा हुआ रहता है, तो अन्तकाल में ही यह स्त्री पुत्रादि की चिन्ता में रत रहने वाला अधम अपना क्या उपकार कर सकता है ? सत् के ऊपर असत् का बोलबाला है, रमणीयता पर कुरूपता चढ़ी हुई है, सुख के ऊपर दुःख है तब मुझे किसकी शरण लेनी चाहिये ? जिनके निमेष और उन्मेष में संसार का अन्त और उत्पत्ति निहित है, वैसे पुरुष भी जब काल कलवित हो जाते हैं, तब मेरे जैसे तुच्छ पुरुषों की तो बात ही क्या है । जिस संसार को दुःखों की अन्तिम परिधि माना गया है, उस संसार में पड़े रहने वाला देह सुख का रस कैसे चख सकता है । मेरी आत्मा को चुराने वाला चोर

मेरा यह दूषित मन ही है। इससे मुझे न जाने कब का चुरा लिया है? अब मैं जान गया हूं। इसलिए इसका संहार कर डालूंगा। हेय पदार्थों के लिए दुःखित होने से कोई लाभ नहीं और उपादेय पदार्थों में भी आसक्ति रखना व्यर्थ है। इसलिए हेय और उपादेय की भेद-दृष्टि का त्याग करके शेष में ही अवस्थित हो जाओ क्योंकि ज्ञानी पुरुष में नित्यता अभिज्ञता, समता, निष्क्रियता, निष्कामना, सांसारिक विकारों में निराशा, निर्विकल्पता, सौम्यता, मृदुता, धृति, मैत्री, सन्तोष और मिष्ट भाषण आदि गुण विद्यमान रहते है। तृष्णा रूपिणी भीलनी ने वासना रूपी जाल फैला दिया है, उसमें तुम फँस गये हो। यह मृग मरीचि-कात्मक जल चिन्ता रपिणी रश्मियों द्वारा सब ओर फैला दिया गया है। हे पुत्र! इस माया को ज्ञानरूपी तीक्ष्ण अस्त्र से काट कर अपने व्यापक रूप में उसी प्रकार स्थिति होओ, जिस प्रकार वबंडर मेघों के जाल को काट डालता है ॥ २२—२३ ॥

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम् ।
पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥२३
तिष्ठन् तच्छन् स्वपन् जाग्रन्निवसन्नुत्पतन् पतन् ।
असदेवेदमित्यन्तर्निश्चित्यास्थां परित्यज्य ॥३४
दृश्यमाश्रयसीदं चेत् तत् सचित्तोऽसि बन्धवान् ।
दृश्यं संत्यजसीदं चेत् तदचित्तोऽसि मोक्षवान् ॥३५
नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः ।
आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे ॥३६
दर्शनाख्यं स्वात्मनंः सर्वदा भावयन् भव ।
स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ॥३७
स्वदनं केवलं ध्यायन् परमात्ममयो भव ।
अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव ॥३८

रज्जवुद्धा विमुच्यन्ते तृष्णावद्धा न केनचित् ।
तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्वज संकल्पवर्जनात् ॥३९

एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्वाऽनहंभावशलाकयैव ।
स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव प्रशान्ताखिलभूत-
भीतिः ॥४०

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाहमेभिर्विना कश्चिन्न मयैते विना किल ॥४१

इत्यन्तर्निश्चयं त्वक्त्वा विचार्य मनसा सह ।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥४२

अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम् ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन् प्रकीर्तितः ॥४३

जैसे वृक्ष के बेंटे में लगी हुई कुल्हाड़ी वृक्ष को ही काट डालती है, वैसे ही मन से मन को काट कर पवित्र पद में अवस्थित होओ। उठते-बैठते, चलते, खड़े होते, सोते, जागते आदि सभी स्थितियों में सब को असत् रूप मानने हुए दृश्य पदार्थों से आस्था को हटालो क्योंकि दृश्य का आश्रय लेने मात्र से चित्त युक्त बन्धन में पड़ना होता है। दृश्य का त्याग कर देने मात्र से चित्त-शून्यता के कारण मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी होते हो। 'न ससार है और न मैं हूं' इस प्रकार की भावना करते हुए पर्वत के समान दृढ़ हो जाओ। आत्मा और विश्व के मध्य तथा दृश्य के मध्य भी स्वयं को दर्शन रूप आत्मा ही मानो। स्वादयुक्त पदार्थ तथा उसे चखने वाले से और इन दोनों के मध्य में स्थिति केवल स्वाद का ध्यान करते हुए परमात्ममय होकर रहो। यह ध्यान रखो कि रस्सी के बन्धन में पड़े हुए तो छूट जाते हैं, परन्तु तृष्णा से बन्धन में पड़े प्राणी किसी प्रकार भी नहीं छूटते। इसलिए इस पापमयी तृष्णा को छिन्न-भिन्न कर डालो क्योंकि यह अहङ्कार वाली और संकल्पमयी

है। अहंभाव शून्यता ही इसके काटने वाला महान् अस्त्र है। जिस जन्म-मरण के भीषण भय में सभी प्राणी डूबे रहते हैं; उससे अभय होकर परमार्थ लोक में घूमो। ध्येय वही है जिसमें शान्त मन के द्वारा विचार करते हुए वासना त्याग दी जाती है। तुम भी 'यह पदार्थ मेरे नहीं हैं और न मैं इन पदार्थों का कुछ हूँ' ऐसी भावना द्वारा निरालम्ब अवस्था में स्थिति होओ ॥ ३३—४३ ॥

सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥४४

अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥४५

निर्मूलं कलानां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः ।
नेयत्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥४६
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ ।
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ ॥४७

संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर ।
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिवृत्तिषु ॥४८
सुषुप्तवद्यश्चरति स जीव मुक्त उच्यते ।
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ॥४९
न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः ।
बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते ॥५०
सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते ।
इदमस्तु ममेत्य तमिच्छां प्रार्थनयाऽन्विताम् ॥५१
तां तीक्ष्णां शृंखलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम् ।
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ॥५२

संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः ।
बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि ।।५३

समत्व बुद्धि के द्वारा जो पुरुष वासना को सर्वथा क्षीण करके ममत्व रहित हो जाता है, उसी से देह का बन्धन भी त्यागा जा सकता है। इसलिए वासना को नष्ट कर देना परम कर्तव्य है। जीवन्मुक्त उसी को कहते हैं जो अहंकारात्मिका वासना का सहज ही त्याग कर, ध्येय वस्तु का भी त्याग कर देता है। संकल्प रूपिणी वासना का समूल त्याग ही शांति-लाभ कराने वाला है। जीवन्मुक्त पुरुष ही वैसा त्याग करने में समर्थ है और वही पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ कहा जाता है। ऐसे ही मनुष्य संसार के संतापों से मुक्त होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त होते हैं। योगी जन शम और दम से युक्त होने के कारण समय-समय पर प्राप्त होने वाले सुख-दुःखों में लिप्त नहीं होते। इच्छा और अनिच्छा दोनों से ही जो रहित हैं और जो सुषुप्त के समान व्यवहार करने वाला है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिस पुरुष में वासना का अभाव है वह काम, क्रोध, मोह, हर्ष, अमर्ष और भय आदि के वशीभूत होकर सुख-दुःख को नहीं मानता। बाह्य विषयों से आविर्भूत तृष्णा बन्धन में डालने वाली है और सब प्रकार से विषय वासनाओं से शून्य तृष्णा मुक्ति प्राप्त कराने वाली है। किसी वस्तु के प्राप्त करने की कामना दुःख भय की जन्मदायिनी है। उसे घोर बन्धन स्वरूपा समझनी चाहिए। सन्त जन सत्-असत् रूप पदार्थों की अभिलाषा का सर्वथा त्याग करके परम श्रेष्ठ पद पाते हैं। हे पुत्र! बन्धन में विश्वास तथा मोक्ष में विश्वास सत्-असत् में विश्वास यह सब सुख-दुःख स्वरूप ही हैं। इनके त्याग द्वारा प्रशान्त महासागर के समान निश्चल और अत्यन्त शांत होना श्रेयस्कर है ।। ४५—५३ ।।

त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ।
जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः ।।५४

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो ब्रह्मन् बन्धायासविलोकनात् ॥५५
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥५६
जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः ।
तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम् ॥५७
अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा ।
एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥५८
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया ।
शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥५९
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते ।
तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥६०

हे श्रेष्ठ आत्मन् ! मनुष्य चार प्रकार के निश्चय वाला है। 'मेरे देह की रचना माता-पिता द्वारा हुई है' यह प्रथम निश्चय मानना चाहिए। 'मैं जगदात्मक भावों से रहित केशाग्र से भी सूक्ष्माकार आत्मा हूँ' यह दूसरे प्रकार का निश्चय है। इस निश्चय के द्वारा सन्तजनों को मुक्ति प्राप्त होती है। 'मैं अखिल विश्व के पदार्थों का आत्मा सर्वस्वरूप एवम् अविनाशी हूँ' यह तीसरे प्रकार का निश्चय भी मुक्ति का कारण होता है। 'मैं और यह सम्पूर्ण विश्व आकाश के समान शून्य है' यह चौथे प्रकार का निश्चय मोक्ष-सिद्धि का दाता है। इनमें प्रथम निश्चय बन्धन प्रदान करने वाली तृष्णा से ओत-प्रोत है। शेष तीन प्रकार के निश्चय पवित्र तृष्णा वाले हैं। जो लोग इन तीन प्रकार के निश्चयों से युक्त होते हैं वे आत्मतत्व में रत रहने वाले जीवन्मुक्त हैं। सब कुछ अपने को ही मानने वाले पुरुष फिर-फिर कर विषाद में नहीं पड़ते हैं ॥ ५४—६० ॥

शून्यं तत् प्रकृतिर्माया ब्रह्म विज्ञानमित्यपि ।
शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते ॥६१

द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया ।
परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥६२
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥६३
प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति ॥६४
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् ।
आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति ॥६५
पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयेत्यागविलासिनीम् ।
जीवन्मुक्तया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः ॥६६
अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः ॥६७
बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर शुद्धधीः ॥६८
त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः ।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः ॥६९

आत्मा के नाम से बोला जाने वाला शून्य ही प्रकृति, माया, शिव, पुरुष, ईशान, नित्य एवम् ब्रह्मज्ञान है। परब्रह्म के सम्बन्धित अद्वैत शक्ति ही द्वैत दिखाई देती है और अद्वैत द्वारा प्रकट पदार्थों से विश्व-[निर्मा]ण की माया करती हुई बढ़ती है। जो पुरुष विश्व प्रपञ्च से दूर आत्मवाद में स्थित रहकर सन्तोष-असन्तोष न करते हुए परिपूर्ण चिन्मय अवस्था में रहते हैं वे सांसारिक विषाद में कभी नहीं पड़ते। हे पुत्र! तुम समस्त आशाओं का त्याग करते हुये वासना शून्य होकर राग-रहित और ताप-रहित होकर दिखावे के रूप में सभी सांसारिक व्यवहारों को करो। बाह्य क्रोध का रूपक बनाते हुए भी भीतर से क्रोध-हीन बन जाओ तथा बाहर से कर्ता परन्तु भीतर से अकर्ता बने रहो। इस प्रकार

शुद्ध चित्त वाले होकर लोक में विचरण करो क्योंकि जो शत्रु-मित्र को समान समझता और नित्य प्राप्त कर्म को करता है और जो इच्छा-अनिच्छा से मुक्त है, जिसे न किसी वस्तु की कामना है और न हर्ष-शोक है, प्रिय भाषी तथा सबके आशय का ज्ञाता है, वह इस संसार में कभी शोक को प्राप्त नहीं होता। हे पुत्र ! अहङ्कार का त्याग कर कलङ्क की कालिमा से सर्वथा बचे रहो और आकाश के समान निर्मल जीवन वाले शुद्ध मन से स्वच्छन्द विचरण करो ॥ ६१—६९ ॥

उदारः पेशलाचारः स [पू] र्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तः सङ्गपरित्यागी बहिः संसारवानिव ॥७०
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
अयं बन्धुरयं नेति कलना लघुचेतसाम् ॥७१
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।
भवभावनया मुक्तं जरामरणवर्जितम् ॥७२
प्रशान्तकलनाऽऽरम्भं नीरागं पदमाश्रय ।
एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया ॥७३
आदाय विहरन्नेवं संकटेषु विमुह्यति ।
वैराग्येणाय शस्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ॥७४
यत्नोपविहरार्थं तत् स्वयमेवोन्नयेन्मनः ।
वैराग्यात् पूर्णतामेति मनोनाशवशानुगम् ॥७५
आशया रिक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम् ।
ममेव भुक्तविरसं व्यापारौघ पुनः पुनः ॥७६
दिवसे दिवसे कुर्वन् प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ।
चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तो मुक्तिरुच्यते ॥७७
चिदचैत्याऽखिलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः ।
एतं निश्चयमादाय विलोकय धियेच्छया ॥७८

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानमानन्दं पदाप्स्यसि ।
चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदमाः प्रजाः ।।७९
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान् ।
नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः ।।८०
चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम् ।
संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत् ।।८१
संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः ।
निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर ।।८२

श्रेष्ठ आचरण वाला, उदार, विषयों में अनासक्त और सब श्रेष्ठ आचारों का अनुगामी होकर अन्तःकरण में वैराग्य धारण कर बाहर से श्रेष्ठ व्यवहार करे । 'यह मेरा बन्धु नहीं है और यह है' ऐसा विचार अल्प बुद्धि वाले करते हैं । जो लोग उदार मन वाले हैं, उनके लिए तो सम्पूर्ण संसार ही कुटुम्ब है । भाव-अभाव से रहित, जरा-मरण से सर्वथा दूर तथा जिसमें सभी संकल्प आश्रय लेते हैं, ऐसे ही राग-रहित परमपद में अवस्थित होना चाहिए । इस प्रकार की स्थिति ही कामना-रहित एवं निर्मल ब्राह्मी स्थिति कही गई है । इसका अवलम्बन करने वाला साधक संकट के उपस्थित होने पर भी मोह से दूर रहता है । शास्त्र से प्राप्त हुये ज्ञान द्वारा, महत्वादि गुणों के द्वारा अथवा वैराग्य वृत्ति के द्वारा संकल्प को नष्ट करने पर मन स्वयं ही उन्नतावस्था को प्राप्त होने लगता है । निराशा के वश में पड़ा हुआ मन वैराग्य के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता । जब वह आशा से समन्वित होता है, तब शरद् ऋतु में स्वच्छ हुए सरोवर के समान रागयुक्त हो जाता है । परन्तु भोगों से विरक्ति को प्राप्त हुये मन को बारम्बार रागादि में डालते हुए विज्ञ पुरुष लज्जित क्यों नहीं होते ? चित् और विषय का योग ही बन्धन है । उससे छुटकारा पा लेना ही मुक्ति कहा जाता है । वेदांत-

सिद्धान्त का यही एक सार है कि विषयों से मुक्त चित्त ही आत्मा है। इस विचार को सत्य मानकर स्वच्छ अन्तःकरण द्वारा स्वयं को ही देखो। ऐसा करने से आनन्दस्वरूप पद प्राप्त होगा। ये लोक, दिशायें और जीव-मात्र सब कुछ चित् है, मैं स्वयं भी चित्त हूँ। दृश्य और दर्जन से स्वच्छन्द हुआ निर्मल रूप वाला यह साक्षी चिदात्मा आभास-रहित होता हुआ तथा नित्य प्रकट होता हुआ दृष्टा बन गया है। मैं महान् संवित मात्र, पूर्ण ज्योतिस्वरूप, संवेदन से सर्वथा मुक्त और चिद्रूप हूँ। हे मुने! सभी संकल्पों को शांत कर, कामनाओं के परित्यागपूर्वक निर्विकल्प में अवस्थित होओ ॥ ७०—८२ ॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान् भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पंक्ति पुनाति। आसप्तमान् पुरुषयुगान् पुनाति। इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः। जाप्येनामृतत्व च गच्छतीति महोपनिषत् ॥ ८३ ॥

इस महोपनिषत् का नित्य अध्ययन करने वाला ब्राह्मण यदि अश्रोत्रिय हो तो श्रोत्रिय हो जाता है। जो उपनीत न हो, वह उपनीत हो जाता है। इससे अग्निपूत, वायु पूत, सोमपूत, सत्यपूत आदि सब कुछ होता है। वह पूर्ण पवित्र होकर देवताओं से परिचय प्राप्त करता है। उसे सब देवताओं के ध्यान का और तीर्थों का फल मिलता है, वह सब यज्ञों का अनुष्ठान कर्त्ता होकर सहस्रों गायत्री-जप के फल का भागी

होता है। वह दस सहस्र प्रणव के जाप का तथा सहस्रों इतिहासों और पुराणों के पाठ तथा अध्ययन का फल प्राप्त कर लेता है। वह जहाँ तक देखता है, वहाँ तक की पंक्ति को पवित्र कर देता है। पहिले पीछे की सात-सात पीढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। इसके जप द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। यह उपनिषद् है—ऐसा हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी का कथन है ॥ ८३ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

❋ महोपनिषद् समाप्त ❋

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्ति पाठ--यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम । तं गत्वोवाच । भगवन् किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥१॥

स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि । किं तु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं सृष्ट्वा तप्तायः पिण्डवत् ऐक्यं भिन्नवत् अवभासते । तद्भासकं किमिति चेत् उच्यते । सच्छब्दवाच्यं अविद्याशवलं ब्रह्म ॥२॥

ब्रह्मणोऽव्यक्तम् । अव्यक्तान्महत् । महतोऽहंकारः । अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥३॥

तदखिलं किमिति । भूतविकारविभागादिति । एकस्मिन् पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति । तत्कार्यकारणभेदरूपेण अंशतत्त्ववाचकवाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति ॥४॥

अथाकाशः अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः । वायुः समानोदानव्यानापानप्राणाः । वह्निः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाः । आपः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः ॥५॥

त्रिशिखीब्राह्मण ने आदित्य लोक में जाकर भगवान आदित्य से पूछा—"भगवन्! देह क्या है? प्राण क्या है? कारण क्या है? आत्मा क्या है?" आदित्य भगवान् ने उत्तर दिया—"इस समस्त को शिव रूप जानो। वही नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वय शिव अपने एक ही प्रकाश से सब को देख कर तप्त लोहे के पिण्ड के समान एक को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि वह प्रकाश करने वाला कौन है तो कहा जायगा कि अविद्या-युक्त ब्रह्म 'सत्' शब्द का वाच्य है। ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्रा, पंच तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत और पञ्चमहाभूत से यह समस्त जगत उत्पन्न होता है। वह सम्पूर्ण क्या है? वह भूतों के विकार से उत्पन्न विभाग रूप है। भूतों के विकार से एक ही पिण्ड के विभाग किस प्रकार होते हैं? उन विभिन्न भूतों के कार्य कारण भेद से अंश तत्व, वाचक-वाच्य, स्थान-भेद, विषय, देवता कोश भेद—ये विभाग होते हैं। अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार पाँच आकाश हैं। समान, उदान, व्यान, अपान, प्राण—ये पाँच वायु हैं। श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा, घ्राण—ये अग्नि से हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच जल से हैं। वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ पृथ्वी से हैं॥ १—५॥

ज्ञानसंकल्पनिश्चयानुसंधानाभिमाना आकाशकार्यान्तः-करणविषयाः। समीकरणोन्नयनग्रहणश्रवणोच्छ्वासा वायुकार्य प्राणादिविषयाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रिय-विषया अवाश्रिताः। वचनादानगमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यं कर्मेन्द्रियविषयाः। कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः। मनोबुद्ध्योश्चित्ताहंकारौ चान्तर्भूतो॥६॥

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकारणाधारणाः सूक्ष्मतमा जैव-तन्मात्रविषयाः ॥ ७ ॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि । अत्र निशाकरचतुर्मुखदिग्व्रातार्कवरुणाश्व्यग्नीन्द्रोपेन्द्र-प्रजापतियमा भक्षाधिदेवतारूपैर्द्वादशनाड्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि अङ्गज्ञानं तदेव ज्ञातेति ॥ ८ ॥

अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति । ज्ञातृत्वं समानयोगेन श्रोत्रद्वारा शब्दगुणो वागधिष्ठित आकाशे तिष्ठति आकाशस्तिष्ठति । मनो व्यानयोगेन त्वग्द्वारा स्पर्शगुणः पाण्यधिष्ठितो वायौ तिष्ठति वायुयुस्तिष्ठति । बुद्धिरुद्रानयोगेन चक्षुर्द्वारा रूपगुणः पादाधिष्ठितोऽग्नौ तिष्ठत्यग्निस्तिष्ठति । चित्तमपानयोगेन जिह्वाद्वारा रसगुण उपस्थाधिष्ठितोऽप्सु तिष्ठत्यापस्तिष्ठन्ति । अहंकारः प्राणयोगेन घ्राणद्वारा गन्धगुणो गुदाधिष्ठितः पृथिव्यां तिष्ठति पृथिवी तिष्ठतीत्येवं वेद ॥ ९ ॥

ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसंधान अभिमान आकाश के कार्य तथा अन्तःकरण के विषय है। समीकरण, नेत्र खोलना, पकड़ना, सुनना, उच्छ्वास—ये वायु के कार्य और प्राणदि के विषय हैं। शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, ये अग्नि के कार्य और ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और जल के आश्रित हैं। बोलना, दान, गमन, विसर्जन तथा आनन्द पृथ्वी के कार्य तथा कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषयों में प्राण तथा तन्मात्राओं के विषय भी अन्तर्भूत हैं। मन और बुद्धि में चित्त और अहङ्कार अन्तर्भूत हैं। अवकाश, हटाना, दर्शन, धारणा, सूक्ष्मतम तन्मात्रा के विषय हैं। इस प्रकार बारह अङ्ग हैं, जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और अधिदैविक—तीनों भागों में हैं। इनमें चन्द्रमा,

ब्रह्मा, दिशा, वायु, सूर्य, वरुण अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम–ये बारह इन्द्रियों के अधिदेवता रूप से बारह नाड़ियों में स्थित रहते हैं, ये प्राण ही हैं। अंगों का ज्ञानरूप ही जाता है। अब आकाश, वायु, अग्नि, जल, अन्न का पञ्चीकरण इस प्रकार है। समान वायु के योग से ज्ञात करना होता है, श्रोत्र द्वारा शब्दरूपी गुण वाणी के आश्रय से आकाश में स्थित है और आकाश भी स्थित है। व्यान वायु के योग से मन है, त्वचा द्वारा स्पर्श गुण हाथ के साहरे वायु में स्थित है और वायु भी स्थित है। उदान वायु के योग से बुद्धि है, चक्षु द्वारा रूप गुण पैर के सहारे अग्नि में स्थित है और अग्नि स्थित है। अपान वायु के योग से चित्त है, जिह्वा द्वारा रस गुण उपस्थ के सहारे जल में स्थित है। प्राण वायु के योग से अहङ्कार है, नासिका द्वारा घ्राण गुण गुदा के साहरे पृथिवी में स्थित है और पृथिवी भी स्थित है, यह ज्ञातव्य हैं। इस विषय के ये श्लोक हैं ॥६–९॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

पृथग्भूते षोडश कलाः स्वार्धभागान् परान् क्रमात्।
अन्तःकरणव्यानाक्षिरसपायुनभः क्रमात् ॥१

मुख्यान् पूर्वोत्तरैर्भागैर्भूतेभूते चतुश्चतुः।
पूर्वमाकाशमाश्रित्य पृथिव्यादिषु संस्थितः ॥२

मुख्या ऊर्ध्वे परा ज्ञेया ना [आ] परानुत्तरान्विदुः।
एवमशो अभूत्तस्मात्तेभ्यश्चांशो अभूत्तथा ॥३

तस्मादन्योन्यमाश्रित्य ह्यो तं प्रोतमनुक्रमात्।
पञ्चभूतमया भूमिः सा चेतनसमन्विता ॥४

तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्चतुर्विधाः।
रसासृङ् मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धावतः ॥५

प्रत्येक तत्व के आधे भाग से और दूसरे तत्वों की सोलह कलाओं से अन्तःकरण, व्यान, चक्षु, रस, गुदा (अर्थात् आकाशादि पाँचों) भूतों की स्थिति है। आकाश से लगाकर प्रत्येक भूत का मुख्य पूर्व भाग और अन्य भूतों के पिछले चार चार भाग पाँचों भूतों में स्थित रहते हैं ॥१--२॥ मुख्य भाग से ऊपर वाले को सूक्ष्म भूत जाने और पिछले को स्थूल जाने। इसी प्रकार ये एक दूसरे के अंश से सम्मिलित होते हैं ॥ ३ ॥ ये सब भूत इसी प्रकार एक दूसरे का आश्रय लेकर परस्पर में ओत-प्रोत हैं और इनसे युक्त यह पंचभूतमय पृथ्वी चेतन तत्व से समन्वित है ॥४॥ फिर इस पृथ्वी से औषधि, अन्न, चारों प्रकार के पिण्ड, रस रक्त, मांस, मेद, अस्थि, वीर्य आदि सप्त धातुओं की उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

केचित्तद्योगतः पिण्डा भूतेभ्यः संभवा क्वचित् ।
तस्मिन्नन्नमयः पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः ॥६

अस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत् ।
सत्वान्तर्वर्तिनो देवाः कर्त्रहंकारचेतनाः ॥७

अस्य बीजं तमःपिण्डं मोहरूपं जडं घनम् ।
वर्तते कण्ठमाश्रित्य मिश्रीभूतमिदं जगत् ॥८

प्रत्यगानन्दरूपात्मा मूर्ध्नि स्थाने परंपदे ।
अनन्तशक्ति संयुक्तो जगद्रूपेण भासते ॥९

सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं जाग्रति वर्तते ।
सुषुप्तं च तुरीयं च नान्यावस्थासु कुत्रचित् ॥१०

उन धातुओं के योग से कहीं पिण्डों की उत्पत्ति हो जाती है; नाभिस्थान में अन्नमय पिण्ड स्थित है ॥ ६ ॥ उसके मध्य भाग में नाल-युक्त पद्मकोश के समान हृदय है, उसके भीतर वे देवता, स्थित हैं जिनमें

कर्तापन का अहङ्कार तत्व पाया जाता है ॥ ७ ॥ इसका मोह रूपी तमोगुण का पिण्ड अज्ञान कण्ठ के आश्रय से रहता और समस्त जगत में व्याप्त है ॥ ८ ॥ प्रत्येक आनन्दरूपी आत्मा परमपद मूर्धा स्थान में अनन्त शक्तियों से संयुक्त होकर जगत स्वरूप में प्रकाशित हो रहा है ॥ ६ ॥ जाग्रत सर्वत्र विद्यमान है, स्वप्न जाग्रित में रहता है। सुपुप्ति और तुरीय अवस्थायें अन्य अवस्थाओं में नहीं पायी जातीं ॥१०॥

सर्वदेशेष्वनुस्यूतश्चतूरूपः शिवात्मकः ।
यथा महाफले सर्वे रसाः सर्वप्रवर्तकाः ॥११
तथैवान्नमये कोशे कोशास्तिष्ठन्ति चान्तरे ।
यथा कोशस्तथा जीवो यथा जीवस्तथा शिवः ॥१२
सविकारस्तथा जीवो निर्विकारस्तथा शिवः ।
कोशास्तस्य विकारस्ते ह्यवस्थासु प्रवर्तकाः ॥१३
यथा रसाशये फेनं मथनादेव जायते ।
मनोनिर्मथानादेव विकल्पा बहवस्तथा ॥१४
कर्मणा वर्तते कर्मी तत्त्यागाच्छान्तिमाप्नुयात् ।
अयने दक्षिणे प्राप्ते प्रपञ्चाभिमुखं गतः ॥१५

सब स्थानों में शिव स्वरूप चार रूपों में वर्तमान है जैसे उत्तम फलों में रस सर्वत्र व्याप्त रहता है ॥ ११ ॥ वहां अन्नमय-कोश के भीतर अन्य कोश रहते हैं। जैसे-जैसे कोश हैं वैसा ही जीव है और जैसा जीव है वैसा ही शिव (परमात्मा) है ॥१२॥ अन्तर इतना ही है कि जीव विकार सहित है और शिव विकारों से रहित है। कोश ही जीव के विकार हैं जो सब अवस्थाओं में प्रवर्तक हैं ॥ १३ ॥ जैसे दूध को मथने से फेन की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार मन के मथे जाने से

नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते है ? ॥ १४ ॥ कर्म से कर्मों का अस्तित्व है, कर्मत्याग से शान्ति हो जाती है। दक्षिण अयन में आने से उसे प्रपञ्च में लिप्त होना पड़ता है ॥ १५ ॥

अहंकाराभिमानेन जीवः स्याद्धि सदाशिवः।
स चाविवेकप्रकृतिसङ्गत्या तत्र मुह्यते ॥१६
नानायोनिशतं गत्वा शेतेऽसौ वासनावशात्।
विमोक्षात्संचरत्येव मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥१७
ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः।
उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥१८
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान्योगाभ्यासं स्थितश्चरन्।
योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥१९
योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति।
विकारस्थं शिवं पश्येद्विकारश्च शिवे न तु ॥२०
योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः।
योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिध्यति ॥२१

अहंकार से युक्त हो जाने के कारण सदाशिव (परमात्मा) को जीवकोटि में आना पड़ता है। वहां अविवेक और प्रकृति के संयोग से वह मोहग्रस्त होजाता है ॥ १६ ॥ वासनाओं में फँस कर वह सैकड़ों योनियों में जाता रहता है और मछली के घूमने के समान सर्वत्र भटकता रहता है ॥ १७ ॥ फिर काल प्रभाव से वह विवेक और आत्मज्ञान को प्राप्त होकर उत्तरामुख होकर एक दर्जा से दूसरे दर्जा को प्राप्त होता जाता है ॥ १८ ॥ तब वह अपने प्राणों को मूर्धा में धारण करके योगाभ्यास में प्रवृत्त होता है। योग से ज्ञान और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है ॥ १९ ॥ जो योगी सदैव ज्ञान योग में संलग्न रहता है वह

नष्ट नहीं होता। वह विकारों में भी सदैव शिव (ब्रह्मभाव) के दर्शन करता है। ऐसा विज्ञान-योगी सर्व विकारों से रहित ब्रह्म का अनन्य भाव से ध्यान करे। जिसको इस प्रकार ज्ञानयोग नहीं होता उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥२०-२१॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनःप्राणान्निरोधयेत् ।
योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत् ॥२२

शिखा प्राणमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः ।
ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः ॥२३

क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम ।
अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये क्वचित् ॥२४

इस प्रकार योग के अभ्यास द्वारा प्राणों से मन का निरोध करे मानो छुरी की पैनी धार से उसको काट दे। यम-नियम आदि अष्टांग योगसाधन से ज्ञानमयी शिखा उत्पन्न होती है। योग की दो श्रेणियां हैं-ज्ञानयोग और कर्मयोग ॥ २२-२३ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! अब क्रिया (कर्म) योग के विषय में बतलाते हैं कि जिसका चित्त व्याकुलता रहित होता है वह विषयों के बन्धन में नहीं पड़ता ॥ २४ ॥

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते ।
कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥२५

बन्धनं मनसो नित्यं कर्म योगः स उच्यते ।
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ॥२६

ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः ॥२७

स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा ।

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥२८
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
सर्ववस्तुन्युदासीनभाव आसनमुत्तमम् ॥२९
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥३०

इसी प्रकार संयोग भी दो प्रकार के होते हैं। शास्त्रानुकूल कर्मों में सदैव मन का निग्रह करते रहना कर्मयोग कहलाता है। चित्त को निरन्तर आत्म-कल्याण में संलग्न रखना ज्ञानयोग है। इससे सब प्रकार की आत्मा सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार दोनों तरह के योगों का जो निर्विकार भाव से करता है वह बिना विलम्ब मोक्ष रूपी परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है। देह और इन्द्रियों के प्रति सब प्रकार से वैराग्य भावना यम कहलाता है ॥२५--२८॥ और परम तत्व से सदा अनुराग रखना नियम कहा गया है। सब वस्तुओं में उदासीन वृत्ति ही सर्वोत्तम आसन है ॥ २९ ॥ जगत के मिथ्या स्वरूप को भली प्रकार समझ लेना प्राणायाम है। चित्त की अन्तर्मुखी वृत्ति ही प्रत्याहार है ॥ ३० ॥

चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥३१
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम् ॥३२
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।
तपस्सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥३३
वेदान्तश्रवणचैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।

आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज ॥३४
वर्ण्यते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि ।
पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे कृत्वाऽऽसनमुदीरितम् ॥३५

चित्त को निश्चल बना लेना धारणा है और मैं चिन्मात्र रूप हूँ— यह भावना ध्यान है ॥ ३१ ॥ ध्यान का भी पूर्णतः विस्मरण कर देना समाधि है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, मिताहार और शुद्धता—ये दस नियम हैं । तप, संतोष, आस्तिकता, दान, भगवत्-आराधन, वेदान्त-श्रवण, ह्री और जप को व्रत कहा जाता है । अब स्वस्तिक आदि आसन और उनकी विधि को बतलाते हैं ॥३२–३४॥ दोनों पैरों के तलुओं को दोनों घुटनों के बीच में करके बैठना स्वास्तिक आसन है ॥३५॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुगं गोमुखं यथा ॥३६
एकं चरणमन्यस्मिन्नूरावारोप्त निश्चलः ।
आस्ते यदिमेनोघ्नं वीरासनमुदीरितम् ॥३७
गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥३८
ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥३९
पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदंगुष्ठद्वयं पुनः ।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥४०

पीठ के बांई ओर दाहिने गुल्फ को और दांयी ओर बांयें गुल्फ को लगाने से जो गौ के मुख की तरह होता है, वही गोमुख आसन होता है ॥ ३६ ॥ एक चरण को बांयी जांघ पर और दूसरे को दाहिनी जांघ पर रखने से वीरासन होता है ॥ ३७ ॥ दाहिनी

ऐड़ी को गुदा के बांयी तरफ और बाँयी ऐड़ी को गुदा के दाहिनी तरफ लगाकर बैठे तो वह योगासन कहा जाता है ॥ ३८ ॥ दोनों जाँघों पर दोनों पैर के तलवों को रखकर बैठने से पद्मासन होता है जो सब व्याधियों और विषों का नाशक बतलाया गया है ॥ ३९ ॥ पद्मासन पर अच्छी तरह से बैठकर दाहिने हाथ से बांए पैर के अंगूठे को और बाँयें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ना बद्ध-पद्मासन कहलाता है ॥ ४० ॥

पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमावातिष्ठेद्व्योमस्थः कुक्कुटासनः ॥४१
कुक्कूटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां संबध्य कन्धरम् ।
शेते कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥४२
पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥४३
सीवनीं गुल्फदेशेभ्यो निपीड्य व्युत्क्रमेण तु ।
प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥४४
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्युभयपार्श्वयोः ।
निवेश्य भूमौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत् ॥४५

पद्मासन पर अच्छी तरह बैठकर दोनों हाथों को जानु और जंघाओं के बीच से निकाल कर भूमि पर लगाकर शरीर को आकाश में अधर स्थित रखने से कुक्कुट-आसन होता है ॥ ४१ ॥ कुक्कुट आसन लगाकर दोनों भुजाओं से दोनों कंधों को बांधकर कछुए के समान सीधा हो जाना उत्तान-कूर्मासन कहा जाता है ॥ ४२ ॥ दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़ कर धनुप के आकार में कानों तक खींचे तो यह धनुराशन होता है ॥ ४३ ॥ दोनों एड़ियों से सींवन-स्थान को विपरीत विधि से दबाकर दोनों घुटनों तथा हाथों को फैला-

कर स्थित होने को सिंहासन कहते हैं ॥ ४४ ॥ सींवन के दोनों तरफ दोनों एड़ियों को रखकर हाथ पैर को बांधकर बैठने से भद्रासन होता है ॥ ४५ ॥

सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीदिरितम् ॥४६
अवष्टभ्य धरां सम्मक्तलाभ्यां हस्तयोर्द्वयोः ।
कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत् ॥४७
सामुन्नतशिरः पादो मयूरासनमिष्यते ।
वामोरुमूले दक्षांघ्रि जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥४८
वामेन वामांगुष्ठं तु ग्रहीतं मत्स्यपीठकम् ।
योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ॥४९
ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् ।
प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामंगुष्ठमादरात् ॥५०
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं ताणमुच्यते ।
येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते ॥५१
तत्सुखासनमित्यक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् ।
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ॥५२

सींवन के दोनों पार्श्वों को दोनों एड़ियों से विपरीत रीति से दबाकर बैठने से मुक्तासन होता है ॥ ४६ ॥ दोनों हथेलियों को भूमि पर स्थापित करके दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों तरफ लगावे, फिर मोर की तरह सब शरीर को अधर करके सिर और पैरों को ऊपर की तरफ उठाये रहने से मयूरासन होता है। बांई जाँघ की जड़ में दाहिने पैर को रखे और फिर बांये घुटने का हाथ से लपेटकर उसी पैर के अँगूठे को पकड़े तो यह मत्स्येन्द्र आसन होता है। बांये पैर की ऐड़ी को सींवन पर लगाये और दाहिने पैर को

उपस्थ के ऊपर रखे, इस प्रकार सीधा शरीर करके बैठने को सिद्धासन कहते हैं। दोनों पैरों को जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के अँगूठों को पकड़ ले और फिर सिर को घुटनों पर लगावे, यह पश्चिमोत्तान आसन होता है। जिस प्रकार बैठने से सुख और स्थिरता प्राप्त हो, उसी प्रकार बैठने को सुखासन कहते हैं। जो व्यक्ति असमर्थता के कारण अन्य आसनों को न लगा सके, वह इसको लगावे। जिसने आसन को जीत लिया उसने तीनों लोकों को जीत लिया ॥४६—५२॥

यमैश्च नियमैश्चैव ह्यासनैश्च सुसंयतः।
नाडीशुद्धिं च कृत्वाऽऽदौ प्राणायामं समाचरेत् ॥५३॥
देहमानं स्वांगुलिभिः षण्णवत्यंगुलायतम्।
प्राणः शरीरादधिको द्वादशांगुलमानतः ॥५४
देहस्यमनिलं देहसमुद्भू तेन वह्निना।
न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्ब्रह्मविदिष्यते ॥५५
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरश्रं चतुष्पदाम् ॥५६
वृत्तं बिहङ्गमानां तु षडश्रं सर्पजन्मनाम्।
अष्टाश्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवांगुलम्।
चतुरंगुलमुत्सेधं चतुरंगुलमायतम् ॥५७
अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम्।
तुन्दमध्यं तदिष्टिं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते ॥५८
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्ण्वादिमूर्तयः।
अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥५९
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तमः।
समथा भ्रमति लूतिका ॥६०

यम, नियम और आसन द्वारा भली प्रकार नाड़ी-शोधन करके प्राणायाम करे ॥५३॥ मानव-देह का प्रमाण अपनी अँगुलियों से छियानवे अँगुल का है। शरीर से प्राण बाहर अँगुल अधिक प्रमाण वाला होता है ॥५४॥ देह में स्थित वायु को देहस्थ अग्नि के योग द्वारा न्यून और सम करने से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥५५॥ मानव देह के मध्य में तप्त सुवर्ण की प्रभा वाला तीन कोणयुक्त अग्नि का स्थान होता है। चार पैर वाले पशुओं में यह अग्नि स्थान चार कोने का होता है। पक्षियों का गोल, सर्प जाति वालों का छः कोने और स्वेदजों का आठ कोने वाला होता है। मानव-देह में उस स्थान पर नौ अँगुल प्रमाण का एक कन्द रहता है जो दीपक के समान प्रकाशित होता है। वह चार अँगुल ऊँचा और चार अँगुल चौड़ा होता है ॥५६—५८॥ तिर्यक, पक्षी और चौपायों में यह कन्द आण्डाकार होता है और उसका मध्यस्थान नाभि कहा जाता है इसमें बारह आरे वाला चक्र है जिसमें विष्णु आदि देवों की मूर्तियां हैं। इस चक्र को मैं (ब्रह्म) अपनी माया से फिराता रहता हूँ ॥५९॥ इन बारह आरों में जीव इस प्रकार घूमता रहता है जैसे मकड़ी अपने जाले में फिरती है ॥६०॥

प्राणाधिरूढश्चरति जीवस्तेन विना नहि।
तस्योर्ध्वे कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥६१
अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता।
यथावद्वायुसंचारं जलान्नादि च नित्यशः ॥६२
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्येव सदा स्थिता।
मुखेनैव समावेष्टय ब्रह्मरन्ध्रमुखं यथा ॥६३
योग कालेन न मरुता साग्निना वोधिता सती।

स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥६४
अपानाद्द्वयङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता ।
देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥६५

जीव प्राण पर आरूढ़ होकर ही भ्रमण करता है, उसके बिना नहीं कर सकता। उसके ऊपर कुण्डलिनी का तिरछा और ऊंचा स्थान है ॥६१॥ वह अष्ट प्रकृतिरूपा आठ प्रकार की कुण्डली करके कन्द को घेरे हुए है और वायु तथा अन्न-जल के सञ्चार को रोकती रहती है। उसने ब्रह्मरन्ध्र के मुख को अपने मुख से ढका हुआ है ॥६२—॥६३॥ योगाभ्यास द्वारा यह कुण्डलिनी शक्ति पवन द्वारा जागृत अग्नि के समान हृदयाकाश में नाग रूप से अत्यन्त उज्ज्वल स्फुरित होती है ॥६४॥ अपान से दो अँगुल ऊपर और मेढ़ से नीचे, मानव-देह का मध्य भाग माना जाता है। चौपायों का मध्य भाग उनके हृदय-स्थान में होता है ॥६५॥

इतरेषां तुन्द मध्यं नानानाड़ीसमावृतम् ।
चतुष्प्रकारद्व्ययुते देहमध्ये सुषुम्नया ॥६६
कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ।
पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥६७
ब्रह्मणो विवरं यावद्विद्युदाभासनालकम् ।
वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥६८
इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते ।
इडा समुत्थिता कन्दाद्वामनासापुटावधिः ॥६९
पिङ्गला चोत्थिता तस्माद्दक्षनासापुटावधिः ।
गन्धारी हस्तिजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते ॥७०
पुरतः पृष्ठतस्याः वामेतरदृशौ प्रति ।
पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते ॥७१

सव्येतरश्रुत्यवधि पायु मूलावलम्बुसा ।
अधोगता शुभा नाडी मेढ्रान्तावधिरायता ॥७२

अन्य प्राणियों का मध्य भाग नाभि के मध्य में होता है । प्राण और अपान से संयुक्त सषुम्ना नाड़ी देह में चार प्रकार से प्रकाशित होती है ॥६६॥ कन्द के मध्य भाग में जो सषुम्ना-नाड़ी स्थित है, वह पद्मसूत्र के समान अत्यन्त सूक्ष्म है और सीधी ऊपर की तरफ गई है ॥६७॥ ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली यह "वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी" विद्युत के समान प्रकाशयुक्त और निर्वाण प्राप्त करने वाली है ॥६८॥ उसके अगल-बगल में इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ स्थित हैं । इड़ा कन्द से निकलकर बांये नासापुट तक गई है और पिङ्गला दाँये नासापुट तक । गान्धारी और हस्तजिह्वा दो अन्य नाड़ियां भी वहां हैं जो उनके आगे-पीछे बांयी और दाँयी आँख तक गई हैं । पूषा और यशस्विनी दो नाड़ियां गुदा मूल से निकलकर दांये और बांये कान तक गई हैं । अलम्बुसा नाम की नाड़ी मेढ़ स्थान के अन्त तक नीचे की ओर गई हैं ॥६९—७२॥

पादांगुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी ।
दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसंभवाः ॥७३
तन्मूला बहवो नाड्यः स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडिकाः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्मश्च नाडयः ॥७४
संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः ।
यथाऽश्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा ॥७५
प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥७६
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः ।
प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥७७

प्राण एवाथवा ज्येष्ठो जीवात्मनं बिभर्ति यः ।
आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम् ॥७८
पादांगुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम ।
अपानश्चरति ब्रह्मन् गुदमेढ्रोरुजानुषु ॥७९
समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः ।
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ॥८०

कन्द से पैर के अंगूठे तक कौशकी नाम वाली नाड़ी गई है । इस प्रकार ये दस नाड़ियाँ कन्द से निकली हुई कही गई हैं ॥ ७३ ॥ उनसे निकलने वाली अन्य बहुत सी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, जिनकी संख्या सब मिलाकर बहत्तर हजार कही गई है ॥ ७४ ॥ इन स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों की गिनती कर सकना कठिन है, वे उसी प्रकार फैली हुई हैं जिस प्रकार पीपल के पत्ते में नसें फैली होती हैं ॥ ७५ ॥ प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय—ये दश वायु भी नाड़ियों में चलते रहते हैं । इनमें प्राण आदि प्रथम पाँच मुख्य हैं, अथवा दो (प्राण और अपान) मुख्य हैं अथवा प्राणवायु ही सबसे मुख्य है जो जीव को धारण किये रहता है । हे द्विज श्रेष्ठ ! प्राण के मुख्य स्थान पाँच हैं—मुख नासिका का मध्य भाग, हृदय, नाभि-मण्डल और पैर का अँगूठा अपान, गुदा, मेढ्, जङ्घा, और घुटने में जलता है । समान वायु सब अङ्गों में व्याप्त रहता है और उदान चारों हाथ पैरों और सब संधि स्थानों में स्थित है ॥७६–८०॥

व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च ।
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु सस्थिताः ॥८१
तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादि च समीकृतम् ।
तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥८२

इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक्स्थितः ।
अपानवायुर्मूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥८३
प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना ।
उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता ॥८४
पोषणादि शरीरस्य समानः कुरुते सदा ।
उद्गारादिक्रियो नागः कूर्मोक्ष्यादिनिमीलनः ॥८५

व्यान नामक वायु श्रोत्र, जङ्घा कमर एड़ी, कन्धे, गले में रहता है तथा नाग आदि पाँच उपवायु त्वचा, अस्थि आदि में स्थित हैं ॥ ८१ ॥ आमाशय में स्थित जल, अन्न रसादिक को प्राणवायु एकत्र करके फिर पृथक पृथक करता है ॥ ८२ ॥ इन कार्यों को प्राणवायु पृथक रह कर करता है । मल और मूत्र के विसर्जन का कार्य अपान-वायु द्वारा होता है ॥ ८३ ॥ प्राण, अपान वायुओं की चेष्टाएं व्यान वायु के योग से की जाती हैं और शरीरस्थ उदान से ऊर्ध्वगामी हुआ जाता है ॥ ८४ ॥ शरीर को पोषण सदैव समान वायु द्वारा होता है । डकार आदि क्रिया नाग से होती है और आंखों का खोलना बन्द करना कूर्म का कार्य है ॥ ८५ ॥

कृकरः क्षपयोः कर्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् ।
मृतगात्रस्य शोभादि धनंजय उदाहृतः ॥८६
नाडीभेदं मरुद्भेदं मरुतां स्थानमेव च ।
चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैवं द्विजसत्तम ॥८७
शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः ।
विविक्तदेशमास्थाय सर्वं संवन्धवर्जितः ॥८८
योगाङ्गद्रव्यसंपूर्णं तत्र दारुमये शुभे ।
आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः ॥८९

तावदासनमुत्सेधे तावद्द्वयसमायते ।
उपविश्यासनं सम्यक्स्वस्तिकादि यथारुचि ॥९०

भूख लगना कृकर का, निद्रा आदि देवदत्त का और मृत शरीर की शोभा आदि धनञ्जय वायु का कार्य है ॥ ८६ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! नाड़ी, वायु, प्राणों के स्थान और चेष्टाएँ विविध प्रकार की हैं, उनको जानना चाहिये ॥ ८७ ॥ जब पूर्वोक्त विधि से नाड़ियों को शुद्ध कर ले तब सब प्रकार के सम्बन्धों को त्याग कर एकान्त स्थान में, सब प्रकार की योग-साधन में आवश्यक सामग्री लेकर लकड़ी की बनी कुटी में दर्भ, कुशा और मृग चर्म का आसन प्रस्तुत करे ॥ ८८--८९ ॥ जब तक दोनों तरफ के अङ्ग समान न हो जांय तब तक आसन-साधन करता रहे। इसके लिए आसन स्थान पर बैठकर अपनी रुचि के अनुसार स्वास्तिक आदि कोई-सा भी आसन लगाता रहे ॥ ९० ॥

बद्ध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः ।
नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसपृस्शन् ॥९१
रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्ता निरामयः ।
आकुञ्चितशिरः किंचिन्निबध्नन्योगमुद्रया ॥९२
हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत् ।
रेचनं पूरणं वायो शोधनं रेचनं तथा ॥९३
चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते ।
हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम् ॥९४
शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम् ।
इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्षोशमात्रया ॥९५
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ।

द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम् ॥९६

पहले आसन लगाकर, शरीर को सीधा रखकर, नासाग्र पर दृष्टि रखते, दाँतों को दांतों से स्पर्श न करते हुये, जिह्वा को तालु में रखकर, स्वस्थ चित्त और निरागम भावसे, शिर को आँकुचित करके, योगमुद्रा में हाथों को बाँधकर विधिपूर्वक प्राणायाम करे। रेचक, पूरक, वायु का शोधन तथा रेचक करे॥ ९१--९३ ॥ इन चार विधिओं से वायु को चलाने को प्राणायाम कहते हैं। दाहिने हाथ से नासापुटों को दबाकर पिङ्गला (दाँयी नासिका) से वायु को बाहर निकाले। फिर सोलह मात्रा से वायु को भीतर खीचे और चौंसठ मात्रा में कुम्भक करे और बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिंगला द्वारा बाहर निकाल दे॥ ९६ ॥

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु ।
संपूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ॥९७
पूरणान्नाड्यः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना ।
एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥९८
हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम् ।
तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम् ॥९९
प्रातर्माध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥१००

इस प्रकार बारम्बार क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करे और देह के भीतर भरे वायु को कुम्भ के समान रोके॥ ९७ ॥ इससे सब नाड़ियाँ वायु से भर जाती हैं और उनमें दसों वायु भली प्रकार चलने लगते हैं॥ ९८ ॥ तब हृदयरूपी कमल विकसित होकर स्पष्ट हो जाता है और वहाँ भगवान वासुदेव के दर्शन होने लगते हैं

॥ ९९ ॥ इस विधि से प्रातः मध्याह्न, सायं और आधीरात को चार बार कुम्भक करे और उसे क्रमशः अस्सी मात्रा तक पहुँचा दे ॥ १०० ॥

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः ॥१०१
योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः ।
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत् ॥१०२
अपमृत्युमपक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।
प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामेषु सोऽधमः ॥१०३
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः ।
उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥१०४
अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः ।
पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥१०५
अल्पमूत्रोऽल्पविष्ठश्च लघुदेहो मिताशनः ।
पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥१०६

इस विधि से एक दिन अभ्यास करने से ही सब पापों से छुटकारा हो जाता है और तीन वर्ष तक इस प्रकार प्राणायाम करने वाला योग सिद्ध हो जाता है। वह योगी वायु को जीतने वाला, जितेन्द्रिय, अल्प आहार, स्वल्प निद्रा वाला, तेजस्वी तथा बलवान होता है। अकाल मृत्यु का भय मिटाकर दीर्घ आयु प्राप्त होती है। जिस प्राणायाम में पसीना आता है वह अधम है, जिसमें शरीर में कँपकँपी होती है वह मध्यम है और जिसमें शरीर ऊपर को उठता है वह उत्तम है ॥ १०१--१०४ ॥ अधम प्राणायाम से व्याधि और पापों का नाश होता है, मध्यम से महाव्याधियाँ, पाप तथा रोग मिट जाते है, उत्तम से अल्प-मूत्र, अल्प-मल शरीर की लघुता

अल्प भोजन होता है, इन्द्रियाँ और बुद्धि तीव्र हो जाती हैं और तीनों काल का ज्ञाता हो जाता है ॥ १०५—१०६ ॥

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः ।
करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥१०७
नाभिकन्दे च नासाग्रे पादांगुष्ठे च यत्नवान् ।
धारयेन्मनसा प्राणान्सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥१०८
सर्वरोगैर्विनिमुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः ।
कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥१०९
नासाग्रधारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवः ।
ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया ॥११०
पिवतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत् ।
अभ्यस्यतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥१११

जो रेचक और पूरक को छोड़कर केवल कुम्भक ही करने लगता है । उसके लिए तीनों काल में कुछ भी कठिन नहीं रहता ॥ १०७ ॥ प्रयत्नशील साधक नाभिकन्द, नासाग्र और पैर के अंगूठे में सदैव सध्या समय मन द्वारा प्राण को धारण करे ॥ १०८ ॥ ऐसा साधक सब रोगों से छूटकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है । नाभिकन्द में प्राण-धारण करने से कुक्षि रोग नष्ट होते हैं ॥ १०९ ॥ नासग्र धारण करने से दीर्घायु और देह की लाघवता प्राप्त होती है । ब्राह्म मुहूर्त में जिह्वा से वायु को खींच कर पीने से तीन मास में वाक्य-सिद्धि प्राप्त होती है और छः मास में महारोग से छुटकारा मिल जाता है ॥ ११०—१११ ॥

यत्रयत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते ।
धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमंश्नुते ॥११२

मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत् ।
मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥११३
कारणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत् ॥११४
बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम् ।
युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः ॥११५

शरीर का जो अङ्ग रोग पीड़ित हो तो उसमें वायु को धारण करने से वह दूर हो जाता है ॥ ११२ ॥ मन की धारणा हो जाने से वायु की धारणा भी होने लगती है । मन को स्थित करने के लिये प्राण को साधन बतलाया गया है ॥ ११३ ॥ इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपान वायु को ऊपर खींचकर ऊपर ही धारण करे, कानों को हाथों से बन्द किये रहे । इस साधन से मन वश में हो जाता है ॥ ११४—११५ ॥

मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा ।
नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते ॥११६
तिस्रश्च नाडिकास्तासु स यावन्तश्चरत्ययम् ।
शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम् ॥११७
तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति संततम् ।
इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः ॥११८
अहश्च रात्रिं पक्षं च मासं मत्वायनादिकम् ।
अन्तर्मुखो विजानीयात् कालभेदं समाहितः ॥११९
अंगुष्ठादिस्वावयवास्फुरणदर्शनैरपि ।
अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥१२०

इस प्रकार मन पर अधिकार हो जाने से प्राणवायु नियमित

हो जाता है और नासिका से क्रमपूर्वक आता जाता रहता है ॥ ११६ ॥ तीन नाड़ियाँ हैं। प्राणायाम करने वाले योगियों का स्वांस दांये और वांये नासापुट के समान समय तक चलता रहता है। इस प्रकार जिसका प्राणवायु क्रम से चलता है, वह प्राणजित हो जाता है। फिर वह दिन, रात्रि, पक्ष, मास, अयन आदि के काल-भेद को अन्तर्मुख होकर जानने लगता है ॥ ११७–११९ ॥ अँगूठा आदि अपने अवयवों में स्फुरण (नदियों का रक्त गति से फड़कना) वन्द हो जाने पर शीघ्र ही अपने जीवन का अन्त होना समझ लेना चाहिये ॥ १२० ॥

ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः ।
पादांगुष्ठे करांगुष्ठे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥१२१
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितव्यक्षयो भवेत् ।
मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥१२२
षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत् ।
कूर्परास्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः ॥१२३
कक्षे मेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलम्भने ।
मासावधिजीवितं स्यात् तदर्धं सत्वदर्शने ॥१२४
आश्रिते जठरे द्वारे दिनानि दश जीवितम् ।
ज्योतिः खद्योतवद्यस्थ तदर्ध तस्य जोवितम् ॥१२५

इस प्रकार अनिष्ट सूचक संकेतों को जानकर योगी को मोक्ष-साधन में ध्यान लगाना चाहिए। जिसके पैर तथा हाथ के अँगूठों में स्फुरण न जान पड़े। उसका जीवन एक वर्ष में समाप्त हो जाता है। मणिवन्ध (कलाई) और गुल्फ (टखना) का स्फुरण वन्द हो जाने पर छः महीने तक जीवित रहता है। जब कोहनी में स्फुरण न हो तो जीवन की अवधि तीन मास रह जाती है

॥ १२१-१२२ ॥ मगर कुक्षि, उपस्थेन्द्रिय में स्फुरण न हो तो एक महीने में और नेत्रों में स्फुरण न हो तो पन्द्रह दिन में जीवन का अन्त हो जाता है ॥ १२४ ॥ जठर-द्वार पर स्फुरण न होने से जीवन की अवधि दस दिन रह जाती है और अगर ज्योति जुगनू के समान हो जाय तो पाँच ही दिन शेष रह जाते हैं ॥ १२५ ॥

जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः ।
ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम् ॥१२६
एवमादीन्यरिष्टानि दृष्ट्वाऽऽयुःक्षरकारणम् ।
निःश्रेयसाय युञ्जीत जपध्यानपरायणः ॥१२७
मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात् ।
यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ॥१२८
स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ।
पादांगुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च ॥१२९
मध्यमूर्वोश्च मूलं च पयायुर्हृदयमेव च ।
मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूर्परम् ॥१३०
तालुमूलं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम् ।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं मूलमूर्ध्वं च जानुनी ॥१३१
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विजः ।
पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ॥१३२

अगर जिह्वा दिखलाई पड़ना बन्द हो जाय तो तीन दिन का समय समझना चाहिये और ज्वाला का दिखाई देना बन्द हो जाय तो दो ही दिन समझना चाहिये ॥ १२६ ॥ ये सब अरिष्ट आयु के क्षय के कारण रूप हैं। इनको जानकर अपने कल्याणार्थ जप और ध्यान में संलग्न हो ॥ १२७ ॥ मन से परमात्मा का ध्यान करते हुये उसकी एकरूपता को प्राप्त होने का यत्न करे । शरीर के अठारह मर्म स्थानों में धारणा की जाती है ॥१२८॥ एक स्थान से दूसरे स्थान

को खींचना प्रत्याहार कहा जाता है। पैर का अँगूठा, एड़ी बांघ का मध्यभाग उरु का मध्य, गुदा का मूल, हृदय, उपस्थ, देह का मध्य, नाभि, कण्ठ, कोहनी, तालु-मूल, नासिका का मूल, आंखों का मण्डल भौहों का मध्य, ललाट, मस्तक का मूल, घुटने का मूल, हाथों का मूल स्थान—ये सब इस पञ्चभौतिक देह के मर्म स्थल हैं ॥ १२६–१३२ ॥

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः ।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥१३३
आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते ।
पीतला चतुरस्रा च वसुधा वज्रलाञ्छिता ॥१३४
स्मर्तव्या पञ्चघटिका तत्रारोप्य प्रभञ्जनम् ।
आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥१३५
अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम् ।
स्मर्तव्यमम्भः श्वसनमारोप्य दशनाडिका ॥१३६
आदेहमध्यकटयन्तमग्निस्थानमुदाहृतम् ।
तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च ॥१३७
स्मर्तव्या घटिका प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम् ।
नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै ॥१३८
वेदिकाकारवद्धूम्रो बलवान्भूतमारुतः ।
स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम् ॥१३९
घटिकाविंशतिस्तस्माद् घ्राणाद्ब्रह्मबिलावधि ।
व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ॥१४०

यमादि द्वारा मन का जो धारण करना है वही धारणा है जिससे मनुष्य संसार-सागर को पार करने में समर्थ होता है ॥१३३॥ घुटनों से पैर तक पृथ्वी-स्थान कहा जाता है, पीतवर्ण की

चारकोण वाली पृथ्वी वज्र-लंछिता है ।। १३४ ।। पांच घड़ी तक वायु को धारण करके पृथ्वी का ध्यान करना चाहिये। घुटनों से कमर तक जल का स्थान कहा है ।। १३५ ।। इस जल स्थान का आकार आधे चन्द्रमा के समान है, वर्ण श्वेत है तथा चांदी से लाँछित है। इसमें दस घड़ी तक श्वाँस रोककर जल का ध्यान करे ।। १३६ ।। कटि से देह के मध्य अग्नि स्थान है। वह सिन्दूर के रङ्ग का है। उसमें पन्द्रह घड़ी प्राण को रोककर अग्नि का ध्यान करना चाहिये। नाभि से नासिका तक वायु का स्थान है, जिसका आकार वेदी के तुल्य है, धूम्रवत्, शक्तिशाली पवन का ध्यान बीस घड़ी तक कुम्भक द्वारा वायु को रोक कर करना चाहिये। नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाश स्थान है जिसकी नीले रंग की प्रभा है ।। १३९-१४० ।।

व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्नवान् ।
पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम् ।।१४१
अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये ।
अवंशे पूरयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः ।।१४२
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे संकर्षणमतः परम् ।
व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत् ।।१४३
अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युञ्जानस्य न संशयः ।
बद्ध्वा योगासनं पूर्वं हृद्देशे हृदयाञ्जलिः ।।१४४
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि ।
दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ।।१४५
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्धया विशुद्धया ।
चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ।।१४६

प्रयत्नशील साधक कुम्भक द्वारा वायु को आकाश में रोके। फिर पृथ्वी अंश वाले भाग में चतुर्भुज किरीटधारी अनिरुद्ध हरि का

ध्यान करे, जिससे योगी मुक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होता है। जल वाले अंश में नारायण का ध्यान करे, अग्नि के अंश में प्रद्युम्न का, वायु-अंश में संकर्षण का और आकाश वाले अंश में परमात्मा वासुदेव का ध्यान करे ॥ १४१-१४३ ॥ जो सदैव इस अभ्यास को करता रहता है उसको परमात्मा का साक्षात्कार शीघ्र ही हो जाता है। पहले योगासन पर बैठकर हृदय-प्रदेश में हृदय को स्थिति करते हुये नासाग्र पर दृष्टि को स्थिर करे, जिह्वा को तालु में लगावे, ऊपर और नीचे के दांतों का स्पर्श न होने दे, शरीर को ऊँचा करके समाहित होकर बैठे और शुद्ध आत्मबुद्धि से इन्द्रियों का संयम करता हुआ भगवान वासुदेव का चिन्तन करे ॥ १४४---१४६ ॥

स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ।
याममात्रं वासुदेवं चिन्ययेत्कुम्भकेन यः ॥१४७
सप्तजन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः ।
नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्धृदयगोचरम् ॥१४८
जाग्रद्वृत्ति विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम् ।
सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् ॥१४९
तुर्यातीतं परं ब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत् ।
जाग्रद्वृत्ति समारभ्य यावद्ब्रह्मबिलान्तरम् ॥१५०
तत्रात्माऽयं तुरीयः स्यात् तुर्यान्ते विष्णुरुच्यचे ।
ध्यानेनैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले ॥१५१
सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम् ।
हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विश्वरूपिणम् ॥१५२

इस प्रकार अपने भीतर व्याप्त परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करने से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक प्रहर तक

कुम्भक करते हुए जो भगवान वासुदेव का ध्यान करता है, उसके सात जन्म के पाप विनष्ट हो जाते हैं। नाभिकन्द से लेकर हृदय-प्रदेश तक जाग्रत वृत्ति का स्थान है, स्वप्न वृत्ति कण्ठ में रहती है, सुषुप्ति तालु के मध्य में और तुरीय भ्रकुटियों के मध्य में स्थित है ॥ १४७-१४९ ॥

तुर्यातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म की ओर होता है। जागृत वृत्ति से लगाकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीय का आत्मा रहता है। उसके पश्चात् वह विष्णु कहलाता है। तब साधक अत्यन्त निर्मल आकाश में हृदय-कमल पर आसीन करोड़ों सूर्य के समान प्रभा वाले नित्य उदयरूपी विश्वरूप विष्णु का ध्यान करे ॥ १५०--१५२ ॥

अनेकाकारखचितमनेकवदनान्वितम् ।
अनेकभुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥१५३
नानावर्णधरं देवं शान्तमुग्रमुदायुधम् ।
अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥१५४
ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति ।
हृत्पुण्डरीयकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥१५५
कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम् ।
अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विभुम् ॥१५६
निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम् ।
ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥१५७

उन नाना आकार वाले, अनेक मुखों वाले, अनेक भुजाओं वाले, अनेक आयुधों वाले, अनेक वर्ण वाले, देवरूप, शान्त, उग्र, आयुधों को उठाये हुये, अनेक नेत्रयुक्त, करोड़ों सूर्यों की प्रभा वाले विश्वरूप विष्णु का ध्यान करने से योगी की सब मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। हृदत-कमल के मध्य स्थान में स्थित चैतन्य, ज्योतिरूप, अव्यय, कदम्ब के समान गोलाकार, तुर्यातीत, परात्पर, अनन्त,

आनन्दमय, चिन्मय, प्रकाशमान, निर्वात स्थान में स्थित दीपक के समान अकृत्रिम मणि की प्रभा वाले परब्रह्म का ध्यान करने से मुक्ति योगी के करतलगत रहती है ॥१५३-१५७॥

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि ।
स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपंकजे ॥१५८
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते ।
अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥१५९
जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि ।
अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥१६०
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।
ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत ॥१६१
एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा ।
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥१६२
ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः ।
शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥१६३
मोहजालकसंघातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ॥१६४
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते ।
इत्युपनिषत् ॥

विश्व-रूप देव का जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म अथवा अन्य प्रकार का रूप है, उसका अपने हृदय-कमल में जो योगी ध्यान करता है वह साक्षात् उन्हीं के रूप का हो जाता है और अणिमादि सिद्धियों के फल को अनायास ही पा लेता है॥ १५८--१५९ ॥ जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस

स्थिति को पा लेना ही समाधि कहा जाता है। उसमें समस्त वृत्तियों का अन्त हो जाता है। जो योगी इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है वह पुनः संसार में नहीं आता ॥ १६०-१६१ ॥ इस प्रकार योगी तत्व का शोध करता हुआ निस्पृह चित्त से ईंधन रहित अग्नि के समान स्वयं ही शान्त हो जाता है ॥ १६२ ॥ फिर उसके लिये कुछ ग्रहण करने योग्य नहीं रहता, उसका मन और प्राण सच्चे आत्म-ज्ञान से युक्त हो जाते हैं और उसका जीव शुद्ध परमात्म तत्व में जल में नमक के समान लय हो जाता है ॥ १६३ ॥ उसे यह मोह जाल में फँसा हुआ संसार स्वप्न की तरह दिखाई देने लगता है और वह पूर्ण निश्चल हो स्वभाव से ही सुषुप्ति की-सी अवस्था में रहने लगता है ॥ १६४ ॥ ऐसा योगी निर्वाण पद को प्राप्त कर कैवल्य स्थिति में रहता है। यह उपनिषत् है।

॥ त्रिशिखिब्राह्मण उपनिषद् समाप्त ॥

—:०:—

अद्वयतारकोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्ति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेप रहता है । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामो यतये जितेन्द्रियाय शमादिषड्गुणपूर्णाय ॥१॥

चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन् सम्यङ्निमीलिताक्षः किंचिदुन्मीलिताक्षो वाऽन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयन् तद्रूपो भवति ॥२॥

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारमति तस्मात्तारकमिति । जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म ॥३॥

तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसंधानं कर्तव्यम् ॥४॥

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते । सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति । तन्मध्ये तटित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धाऽस्ति । तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति । फालोर्ध्वगललाटविशेषमण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत् सिद्धो भवति । तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते

मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिस्थलं विलोक्य अन्तर्दृष्ट्या निर-तिशयसुखं प्राप्नोति। एवं हृदये पश्यति। एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम् ॥५॥

ॐ। अब अद्वयतारक उपनिषद का कथन करते हैं जो संन्यासी, जितेन्द्रिय तथा शम-दम आदि षट गुणों से युक्त साधकों के लिये है ॥ १ ॥ आंखें बन्द अथवा अधखुली रख कर अन्तर दृष्टि से भ्रकुटियों के ऊपर के स्थान में "मैं चित् स्वरूप हूँ" इस प्रकार का भाव निरन्तर रखते हुये सच्चिदानन्द, तेज समूह रूप परब्रह्म की झाँकी करने से परब्रह्म रूप हो जाता है ॥ २ ॥ जो गर्भ, जन्म, जरा, मरण, संसार आदि महान पापों से तारता है, उसे तारकब्रह्म कहा जाता है। जीव और ईश्वर को मायिक जानते हुए अन्य सबको 'नेति-नेति' कहते हुए जो कुछ शेष बचता है, वही अद्वय ब्रह्म है ॥ ३ ॥ उसकी सिद्धि के लिये तीन लक्ष्यों का अनुसंधान करना उचित है ॥ ४ ॥ देह के मध्य में सुषुम्ना नाम की ब्रह्मनाड़ी पूर्ण चन्द्रमा के समान प्रकाश वाली उपस्थित है, वह मूलाधार से आरम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इस नाड़ी के मध्य में करोड़ों बिजलियों के समान तेजवाली, मृणाल के सूत्र की तरह सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति प्रसिद्ध है। इसका मन के द्वारा दर्शन करने से मनुष्य सब पापों से छूट कर मुक्त हो जाता है। ललाट के ऊपर विशेष मण्डल में स्फुरित होने वाले तेज को तारक ब्रह्म के योग से सदैव देखता रहता है, वह सिद्ध हो जाता है। दोनों कानों के छेदों को तर्जनी अँगुलियों के अग्रभाग से बन्द कर लेने पर फुत्कार का शब्द सुनाई देता है। उसमें मन को स्थित करके चक्षुओं के मध्य नीली ज्योति के स्थल को अन्तःदृष्टि से देखने पर अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार का दर्शन हृदय में भी किया जाता है। इस प्रकार के अन्तर्लक्षणों का मोक्षाभिलाषी पुरुष को अभ्यास करना चाहिये ॥५॥

अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणम् । नासिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिरष्टभिः दशभिः द्वादशभिः क्रमात् अंगुलान्ते नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति । चलदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते । तद्दर्शनेन योगी भवति । तप्तकाञ्चनसंकाशज्योतिर्मयूखा अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति तद्दृष्टिः स्थिरा भवति । शीर्षोपरि द्वादशांगुलसमीक्षितुः अमृतत्वं भवति । यत्र कुत्र स्थितस्य शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टं चेत स तु योगी भवति ॥६॥

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवत् वह्निज्वालावलीवत् । तद्विहीनान्तरिक्षवत् पश्यति । तदाकाराकारितया अवतिष्ठति । तद्भूयोदर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति । विस्फुरत्तारकाकारदीप्यमानगाढतमोपमं परमाकाशं भवति । कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति । सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति । कोटि सूर्यप्रकाशवैभवसंकाश सूर्याकाशं भवति । एवं बाह्याभ्यान्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम् । तद्दर्शी विमुक्तफलस्तादृग्व्योमसमानो भवति । तस्मात् तारक एव लक्ष्यं अमनस्कफलप्रदं भवति ॥७॥

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धं तारकं उत्तरार्धं अमनस्कं चेति । तदेष श्लोको भवति—

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः ।
पूर्वं तु तारकं विद्यात् अमनस्कं तदुत्तरमिति ॥८

अब बाह्य लक्ष्य के लक्षणों पर विचार करते—नासिकाग्र से क्रमशः चार, छः, आठ, दस या बारह अंगुल की दूरी पर नील और श्याम रङ्ग का सा रक्त भृङ्ग के वर्ण का प्रकाश, जो पीत शुक्र वर्ण से भी युक्त होता है, उसे जो आकाश में देखता है, वह योगी

होता है । चलती हुई दृष्टि से आकाश में देखने से ज्योति किरणें दिखलाई देती हैं. उनको देखने वाला योगी होता है । जब नेत्रों के कोने में तप्त सुवर्ण के समान ज्योति मयूख का दर्शन होता है तो दृष्टि स्थिर हो जाती है । मस्तक के ऊपर बाहर अँगुल की दूरी पर ज्योति को देखने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है । चाहे जिस स्थान पर स्थित शिर के ऊपर जो व्योम ज्योति को देखता है, वह योगी होता है ॥ ६ ॥ इससे आगे मध्य लक्ष के लक्षण कहते हैं—प्रातः समय चित्रादि वर्ण युक्त अखण्ड सूर्य चक्रवत्, अग्नि की ज्वाला के सदृश्य और उनसे रहित अन्तरिक्ष के तुल्य देखता है. उनके आकार का होकर स्थिर रहता है, उसके दर्शन से फिर निर्गुण 'आकाश' हो जाता है । चमकने वाले तारे से प्रकाशित और प्रातःकाल के अँधेरे के समान 'परमाकाश' होता है । 'महाकाश' कालानल के समान प्रकाशयुक्त होता है । 'तत्वाकाश' सबसे उत्कृष्ट प्रकाश और प्रखर ज्योति वाला होता है । 'सूर्याकाश' करोड़ों सूर्यों के प्रकाश के समान होता है । इस प्रकार बाहर और भीतर स्थित ये पांच आकाश तारक का लक्ष्य है । इस विधि से आकाश को देखने वाला उसी के समान बन्धनमुक्त हो जाता है । तारक का लक्ष्य ही अमनस्क फल प्रदान करने वाला होता है ॥ ७ ॥ इस प्रकार यह तारक-योग दो प्रकार का होता है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध । इस विषय में यह श्लोक कहा है—"यह योग दो प्रकार का है—पूर्व और उत्तर । पूर्व को तारक कहा जाता है और उत्तर को अमनस्क ।" ॥८॥

अक्ष्यन्तस्तरयोः चन्द्रसूर्य प्रतिफलनं भवति । तारकाभ्यां सूर्यचन्द्र मण्डलदर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनम् । अत्राप्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत् तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृते-रनवकाशात् । तस्मात् अन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः ॥९॥

यत्तारकं द्विविधं: मूर्तितारकं अमूर्तितारकं चेति। यत् इन्द्रियान्तं तत् मूर्तिमत्। यत् भ्रूयुगातीतं तत् अमूर्तिमत्। सर्वत्र अन्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते। तारकाभ्यां तदूर्ध्वस्थसत्त्वदर्शनात् मनोयुक्तेन अन्तरीक्षणेन सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव। तस्मात् शुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम्। तद्ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषा अन्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति। एवं अमूर्तितारकमपि। मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्यं भवति, रूपग्रहण प्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वात् बाह्यवदान्तरेऽपि आत्ममनश्चक्षुः संयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात्। तस्मात् मनोयुक्ता अन्तर्दृष्टिः तारकप्रकाशाय भवति ॥१०॥

हम आंख के तारक (पुतलियों) से सूर्य और चन्द्र को देखते हैं। जिस प्रकार हम नेत्र के तारकों से बाह्य ब्रह्माण्ड के सूर्य और चन्द्र के दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपने सिर रूप ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित सूर्य और चन्द्र का निश्चय करके उनका दर्शन करना चाहिए और दोनों को एक ही समझकर मन से उनका ध्यान करना चाहिए क्योंकि मन को इस भाव में युक्त न किया जायगा तो इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत होने लगेंगी। इसलिये साधक को अन्तर दृष्टि से तारक का ही अनुसंधान करना चाहिए ॥ ६ ॥ तारक दो प्रकार का होता है—मूर्त और अमूर्त। जो इन्द्रियों के अन्त में है, वह मूर्ति तारक है और जो दोनों भ्रकुटियों से बाहर है, वह अमूर्ति है। अन्तः पदार्थों के विवेचन में सर्वत्र मन द्वारा अभ्यास करना चाहिए। सत्व-दर्शन युक्त मन से अन्तर में निरीक्षण करने से दोनों तारकों के ऊर्ध्व भाग में सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का दर्शन होता है। इससे विदित होता है कि ब्रह्म शुक्ल तेजोमय है। उस ब्रह्म को मन सहित चक्षुओं की अन्तःदृष्टि से देखकर जानना। अमूर्ति तारक भी इसी विधि से मन संयुक्त नेत्रों से विदित होता है। रूप

दर्शन के विषय में मन चक्षुओं के अधीन रहता है और बाहर के समान भीतर भी रूप ग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही होता है। इसलिए मन सहित चक्षुओं से ही तारक का प्रकाश जाना जाता है ॥ १० ॥

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टि तद्द्वारा ऊर्ध्वस्थिततेज आविर्भूत तारकयोगो भवति। तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानतया किंचिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत्। इति पूर्वतारकयोगः। उत्तरं तु अमूर्तिमत् अमनस्कमित्युच्यते। तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिमयूखो वर्तते। तत् योगिभिर्ध्येयम्। तस्मात् अणिमादिसिद्धिर्भवति ॥ ११ ॥

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासात् भूमिः पवित्रा भवति। तद्दृष्ट्या सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति। तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥ १२ ॥

अन्तर्लक्ष्यज्वलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति। परमगुरूपदेशेन सहस्रारज्वलज्ज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितचिज्ज्योतिर्वा षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वा अन्तर्लक्ष्यं भवति। तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम्॥१३॥

तारक योग का लक्ष्य दोनों भ्रकुटियों के मध्य स्थान के ऊर्ध्व भाग में स्थित तेज का दर्शन करना है। उसके सहित मन से तारक की सुयोजना करके प्रयत्नपूर्वक दोनों भौहों को किंचित उच्च रखे। यह तारक-योग का पूर्व भाग है। दूसरे उत्तर भाग—अमूर्तिमान को अमनस्क कहते हैं। तालुमूल के ऊर्ध्वभाग में महाज्योति किरणमण्डल होता है। वही योगियों का लक्ष्य है। उसी से अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ११ ॥ जब साधक की अन्तर और बाह्य लक्ष्य को

देखने वाली दृष्टि स्थिर हो जाती है, तब शांभवी मुद्रा होती है। इस मुद्रा से युक्त ज्ञानी के निवास करने की भूमि पवित्र मानी जाती है और सब लोग उसके दर्शन से पवित्र हो जाते हैं। जो कोई ऐसे परमयोगी की पूजा करता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है ॥ १२ ॥ अन्तःलक्ष्य तरल ज्योति के रूप में हो जाता है। परम गुरु का उपदेश प्राप्त होने से सहस्रदल-कमल में तरल जल-ज्योति अथवा बुद्धि गुहा में रहने वाली ज्योति अथवा सोलह कला के अन्त में स्थित तुरीय चैतन्य अन्तर्लक्ष्य होता है। यह सदाचार मूलक दर्शन है ॥ १३ ॥

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥१४
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः ।
एवंलक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥१५
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥१६
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥१७
गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम् ।
यस्मात्तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद्गुरुतरो गुरुरिति ॥१८

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वान् कामानवाप्नोति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ १९ ॥

वह सम्पन्न आचार्य, विष्णु भक्त, मत्सरता रहित, योगज्ञाता, योगनिष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मा में विशेष रूप से लीन, इन लक्षणों से युक्त गुरु कहा जाता है। 'गु' शब्द का

अर्थ है अन्धकार और 'रु' का अर्थ है इसको रोकने वाला। अन्धकार को दूर करने से गुरु होता है। गुरु ही परमब्रह्म है, गुरु ही परमगति है, गुरु ही पराविद्या है, गुरु ही परायण योग्य है, गुरु ही पराकाष्टा है, गुरु ही परम धन है ॥ १४–१८ ॥ वह गुरु उपदेश करने वाला होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। इसका उच्चारण करने से संसार से छुटकारा हो जाता है, सब जन्मों के पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं, सब कामनायें पूरी हो जाती हैं, सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वही उपनिषद् का ज्ञाता है ॥१९॥

॥ अद्वयतारक उपनिषद् समाप्त ॥

पाशुपतब्रह्मोपनिषत

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है, उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पूर्वकाण्डः

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥ १ ॥ वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति—जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीय योरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वंब्रूहि ब्रह्मन् ॥ २ ॥

स्वयंभूरुवाच—कृत्स्नजगतां मातृका विद्या ॥ ३ ॥ द्वित्रि-वर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो

मम प्राणात्मिका देवता ॥ ४ ॥ अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः ॥ ५ ॥ मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि च ॥ ६ ॥ अहोरात्रादिमतिसंवर्धिताः कालाः ॥ ७ ॥ मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्र ग्रहतेजांसि ॥ ८ ॥ गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपः नान्यो मदस्ति ॥ ९ ॥ तमोमायात्मको रुद्रः सात्विकमायात्मको विष्णु राजसमायात्मको ब्रह्मा । इन्द्रादयस्तामसराजसात्मिका न सात्विकः कोऽपि अघोरः साधारणस्वरूपः ॥ १० ॥

हरि ॐ। एक समय स्वयंब्रह्मा के मन में इच्छा हुई कि "मैं प्रजा उत्पन्न करू" तो कामनाओं के पूर्ण करने वाले रुद्र और कुबेर की उत्पत्ति हुई ॥ १ ॥ तब कुबेर और बालखिल्य ऋषि ने स्वयंभू से पूछा—जगत में विद्या क्या है ? जागृत और तुरीय अवस्था के देवता कौन हैं ? जगत किसके वश में है, काल का क्या प्रमाण है ? सूर्य चन्द्रादि किस की आज्ञा से प्रकाशित होते हैं ? आकाश के समान विशाल किस की महिमा है ? हम इन बातों को जानना चाहते हैं, आपके सिवाय कोई इनका जानने वाला नहीं हैं, अतएव इन बातों को बतलाइये ॥ २ ॥ स्वयंभू ने कहा—जगत की मातृका वर्णमाला रूप माता विद्या है ॥ ३ ॥ वह दो वर्ण (हंस) और तीन वर्ण (प्रणव) वाली है। दो वर्ण वाली भी तीन वर्ण की (प्रणव) ही है। चार मात्रा वाला ॐकार मेरा प्राण रूप देव है ॥ ४ ॥ तीनों लोकों का मैं ही एक मात्र पति हूं ॥ ५ ॥ समस्त युग मेरे वश में रहते हैं ॥ ६ ॥ मुझसे ही दिन-रात्रि आदि काल उत्पन्न हुये हैं ॥ ७ ॥ सूर्य का तेज और चन्द्रमा, तारागण, ग्रह आदि में जो ज्योति है, वह मेरी ही है ॥ ८ ॥ यह आकाश मेरी तीन शक्तिशाली माया रूप है और मेरे सिवाय कहीं कुछ नहीं है ॥ ९ ॥ रुद्र-तमोगुण

माया रूप है, विष्णु सतोगुणी माया रूप हैं और ब्रह्मा रजोगुणी माया रूप हैं। इन्द्रादि देव रजोगुण और तमोगुण दोनों से युक्त हैं, इनमें से कोई सात्विक नहीं है। केवल अघोर (शिव) ही सर्व सामान्यरूप के हैं ॥१०॥

समस्तयागानां रुद्रः पशुकर्ता रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुङ् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म ॥११॥

मानसो हंसःसोऽहं हंस इति तन्मयं यज्ञो नादानुसंधानम्। तन्मयविकारो जीवः ॥१२॥

परमात्मस्वरूपो हंसः। अन्तर्बहिश्चरति हंसः। अन्तर्गतोऽनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः ॥१३॥

षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिवन्धनम् अद्वैतद्ग्रन्थिः ॥१४॥ यज्ञसाधारणाङ्गं वहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥१५॥

उपवीतलक्षणसूत्र ब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्। तद्ब्रह्मसूत्रम्। यज्ञसूत्रसम्बन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥१६॥

अङ्गानि मात्राणि। मनोयज्ञस्य हंसो ब्रह्मसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम्। प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम् ॥१७॥

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयोगः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम् ॥१८॥

यज्ञ सूत्रं प्रणवम्। ब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मण। ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः। हंससूत्रचर्या यज्ञाः। हंसप्रणवयोरभेदः ॥१९॥

समस्त यज्ञों के कर्ता पशुपति रुद्र भगवान हैं, विष्णु अध्वर्यु,

इन्द्र होता है। महेश्वर का मानस रूप ब्रह्म की यज्ञ को भोगने वाला देवता है ॥ ११ ॥ उस मानस ब्रह्म का रूप है 'हंस सोऽहं।' इस तन्मयता को प्राप्त करने के लिये जो यज्ञ किया जाता है, वह नादानुसंधान। तन्मयता का विकार ही जीव है ॥ १२ ॥ यह हंस परमात्मा का स्वरूप है जो बाहर और भीतर चलता रहता है। भीतर जाने पर अनवकाश वाले स्थान में यह हंस सुपर्ण स्वरूप (ईश्वर) होता है ॥ १३ ॥ छियानवे तन्तुओं के रूप में व्यक्त होने वाला, चित् के तीन सूत्रों से चिन्मय, नौ तत्वों से तिगुना किया हुआ, ब्रह्मा, विष्णु, महेश रूप तीन अग्नियों से संयुक्त चिद् ग्रन्थि से बँधा, अद्वैत ग्रन्थि से युक्त, यज्ञ के साधारण अङ्ग रूप में बाह्य और अन्तर को सुप्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत हंस ही है ॥१४–१५॥

इस प्रकार उपवीत के सूत्र ब्रह्म-यज्ञ रूप हैं, अर्थात् यज्ञोपवीत ब्रह्म का प्रतीक रूप है। इस प्रकार यज्ञोपवीत और ब्रह्मयज्ञ एक दूसरे के स्वरूप हैं ॥ १६ ॥ इसके अङ्ग मात्रा है। यज्ञोपवीत इस मनोयज्ञ का हंस है। ब्रह्म-यज्ञ से युक्त प्रणव भी ब्रह्मसूत्र हैं। प्रणव का अन्तवर्ती हंस भी ब्रह्म सूत्र है। यह ब्रह्म-यज्ञ मोक्ष का साधन रूप है ॥ १७ ॥ ब्रह्म-संध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है। संध्या-क्रिया मानसिक यज्ञ का लक्षण है ॥ १८ ॥ जो यज्ञ सूत्र, प्रणव, ब्रह्म-यज्ञ की क्रिया से युक्त है, वह ब्राह्मण है। ब्रह्मचर्य में देव रहते हैं। सूत्र रूप हंस यज्ञ में रहते हैं, हंस और प्रणव एक ही हैं ॥ १९ ॥

हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्माकृतिवर्णोङ्कारहंसानुधानोऽन्तर्यागः ॥२०॥ चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिः

स्वरूपो हंसः ॥२१॥ यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तितत्प्रणव-हंससूत्रेणैव ध्यानमाचरन्ति ॥२२

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंससूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम् ॥२३॥ हृदादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्राघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणवाधारा षडङ्गुलदशाशीतिः ॥२४॥

वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंस परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः ॥२५॥ ये जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं न प्रकाशकम्। प्रणवहंसान्तर्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः ॥२६॥

हंस की प्रार्थना तीन समय की जाती है तीन काल में तीन वर्ण होते हैं। यह यज्ञ तीनों अग्नियों से करने का है। तीन अग्नि, आत्मा की आकृति और वर्ण वाले ॐकार रूप हंस का विचारना भीतर का यज्ञ है ॥ २० ॥ चित् रूप से तन्मय होना तुरीय का स्वरूप है। भीतर के सूर्य में हंस की ज्योति रूप है ॥ २१ ॥ यज्ञ का यह अंग ही ब्रह्म-सम्पत्ति है। इसलिये ब्रह्म की प्राप्ति के निमित्त प्रणव रूप हंस की साधना ही विधेय है ॥ २२ ॥ ब्रह्मपुत्र बालखिल्य ने पुनः स्वयंभू से पूछा—"हंस सूत्रों की संख्या कितनी है और उनका प्रमाण कितने हैं ? आप तो सब जानते हैं, बतलाइये।" ॥ २३ ॥ स्वयंभू ब्रह्म ने उत्तर दिया—"हृदय—आदित्य की छियानवे किरणें हैं। चित्त सूत्र रूप घ्राण से स्वर सहित निकलने वाली धारा भी छियानवे अंगुल होती है ॥ २४ ॥ वाम भुजा के पास कमर के दाहिनी ओर के मध्य में परमात्मा हंस का निवास है ॥ २५ ॥ पर इस गुह्य विषय को कोई जान नहीं पाता। जिनको अमृतत्व प्राप्त हो गया है, वे ही

उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को जानते हैं। प्रणव रूप हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता ॥ २६ ॥

नवसूत्रान्परिचर्चितान् । तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति । अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम् ॥२७॥ जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति ॥२८॥ वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः ॥२९॥ ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म । स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति ॥३०॥

अश्वमेधो महायज्ञकथा । तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति । सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति ॥३१॥

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच । उदितो हंस ऋषिः । स्वयंभूस्तिरोदधे । रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद ॥३२॥

जो रंगे हुये नौ सूत्रों के यज्ञोपवीत को धारण करते हैं, वे भी ब्रह्म समझ कर ही उसकी उपासना करते हैं। पर इन लोगों को अन्तरादित्य रूप ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता ॥ २७ ॥ सूर्य जगत को प्रकाश देता है, यह समझकर वे बुद्धिमान मनुष्य शुद्ध बुद्धि और ज्ञान के लिए उसकी प्रार्थना करते है ॥ २८ ॥ बाजपेय यज्ञ पशुपति रूप हैं, उसका देवता इन्द्र होता है। अहिंसा का पालन बहुत बड़ा यज्ञ है, इसमें परमहंस अध्वर्यु, परमात्मा देवता है ॥ २९ ॥ वेद और उपनिषद् में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उसी की ये स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानी उपासना करते हैं ॥ ३० ॥ इस महायज्ञ का ज्ञान ही अश्वमेघ यज्ञ है। इसके आश्रय से ही वे ब्रह्मज्ञान का आचरण करते हैं। पूर्वोक्त सब ब्रह्म यज्ञ ही मुक्ति प्रदान कर सकने वाले हैं ॥ ३१ ॥ ब्रह्मपुत्र ने फिर कहा—

"हंस विषयक ज्ञान का उदय हो गया ।" यह सुन कर स्वयंभू तिरोधान हो गये । उपनिषद् में जिस हंस ज्योति को कहा गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव ही पशुपति है ॥३२॥

॥ पूर्वकाण्ड समाप्त ॥

उत्तर काण्डः

हंसात्ममालिका वर्णब्रह्मकालप्रचोदिता ।
परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसंपत्तिकारिणी ॥१
अध्यात्मब्रह्मकल्पस्य आकृतिः कीदृशी कथा ।
ब्रह्मज्ञानप्रभा सन्ध्या कालो गच्छति धीमताम् ।
हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजा कथम् ॥२
अन्तःप्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः ।
अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम् ॥३
शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम् ।
नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्र विश्वविचेष्टितम् ॥४
त्रियङ्गानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः ।
अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः ॥५

'हंस' का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म की प्राप्ति होती है । परमात्मा और पुरुष भी यही है ॥ १ ॥ जो आत्मज्ञान से ब्रह्म सदृश्य हो गया हो उसके विषय में कहने को क्या रह जाता है ? ज्ञानी जन अपना समय ब्रह्म की चर्चा और उपासना में ही व्यतीत करते हैं । जब हंस और आत्मा में एकता स्थापित हो जाती है, तो प्रजा कहाँ हो सकती है ॥ २ ॥ भीतर में होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस विदित होता है, वही सब ज्ञान कराने वाला है । अन्तरानुभव द्वारा बाह्य ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥ शिव

सक्ति रूप, चिन्मय और आनन्द से विदित होने वाला वही है। नाद, बिन्दु और कला---इन तीनों नेत्रों से ही जगत चेष्टायुक्त है ॥४॥ तीन अङ्ग, तीन शिखा और दो या तीन मात्राओं से उसकी आकृति विदित होती है। जब इस प्रकार अन्तर्ज्ञान हो जाता है, तब इस गूढ़ आत्मा का ज्ञान बाह्यरूप से भी होने लगता है ॥ ५ ॥

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्मयं विध्युक्तलक्षणम्।
हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे ॥६
एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः।
स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥७
सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु।
विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥८
चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि।
अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥९
स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम्।
प्रवर्तकत्व चाप्यस्य मायया न स्वभावतः ॥१०

जगत के सूल रूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और हंस रूपी सूर्य का प्रणव सहित ध्यान करना चाहिये, यही ज्ञानियों का उपदेश है ॥ ६ ॥ इस तरह के ज्ञान की प्राप्ति होने से ही ज्ञान सागर के पार पहुंचा जा सकता है। स्वयं शिव और पशुपति ही सर्वदा साक्षी रूप हैं ॥ ७ ॥ वही शिव सब से मन को प्रेरित और नियमन करने वाला है, जिसके प्रभाव से मन विषयों में जाता है, प्राण चेष्टा करते हैं और वाणी उच्चारण करती है ॥ ८ ॥ उसकी प्रेरणा से ही नेत्र देखते हैं, 'कान सुनते है और अन्य सब इन्द्रियां भी

अपने-अपने विषयों में निरन्तर प्रवृत्त रहती हैं। यह प्रवृत्त होना माया रूप होता है, स्वभावतः नहीं होता ॥९—१०॥

श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान् ।
अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददादि श्रोत्रतां शिवः ॥११
मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः ।
मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥१२
स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि ।
अन्येपामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामहीश्वरः ॥१३
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु ।
ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च ॥१४
न गच्छन्ति स्वयंज्योतिःस्वभावे परमात्मनि ।
अकर्तु विपयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु ॥१५
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः ।
प्रत्यगात्मा परं ज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥१६

श्रोत्र आत्मा के आश्रित है और स्वयं पशुपति ही श्रोत्र में प्रविष्ट होकर उसको श्रवण शक्ति देते हैं ॥ ११ ॥ मन भी आत्मा में अध्यस्त है और परमेश्वर उसमें प्रविष्ट होकर, यहां रहते हुये उसे नियम रखते हैं और मनस्त्व प्रदान करते हैं ॥ १२ ॥ इसी प्रकार वे ही परमेश्वर सब इन्द्रियों को सचेष्ट करते हैं, पर लोग उनको जैसा बताते हैं या अनुमान करते हैं, उससे वे भिन्न हैं ॥ १३ ॥ परमेश्वर ही इन सब इन्द्रियों को तदनुकूल रूप देते हैं और उनका नियमन करते हैं, इसलिये ये नेत्र, वाणी, मन आदि समस्त इन्द्रियाँ परमात्मा के स्वयं ज्योति रूप को प्राप्त नहीं हो सकतीं (उसे नहीं जान सकतीं) जो यह समझता है कि परमात्मा अन्तः-

करण के विषयों से भिन्न हैं और इसलिये बिना तर्क और प्रमाण के उसे अपनी आत्मा से जानने का प्रयत्न करना चाहिए, उसी को यथार्थ में परमात्मा का ज्ञान हो सकता है। यह आत्मा ही परम प्रकाशरूप है, जब कि माया घोर तमरूप है ॥१४—१६॥

तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि ।
तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने ॥१७
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि ।
व्यावहारिकदृष्टयेयं विद्याऽविद्या न चान्यथा ॥१८
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम् ।
व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः ॥१९
प्रकाश एव सततं तस्माद्द्वैत एव हि ।
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः ॥२०

इसलिए प्रत्यगात्मा और माया की एकता किसी प्रकार संभव नहीं। इस प्रकार तर्क, प्रमाणों और अनुभव से विदित होता है कि चैतन्य रूप, स्वयं प्रकाश परमात्मा में माया नहीं है। विद्या और अविद्या के विषय व्यवहारिक हैं, परमात्मा से उनका सम्बन्ध नहीं ॥१७—१८॥ तत्व की दृष्टि से यह सब मिथ्या है, केवल एक तत्व ही वास्तविक है। व्यवहारिक दृष्टि से भी जो भी कुछ जान पड़ता है वह भी उसी प्रकार का आभास है। इससे यह सब अद्वैत ही है और अद्वैत भी उस प्रकार के अभेद से कहा जाता है ॥२०॥

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते ।
अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः ॥२१
न स जीवो न च ब्रह्मा न चान्यदपि किंचन ।
न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च ॥२२

न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च ।
यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति स्वत एव तु ॥२३
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते ।
जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित् ॥२४
न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति ।
धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते ॥२५

इस प्रकार सब एक ही प्रकाश है और इसके सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की अपेक्षा मौन श्रेष्ठ है । जिसको यह महान ज्ञान स्वयं ही विदित हो गया है वह न जीव रूप है, न ब्रह्म है और न कुछ और है। उसको वर्ण भी नहीं है, आश्रम भी नहीं है, धर्म भी नहीं है, अधर्म भी नहीं है, निषेध भी नहीं, विधि भी नहीं है। जब उसको सब कुछ ब्रह्ममय दिखाई देता है, तो उसे यह दुःखादि भेद का आभास बिल्कुल नहीं जान पड़ता। परब्रह्म का इस प्रकार ज्ञान रखने वाला इस जीवादि रूप वाले जगत को देखते हुए भी नहीं देखता। वह केवल चिद्रूप ब्रह्म को ही देखता है, धर्म तथा धर्मों का विषय भेद के रहते हुये भिन्न है ॥२१—२५॥

भेदा [दोऽ] भेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः ।
नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा ॥२६
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।
तथैव ब्रह्मविज्ज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥२७
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् ।
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् ॥२८
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिदं तथा ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥२९

ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ता—
द्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात् ।
ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च
ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरं च ॥३०

एक मात्र वह परमात्मा ही सदा से वर्तमान है और अन्य सब भेद, आदि तथा भेदाभेद उसमें ही व्याप्त है ॥ २६ ॥ वस्तु या अवस्तु जो कुछ है वह सब साक्षात् ब्रह्म ही है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मज्ञान रखने वाला किसी का ग्रहण या त्याग कैसे कर सकता है ? ॥ २७ ॥ जो ब्रह्म उपमारहित, वाणी और मन से अगोचर, दृष्टि से दिखाई न देने वाला, ग्रहण न कर सकने योग्य, अगोत्र, रूप रहित है, जो नेत्र, कान, हाथ, पैर आदि से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, अव्यय, मृत्युरहित है वही सब का अधिष्टान या आधार स्वरूप है। उसके आगे और पीछे श्रेष्ठ ब्रह्मानन्द ही है, दांये, वांये भी वह परम ब्रह्मानन्द है ॥३०॥

स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः ।
तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता ॥३१
एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसाऽपि च ।
ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना ॥३२
स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ॥३३
एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः ।
कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्ण रूपिणः ॥३४
आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति ।
तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्टः कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥३५

ऐसा साधक सब को सदा अपनी आत्मा के भीतर ही निःशङ्क भाव से देखता है। इस प्रकार भाव रखने से ज्ञानी ही नहीं अज्ञानी तक भी मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥ यह परविद्या सत्य, तपस्या और ब्रह्मचर्य से वेदान्त मार्ग द्वारा प्राप्त होती है ॥३२॥ जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, जिसके दोष क्षीण हो गये हैं, वे ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा को देख सकते हैं, माया में फंसे हुये उसको नहीं देख सकते ॥ ३३ ॥ जो योगी अपने स्वरूप को इस प्रकार जानता है, उस पूर्णता प्राप्त का आवागमन नहीं होता है ॥ ३४ ॥ जैसे जो सर्वत्र उपस्थित है वह कहीं नहीं आता जाता, उसी प्रकार जिसने अपने को ब्रह्म रूप समझ लिया है वह कहीं नहीं आ-जा सकता ॥३५॥

अभक्षयस्य निवृत्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत् ।
आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः ॥३६
चित्ते शुद्धे क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ते ग्रन्थयः स्फुटम् ।
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानस्यैव देहिनः ॥३७
न सम्यज्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु ।
अहमन्नं सदाऽन्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥३८
ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु ।
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा ॥३९
यस्योपसेचनं मृत्युस्यज्ज्ञानी तादृशः खलु ।
ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जागद्भोज्यं भवेत्खलु ॥४०

आहार में अभक्ष्य का त्याग कर देने से चित्त शुद्ध हो जाता है, आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि स्वयंमेव हो जाती है ॥३६॥ जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो क्रम से ज्ञान होता जाता है और अज्ञान की ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं। पर भक्ष्याभक्ष्य का विचार

उसके लिए ही आवश्यक है जिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है ॥३७॥ क्योंकि सम्यक् ज्ञानी का स्वरूप अज्ञानी के समान भेद ज्ञानयुक्त नहीं 'होता। ज्ञानी यह जानता है कि खाने वाला मैं हूं और अन्न भी मैं हूं ॥ ॥३८॥ पर जो ब्रह्मज्ञानी होता है वह सब को ब्रह्ममय देखता है, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि की भावना ही उसका भोजन हो जाता है ॥ ३९ ॥ मृत्यु जिसका अन्न (भोजन) है ऐसे ब्रह्म को जानने वाला भी वैसा ही हो जाता है और यह समस्त जगत उसके लिये भोजन स्वरूप हो जाता है ॥४०॥

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा ।
ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षित सकल तदा ॥४१
यदा भानेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत् ।
मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम् ॥४२
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मं वास्तित्वलक्षणम् ॥४३
अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा ।
नास्ति सत्ताऽतिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः ॥४४
योगिनामात्मनिष्ठानां माया ह्यात्मनि कल्पिता ।
साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता ॥४५
ब्रह्मनिज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत् ।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥४६
इत्युपनिषत् ॥

जब जगत को आत्मरूप में अनुभव किया जाता है, तो वह भोज्यरूप हो जाता है। आत्मरूप से ब्रह्म सदैव उसे भक्षण करता रहता है ॥४१॥ जिसका आभास होने से यह जगत भोजन रूप बन जाता है, जब वह आत्मरूप विदित हो जाता है तो अवश्य ही

ब्रह्म द्वारा भक्षित होती है ॥४२॥ इस प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूप को स्वयं ही खाता है, क्योंकि भोज्य पदार्थ उससे पृथक नहीं है, वैसे भी यदि वह अस्तित्व रूप है तो भी वह ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व हो नहीं है ॥४३॥ सत्ता का लक्षण अस्तित्व माना जाता है और सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं होती। ब्रह्म के सिवाय कोई सत्ता नहीं है, माया से कोई वास्तविक वस्तु नहीं होती ॥ ४४ ॥ योगीजन माया की कल्पना अपनी आत्मा से करते हैं। ब्रह्मज्ञान से बाधित होकर वह उनको साक्षी रूप भासती है ॥४५॥ इस प्रकार जिस ज्ञानी को ब्रह्मज्ञान का अनुभव हो गया है, वह चाहे जगत को अपने सम्मुख देखता रहे, पर वह उसे अपने से पृथक नहीं मानता ॥४६॥

॥ पाशुपत ब्रह्म उपनिषद् समाप्त ॥

—:o:—

प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु सहवीर्य करवाव है। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषाव है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करें, वह हम दोनों का पालन करें, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शरीर यज्ञं व्याख्यास्यामो यस्मिन्नेव पुरुषशारीरे विनाऽप्यग्निहोत्रेण विनाऽपि सांख्येन संसारनिवृत्तिर्भवतीति ॥ १ ॥

स्वेन विधिनाऽन्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधयः सोमराज्ञी-रिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामभिमन्त्रयति ॥ २ ॥

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥३

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥४
जीवला नघारिषां मा ते बध्नाम्योषधीः।
यातयायु रुपाहरादप रक्षांसि चातयात् ॥५

अब सब उपनिषदों का सारभूत सांसारिक ज्ञान से अतीत (परे) अन्नसूक्त तथा शरीर यज्ञ की व्याख्या की जाती है। जिस पुरुष शरीर के जान लेने पर बिना ही अग्निहोत्र के, बिना ही सांख्य

आदि दर्शनों के ज्ञान के संसार की निवृत्ति (संसार से निवृत्ति) पराङ्मुखता (मोक्ष प्राप्ति) हो जाती है ॥ १ ॥ बाह्य प्राणाग्निहोत्र की विधि अपनी-अपनी विधि के अनुसार पृथ्वी में बनाई वेदिका में शाकयुक्त अन्न रख कर 'या ओषधय' या फलिनी......जीवला नघारिषां......'इन तीन तथा' अन्नपते अन्नस्य......यदन्नमग्नि......इन दो से अभिमन्त्रित करे ॥ २ ॥ अब क्रमशः वह उपर्युक्त तीन व दो ऋचायें लिखी जाती हैं—जो सोम देवता प्रधान शतवीर्य बहुशाखा वाली बृहस्पति प्रसूत औषधियां हैं वह हमें पापमुक्त करदें ॥ ३ ॥ जो फलयुक्त, फलहीन, पुष्पहीन, अथवा पुष्प (फूल) युक्त बृहस्पति प्रसूत (उत्पन्न) औषधियां हैं, वह हमें पापमुक्त करदें ॥ ४ ॥ इन दो मन्त्रों तथा 'जीवला......रक्षांसि चातयान्'—इस तीसरे मन्त्र द्वारा एवं......अन्नपते......द्विपदे चतुष्पदे यदग्निना......ईशानाय स्वाहा, इन दो मन्त्रों से अभिषेक करना चाहिये। अर्थात् क्रमशः दिये इन पांच मन्त्रों से उस पिण्ड पर जलाभिषेक करना चाहिये ॥ ५ ॥

अन्नेपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥६
यदन्नमग्निर्बहुधा विरुद्धं रुद्रैः
प्रजार्थं यदि वा पिशाचैः ।
सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु
शिवमीशानाय स्वाहा ॥७
अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः ।
त्वं तजस्त्वं ब्रह्मा त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो
ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों नमः ॥८
आपः पुनन्तु पृथिवीं पूता पुनातु माम् ।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम् ॥

यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम ।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहा ॥९

अमृतमस्त्वमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे होम्यमाशिष्यन्योऽसि ॐ प्राणाय स्वाहा ॐ अपानाय स्वाहा ॐ व्यानाय स्वाहा ॐ उदानाय स्वाहा ॐ समानाय स्वाहा ॐ ब्राह्मणे स्वाहा ॐ ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १० ॥

इन मन्त्रों से अन्न को छूकर अभिमन्त्रित कर दाहिने हाथ में जल लेकर 'अन्न श्वरसि...' 'आपः पुनन्तु' इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्न का प्रोक्षण करे (जल के छीटे दे) तू प्राणियों के हृदय में सर्वतोमुख रूप होकर (सर्वत्र व्यापक) स्थित है, भ्रमण करता है। तू ही यज्ञ, ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु, वषट्कार, जलराशि, ज्योतिः, रस, अमृत, ब्रह्म तथा भूः भुवः एवं स्वः है, तुझे नमस्कार है ॥ ८ ॥ हे जल ! तुम पृथिवी को पवित्र करो और पवित्र हुई जो पृथ्वी वह मुझे पवित्र करे। ब्रह्मणस्पति भी पवित्र करें, ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्र करे। जो उच्छिष्ट, अभक्ष्य या दुश्चरित मेरा हो, उन सबको जल पवित्र कर दें और पापों को रोक दें ॥ ९ ॥ इस प्रकार प्रोक्षेण करके दो बार अभिषेक कर बाँये हाथ से वेदिका को छूता हुआ दाहिने हाथ में ग्रहण कर 'अमृतमस्त्वमृतोपस्तरणमसि' यह कह कर उसे पी कर 'अमृत प्राणे होम्यभाशिष्यन्नोसि' यह कहकर अमृतोपम होम करने योग्य वस्तु को तूने आस्वादित किया है यह समझ आत्मानुसन्धान पूर्वक प्राण में आहुतियाँ करे—ॐ प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान ये इन आहुतियों को प्राप्त करें। ब्रह्म भी आहुतियाँ प्राप्त करें। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का आस्वादन करे ॥ १० ॥

कनिष्ठिकाङ्गुल्याऽङ्गुष्ठेनप्राणे जुहोति अनामिकयाऽपाने मध्यमिकया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने ॥ ११ ॥
तूष्णीमेकामेकऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्नौ

एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये ॥ १२ ॥ अथापिधानमस्यमृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनः स्पृशेत् ॥ १३ ॥ सव्ये पाणावापो गृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्—

प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरावृतः ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन ॥१४
विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम् ।
विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि ॥१५

कनिष्ठिका अँगुली तथा अँगूठे से प्राण में अनामिका से, अपान में मध्यमा से, व्यान में सभी अँगुलियों से, उदान में तर्जनी से, समान में आहुति डाले (कल्पना करो) ॥ ११ ॥ मौन होकर एक आहुति 'प्राणाय स्वाहा' इस एक ऋचा से 'अपानाय स्वाहा' ये दो आहुतियाँ आहवनीय में होम करे। एक दक्षिणाग्नि, एक गार्हपत्य तथा एक सर्व प्रायश्चितीय अग्नि में होम करे ॥ १२ ॥ इस प्रकार पाँच आहुतियाँ करके यथानियम खाकर (आहुति शेष) 'अथ पुरस्तात् चोप रिष्टाच्च अद्भिः परिदधाति' इति श्रुति के अनुरोध से— अपिधान स्वरूप को अमृतत्व के लिए छूकर फिर ग्रहण कर पुनः स्पर्श करे ॥ १३ ॥ बाँये हाथ में जल ग्रहण कर हृदयालम्भन कर (हृदय के पास हाथ रख) जप करे—मुख्य प्राण ही अग्नि है स्वगत विशेष अंशों की समाप्ति पर वही परमात्मा है विराड् आदि स्थानीय पाँच वायुओं के द्वारा आवृत है। मुझे सब प्राणियों से अभय प्रदान करें, मुझे उनसे कभी भय उत्पन्न न हो ॥ १४ ॥ हे मुख्य प्राण! व्यष्टि (एक-एक) समष्टि (समूह रूप) के उपाधि भेद से तू ही विश्व (व्यावहारिक) वैश्वानर (विराड्) होकर विश्व रूप को धारण करता है 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। जिस रूप में कि तू ब्रह्मामृत स्वरूप है, तेरे से

प्रादुर्भूत होने वाला विश्व तो तुरीयाग्नि में सभी आहुतियां हो जाता है (विलीन हो जाता है) ॥१५॥

महानवोऽयं पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः ।
तमद्भिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च ॥१६॥

अनावित्येष वाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोति । सर्वेषा मेव सूनुर्भवतु । अस्य यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति ॥१७॥

स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति । चत्वारोऽग्नयस्ते किं कामरवंया: ॥१८॥ तत्र सूर्याग्निर्नामि सूर्यमण्डलाकृतिः हसस्र-रश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति यस्मादुक्तो दर्शना-ग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति । शारीरोग्नि-र्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति अघचन्द्राकृतिर्दक्षाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति । तत्र कोष्ठाग्निरिति–कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढ स्वादितं सम्याग्व्यष्टयं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्रो हिमांशुः प्रभुः प्रजननकर्मा ॥२०॥

"त प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्" इस श्रुति के अनुरोध से जो पैर के दोनों अंगूठों के आगे प्राण रूप से प्रतिष्ठित है वह तू प्रतिक्षण अभिनव (नया २) पुरुष होता है अर्थात् नित्य नवीन रूप में रहता है। इस भोजन के (प्राशन के) अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति के लिये उस व्यापक अन्न जल द्वारा सिञ्चित करता हूँ (अर्थात् उच्छ्वास निवास रूप से अभिषिक्त करता हूँ) तेरा अभिषेक करता हूँ ॥ १६ ॥ ये चेष्टा विशिष्ट है अतः वाह्यात्मा इनका ध्यान करे। यह पुरुष प्रतिदिन प्राण रूपी अग्निहोत्र करता है क्योंकि सभी तुझ परमात्मा (अग्निरूप) का पुत्रवत् पोषण करते हैं अतः तू सब का पुत्र भी होता है, इस प्रकार

जो तू तेरी यह लोक आहुतियों का होम करता है ॥ १७ ॥ अपने शरीर में यज्ञ की कल्पना की जाती है । इन शरीर निर्वर्त्य अग्नियों की संख्या चार है। उनका स्वरूप अत्यन्त (सूक्ष्म छोटा) है। ये सब अर्वमात्रिक मात्र हैं ॥ १८ ॥ इन चार में से सूर्याग्नि नामक अग्नि जो कि सूर्य मण्डल की आकृति का है, हजारों अत्यन्त तेजस्वी किरणों से युक्त व्यापक रूप होकर सिर में स्थित रहता है जैसे कि प्रसिद्ध है 'तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्' । क्योंकि वह जीवात्मा सर्वज्ञ ईश्वर रूप में दीखता है, इसी कारण यह एक दर्शनाग्नि कहलाता हैं जो कि बीज, विराड् आदि चार आकृति वाला आहवनीय होकर (होम का आधार स्थल बनकर) मुख में रहता है। (स्थूल शरीर का दाह करने वाली) शरीर अग्नि (हिरण्यगर्भ) स्थूल शरीराश्रित जरादि (वृद्धावस्था) द्वारा क्षीण किया जाता है स्थूल प्रपंच रूप हवि को ग्रसित करता है जो कि अर्वचन्द्र की आकृति वाला दक्षिणाग्नि होकर सब प्राणियों के हृदय में स्थिर रहता है। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणायाम समायुक्तः पंचाम्यन्नं चतुर्विधम्' इस रूप में सिद्ध 'कोष्ठाग्नि' है जो कि खाई, पी हुई, चाटी तथा आस्वादित वस्तु को भली भाँति पकाकर गार्हपत्य रूप में नाभि स्थल में रहता है ॥ १६ ॥ प्रायः चित्तोपाधि स्वरूप विराड् आदि के नीचे प्रतिष्ठित वक्र, तीन (पराग वृत्तियाँ) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्था के प्रकाशक हिमांशु अर्थात् चिद्रूप चन्द्र सभी प्रकार प्रभु हैं । [समर्थ] है सब कुछ प्रकाशित कर देने वाला है ॥२०॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाऽशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्याः कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रति-

प्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः क उद्गाता का धारा कः पोता के दर्भाः कः स्रुवः काऽऽज्यस्थाली कावाधारौ कावाज्यभागौ के प्रयाजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः शंयोर्वाकः के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृयमिति ॥२१॥ अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाऽशोभितस्यात्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महऋत्विजः अहंकारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः पतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्गाता समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्य आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिदया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भाः इन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रियाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वाण्यस्मिन् देवता शरीरेऽधिसमाहिताः ॥२२॥

वाराणस्यां मृतो वाऽपि इदं वा ब्राह्मणः पठेत् ।
एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत् ॥२३

इस शरीर यज्ञ का, जो कि खम्भे तथा रशनाहीन है, कौन यजमान है ? तथा पत्नी, ऋत्विज, सदस्य कौन है ? यज्ञ-पात्र हवि, वेदि अन्तर्वेदिका (छोटी) द्रोण कलश, रथ, पशु (बलिपशु) अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणच्छसी, प्रतिस्थाता, प्रस्त्रोता, मैत्रावरुण उद्गाता, धारा, पवन करने वाला, दर्भ (कुश) स्रुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र) आधार, आज्यभाग, प्रयाज, अनुयाज, इडा, सूक्तवाक् शंयोवाक्, पत्नीसंयाज, यूप, (खम्भा), रशना इष्ट दक्षिणा एवं यज्ञ के

अन्त में किये जाने वाला अवभृथ (एक स्नान विशेष) कौन कौन हैं ? अर्थात् जैसे यज्ञ में उपर्युक्त सभी वस्तुयें अपेक्षित हैं वैसे ही इस शरीर यज्ञ के लिये भी ये अवश्य अपेक्षित हैं, फिर ये कहाँ हैं तथा कौन हैं ? ।। २१ ।। इस शरीर यज्ञ का आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज है, अहङ्कार तत्व ही अध्वर्यु है, चित्त ही होता है, प्राण ब्राह्मणच्छसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है, व्यान प्रस्तोता, उदान उद्गता, समान, मैत्रावरुण, शरीर वेदि, नाक, अन्त, वेदी, सिर द्रोण कलश, पैर, रथ, दाहिना हाथ स्त्रुवा, बांया हाथ घृतपात्र, कान आघार (प्रणिधा प्रोक्षणीपात्र) आंख आज्यभाग, गर्दन धारा, तन्मात्राएँ [पाँच] पोता, पञ्चमहाभूत सदस्य, गुण प्रयाज अनुयाज, जीभ इडा, दांत ओष्ट सूक्तवाक, तालु शंयोर्वाक, स्मृति दया शान्ति अहिंसा, पत्नीसंयाज, ॐकार खम्भा, आशा रशना, मन रथ, काम ही पशु, काल ही कुशायें इन्द्रियाँ यज्ञपात्र, कर्मेन्द्रियाँ हवि, अहिंसा इष्टकायें, त्याग ही दक्षिण मृत्यु ही अवभृथ स्नान है। अर्थात् उपर्युक्त वस्तुओं में तत्तद् वस्तु की स्थिति समझ उन्हीं के अनुसार क्रियायें भी समझनी चाहिये। तभी यह यज्ञ पूरा फलदायक होता है [मोक्ष की प्राप्ति का साधन होता है] तथा सभी देवता इस शरीर में समाहित होते हैं ।। २२ ।। यदि किसी का शरीर काशी में छूटे अथवा यदि कोई ब्राह्मण इसे पढ़े तो एक ही जन्म से चित्त शुद्धि करने वाले ज्ञान तथा मोक्ष को प्राप्त करले ।।२३।।

।। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् समाप्त ।।

—o—

योगकुण्डल्युपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो हम परस्पर द्वेष न करे । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

प्रथमोऽध्यायः

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥१

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥२

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् ।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशावशेषकः ॥३

भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥४

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥५

हरि ॐ । चित्त की अस्थिरता के दो कारण होते हैं, एक वासना, दूसरा श्वास (प्राण) इनमें से एक के नष्ट हो जाने पर

दूसरा भी नष्ट हो जाता है ।। १ ।। इसलिये साधक को पहले प्राण को जय करना चाहिये और इसके लिये मिताहार, आसन और शक्ति-चालन को करना चाहिये ।। २ ।। हे गौतम ! अब मैं तुझको इनके लक्षण बताता हूँ, उन्हें तू ध्यानपूर्वक सुन । सर्व प्रथम स्निग्ध और मधुर आधार करना चाहिये तथा पेट के एक चौथाई भाग को खाली छोड़ देना चाहिये ।। ३ ।। इस प्रकार का भोजन भगवान के उद्देश्य से किया जाय, यही मिताहोर है । आसनों में दो प्रकार के मुख्य हैं—पद्मासन और वज्रासन ।। ४ ।। दोनों जांघों पर एक दूसरे पैर के तलवों को सीधा रखने से पद्मासन होता है, जो सब पापों का नाश करने वाला है ।। ५ ।।

वामाङ्घ्रिमूलं कन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत् ।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासमनमितिम् ।।६
कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ।।७
तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ।।८
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्यैव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ।।९
यस्याः संचालने नैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ।।१०

बांये पैर की एड़ी को योनि स्थान में रखे और दाहिने की एड़ी उसके ऊपर रखे, गर्दन तथा शिर को समान और सीधा रखे तो यह वज्रासन होता है ।। ६ ।। कुण्डली ही मुख्य शक्ति है, ज्ञानी साधक उसको चालन करके दोनों भौंहों के मध्य में ले जाता है तो वहीं

शक्तिचालन है ॥ ७ ॥ कुण्डलिनी को चलाने के दो मुख्य साधन हैं, सरस्वती का चालन और प्राण निरोध, अभ्यास द्वारा लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है ॥ ८ ॥ पहले तुझको सरस्वती के चालन के विषय में समझाता हूँ, प्राचीनता वाले सरस्वती को अरुन्धती कहते हैं। इस सरस्वती नाड़ी का चालन करने से कुण्डलिनी अपने आप चलने लगती है। इसके लिए जब श्वांस इड़ा [बाँयी] नाड़ी से बहती हो तो पद्मासन लगाकर बैठे ॥९-१०॥

द्वादशांगुलदैर्ध्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् ।
बिस्तीर्यं तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥११

अंगुष्टतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥१२

मुहुर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ।
उर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगता ॥१३

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेन् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥१४

तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते ।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत् ॥१५

तब बारह अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े आकाश के टुकड़े से (कल्पित करके) कुण्डलिनी को लपेटे ॥ ११ ॥ तब बांयी और दाहिनीं नासिका को अंगूठे और तर्जनी से दृढ़तापूर्वक पकड़े और पहले दाहिनीं से और फिर बांयी नासिका से बार बार रेचक और पूरक करे। साथ ही उसको मानसिक भावना द्वारा दांयी और बांयी ओर बार-बार चालन करता रहे ॥ १२ ॥ इस प्रकान दो मुहुर्त तक सरस्वती का चालन करता रहे। इसके पश्चात् सुषुम्ना नाड़ी को

जो कुण्डलिनी के समीप ही रहती है किंचित ऊपर की तरफ खींचे ॥ १३ ॥ इस विधि से अभ्यास करने पर कुन्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चढ़ने लगती है और प्राण भी स्वयं ही उस स्थान को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है ॥ १४ ॥ पेट को ऊपर की तरफ खींच कर तथा कण्ठ को संकोचन कर सरस्वती को चलाने से वायु वक्षस्थल से ऊपर चला जाता है ॥ १५ ॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत् ॥१६
तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम् ।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥१७
गुल्मं जलोदरप्लीहो ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥१८
प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥१९
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥२०

जब सरस्वती का चालन किया जाय तो सूर्य नाड़ी (दाहिनीं) से वायु का रेचक करे, कण्ठ से संकोचन कर ले तो वायु वक्षस्थल से ऊपर चला जाता है ॥ १६ ॥ इस प्रकार शब्दगर्भा सरस्वती का लगातार चालन करते रहना चाहिये। इसके चालन से योगी सब प्रकार के रोगों से छूट जाता है ॥ १७ ॥ गुल्म, जलोदर, प्लीहा तथा पेट सम्बन्धी अन्य रोग शक्तिचालन से निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाते हैं ॥१८॥ आगे प्राण निरोध (प्राणायाम) को बतलाते हैं। देह में चलने वाले वायु को प्राण कहते हैं और जब वह स्थिर हो जाता है तब वह कुम्भक कहा जाता है ॥ १९ ॥ यह कुम्भक दो प्रकार का

बतलाया गया है--सहित और केवल। जब तक केवल कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित-कुम्भक का अभ्यास करना चाहिये ॥ २० ॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः ॥२१
पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते।
धनुःप्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥२२
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥२३
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥२४
कपालशोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥२५

सूर्यभेदी, शीतली और भस्त्रिका इन चार प्रकार के प्राणायामों के साथ सहित कुम्भक किया जाता है ॥ २१ ॥ एकान्त और पवित्र स्थान में जहाँ कंकड़-पत्थर आदि न हों और पास में ही घास, अग्नि, जल आदि न हों, वहाँ न अधिक ऊँचा न अधिक नीचा ऐसे पवित्र सुखदायक आसन पर बद्ध-पद्मासन लगाकर बैठे और सरस्वती का चालन करे ॥ २२--२३ ॥ दाहिनी नासिका से बाहर की वायु को धीरे-धीरे खीचे और पर्याप्त परिमाण में वायु के भीतर जाने पर बांयी नासिका से रेचन करे ॥ २४ ॥ कपाल शोधन की क्रिया में भी वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले। इससे चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं ॥२५॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥२६

यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥२७
शीर्षोदिता नलहरं गलश्लेष्महरं परम् ।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥२८
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥२६
जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥३०
गुल्मप्लीहादिका दोषाः क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥३१

इस क्रिया को सूर्य भेदन कहते हैं, इसका अभ्यास बार-बार करते रहना चाहिये। अब उज्जायी को बतलाते हैं कि मुख बन्द करके दोनों नासिकाओं से वायु को धीरे से खींचे जिससे वह शब्द करती हुई कण्ठ से लेकर हृदय तक भर जाय। तब पूर्ववत् कुम्भक करके बाँयी नासिका से रेचक करे, इससे मस्तक की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक रोग दूर हो जाते हैं और देह की अग्नि की वृद्धि होती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी जलोदर और धातु सम्बन्धी रोग भी दूर हो जाते हैं। इस उज्जायी कुम्भक को चलते-फिरते, स्थिर रहते सदैव करते रहना चाहिये॥ २६--२६ ॥ शीतली नामक प्राणायाम करते समय वायु को जिह्वा द्वारा खींचकर पूर्ववत् कुम्भक किया जाता है फिर नासिका के छिद्रों से वायु को शनैः निकाल दिया जाता है। इससे गुल्म, प्लीहा, पित्त ज्वर, तृषा आदि दूर होते हैं ॥ ३०--३१ ॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥३२

यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः ।
वेगेन पूरयेत् किञ्चिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ।। ३३
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रावेगेन चाल्यते ।।३४
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण रेचयेत् ।।३५
यथोदरं भवेत्पूर्णपवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां बिना दृढम् ।।३६
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ।।३७
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ।।३८
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यंकुम्भकं त्विदम् ।।३९

अब भस्त्रिका प्राणायाम को बतलाते हैं कि पद्मासन लगाकर गर्दन और देह को सीधा रखते हुए, मुख को बन्द करके वायु को सावधानी पूर्वक नासिका से रेचन करे। फिर वायु को वेगपूर्वक शब्द करते हुए ऐसे खींचे कि कण्ठ, तालु, कपाल तथा हृदय को उसका स्पर्श जान पड़े। फिर उसे बाहर निकालकर पुनः पूरक करे, इस प्रकार वायु को बार-बार वेग पूर्वक इस प्रकार खींचे और भरे जैसे लुहार की भाथी चलती है। इसी विधि से शरीर स्थित वायु को सँभालकर चलावे। जब श्रम जान पड़े तब सूर्य नाड़ी से पूरक करे और तर्जनी के अतिरिक्त चारों ओर अँगुलियों से नासिका को मध्य से दृढ़तापूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे तथा फिर बांयी नाक से रेचक करदे यह अभ्यास कण्ठ की जलन को मिटाता है और शरीर की अग्नि को बढ़ाता है, कुण्डली को जगाता है, पुण्यकारी, पाप नाशक

शुभ और सुखदायक है। ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) के मुख पर जो कफ आदि रहता है उसको नष्ट करने वाला है। यह सत् आदि तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रन्थियों का भेदन करने वाला है। इसीलिये इस भस्त्रिका नामक प्राणायाम का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिये ॥३२—३९॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥४०
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥४१
अधोगत्तिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥४२
अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हृता ॥४३
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥४४
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥४५

इस प्रकार इन चारों प्रकार के प्राणायामों को रोकने के साथ-साथ योगी को तीन 'बन्ध' भी करने चाहिए। इनमें से पहला मूलबन्ध, दूसरा उड्डियाण और तीसरा जालन्धरबन्ध कहा जाता है ॥४०—४१॥ अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमंडल से मिलता है तो उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता बहुत अधिक हो जाती है। उस ज्वाला से संतप्त होकर सोई हुई कुण्डलिनी जागृत होती है और

दण्डे से मारी जाने वाली सर्पिनी के समान फुत्कार कर सीधी हो जाती है ।।४२—४५।।

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मानाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ।।४६।।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
वन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः ।।४७।।
तस्मादुड्डियणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।।४८।।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
पश्चिम ताणमुदरे धारयेद्ध दये गले ।।४९।।
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसधिं निगच्छति ।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ।।५०।।

तब वह बिल में प्रवेश करने के समान सुषुम्ना के भीतर जाती है । इस कारण योगियों को मूलवन्ध का अभ्यास सदैव करना चाहिये ।। ४६ ।। कुम्भक के पश्चात् रेचक करने के पूर्व उड्डियानबन्ध करना चाहिए, जिससे प्राण वायु सुषुम्ना के भीतर उड़ती है । इसलिए योगीजन इसको उड्डियाण कहते है । इसके लिये वज्रासन लगाकर पैरों को हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़े । जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है वहाँ कन्द स्थानों को दबावे, पेट को ऊपर की तरफ खींचे और हृदय तथा गले को भी तनाव देकर खीचे । इस विधि से प्राण क्रमशः पेट की संधियों में प्रवेश करता है और पेट के सब दोपों को दूर करता है । इस कारण यह अभ्यास सदैव करते रहना चाहिये ।।४७—५०।।

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ।।५१।।
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥५२॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥५३॥
प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥५४॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥५५॥

जालन्धरबंध में कंठ का संकोचन वायु को रोकने के निमित्त किया जाता है, वह बंध पूरक के अन्त में करना होता है ॥ ५१ ॥ अधोभाग में मूलबंध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालंधर बन्ध द्वारा कण्ठ का संकोचन करे और मध्य में पश्चिमतान(उड्डियान) से प्राण को खींचे। इस प्रकार सब तरफ से रोका जाकर प्राण ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) में चढ़ता है ॥ ५२ ॥ जैसे पहले बतलाया गया है सम्यक प्रकार से आसन पर बैठकर सरस्वती का चालन करके प्राण का निरोध करना चाहिये ॥ ५३ ॥ प्रथम दिन चारों कुम्भकों को दस-दस बार करना चाहिए और दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार करना चाहिये। तीसरे दिन बीस-बीस करना चाहिये, इसी प्रकार प्रतिदिन पाँच-पाँच बढ़ाता जाय। इन कुम्भकों का अभ्यास प्रतिदिन तीन बन्ध सहित करना चाहिये ॥५४-५५॥

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।
बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥५६॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात् ।
शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥५७॥
योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते ।
ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥५८॥

द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता ।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥५९
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम् ।
विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥६०
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः ।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥६१

दिन का सोना, रात का जगना, अति मैथुन, ज्यादा चलना, मलमूत्र का सदैव रोकना, आसन की विषमता, हठपूर्वक प्राण का अभ्यास आदि दोषों से शीघ्र ही रोगों का आक्रमण होता है ॥ ५६ ॥ यदि कोई कहे कि मुझे योगाभ्यास ही से रोग हुआ, तो उसे समझ लेना चाहिए कि योगाभ्यास का त्याग ही सबसे पहला विघ्न है, दूसरा विघ्न संशय करते रहना, तीसरा प्रमत्तता, चौथा आलस्य, पाँचवाँ अधिक निद्रा, छठा प्रेम न रहना, सातवाँ भ्रान्ति, आठवाँ विषमता, नवाँ अनाख्य और दसवाँ योगतत्व की अप्राप्ति है। बुद्धिमान साधक इन सबको विचार कर इनका त्याग कर दे ॥ ५७–६१ ॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वास्थया धिया ।
सुषुम्ना लीयते चित्तं न च वायुः प्रधावति ॥६२
शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चालिता ततः ।
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥६३
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥६४
प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलीं यति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥६५
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्नावदनान्तरे ॥६६

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास नियमित रूप से सत्वमयी बुद्धि से करना चाहिए। इसके फलस्वरूप चित्त सुषुम्ना में संलग्न रहता है और उसमें प्राणवायु दौड़ता है ॥ ६२ ॥ जब मलशोधन हो जाय और प्राण चलने लगे तब प्रयत्नपूर्वक अपान की ऊर्ध्वगति करनी चाहिए ॥ ६३ ॥ इसके लिए जो गुदा का आकुंचन किया जाता है, उसे मूलबन्ध कहते हैं। यह अपान ऊपर आकर अग्नि के साथ संयुक्त होता है और ऊपर चढ़ता है ॥ ६४ ॥ जब यह अग्नि प्राण स्थान में पहुँच प्राणवायु से मिलता है और वे सोती हुई कुण्डलिनी को प्राप्त होते हैं तो उसकी उष्णता से तप्त होकर तथा वायु से चलित होकर कुण्डलिनी सीधी हो जाती है और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है ॥ ६५–६६ ॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्वा रजोगुणसमुद्भवम्।
सुषुम्ना वदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥६७
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥६८
भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्।
अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥६९
तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम्।
चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रविग्रहात् ॥७०

रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर बिजली की रेखा की तरह चढ़ती है ॥ ६७ ॥ शीघ्र ही यह हृदय स्थिति विष्णु-ग्रन्थि को प्राप्त होती हुई और भी ऊपर (आज्ञा चक्र) जाती है और वहाँ रुद्र-ग्रन्थि को प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥ वहाँ से यह भौंहों के मध्य स्थान को भेदती हुई चन्द्रमा के स्थान में पहुँचती है, जहाँ सोलह पँखुरियों वाला अनाहत चक्र स्थित है ॥ ६९ ॥

यहाँ यह चन्द्रमा से उत्पन्न द्रव को सोख लेती है तथा प्राणवायु के वेग से रक्त और पित्त को सूर्य ग्रहण कर लेता है ॥ ७० ॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम् ।
तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम् ॥७१
तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते ।
ऊर्ध्वं प्रहवति क्षुब्धा तदैवं स्रवत्तेतराम् ॥७२
तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्टं बिषमेषु यत् ।
तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थस्यात्मरतो युवा ॥७३
प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।
क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥७४
इत्यधोर्ध्वंरजः शुक्ले शिवे तदनु मारुतः ।
प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च ॥७५

यह चन्द्र मंडल में जाकर वहाँ के द्रव पदार्थ को शोषण कर लेती है और उसे उष्ण कर देती है। तब वहाँ शीतलता कैसे रह सकती है ? ॥ ७१ ॥ यह चन्द्रमा के शुक्ल रूप को तप्त कर देती है और क्षुब्ध होती हुई ऊपर चढ़ती है ॥ ७२ ॥ इसके प्रभाव से जो चित्त पहले बाहरी पदार्थों में संलग्न रहता था, वह परमार्थ में लग कर आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है ॥ ७३ ॥ इस प्रकार कुण्डलिनी अष्टधा प्रकृति को प्राप्त होकर शिव के साथ मिलती है और उसी के साथ लय को प्राप्त हो जाती है ॥ ७४ ॥ इससे अधोभाग का रज और ऊपर का शुक्ल मिलकर शिव में लीन हो जाते हैं, तथा प्राण और अपान भी उन्हीं में लीन हो जाते हैं, क्योंकि वे समान रूप से उत्पन्न होते हैं ॥ ७५ ॥

भूतेऽल्पे च मनोल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते ।
धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥७६

आधिभौतिकदेहं तु अधिदैविकविग्रहे ।
देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥७७
जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् ।
तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥७८
जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः ।
इति तं स्वस्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत् ॥७९
मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।
रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा ॥८०

भौतिक देह चाहे छोटा हो या बड़ा हो जब उष्णता बहुत बढ़ती है तो वह समस्त देह में उसी प्रकार फैल जाती है जैसे गर्मी पाकर सुवर्ण फैल जाता है ॥ ७६ ॥ इसके प्रभाव से आधिभौतिक देह आधिदैविक हो जाता है और शरीर अत्यन्त विमल होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है ॥ ७७ ॥ वह जड़ता को त्याग कर निर्मल चित्स्वरूप हो जाता है, जब कि अन्य देह जड़तायुक्त ही बने रहते हैं ॥ ७८ ॥ ऐसे साधक का गर्भवास छूट जाता है और काल का भी उस पर वश नहीं चलता। उसको अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी में सांप का भ्रम होता है, सीपी में चाँदी का भ्रम होता है, स्त्री में पुरुष का भ्रम होता है, इसी प्रकार वह अपने देह सम्बन्धी भ्रम को समझ जाता है कि यह मिथ्या है ॥ ७९—८० ॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥८१
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।
मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥८२
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥८३

वायुमूर्ध्वंगतं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः ।
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्टानगतो ज्वलन् ॥८४
ज्वलनाघातपवना घातोरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थि भिनत्त्यतः ॥८५
रुद्रग्रन्थि च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणा ॥८६
इति ॥

इससे पिण्ड और ब्रह्माण्ड की, लिंग-देह और सूत्रात्मा की एकता होकर अपनी आत्मा और स्वयं प्रकाश रूप चैतन्य में एक्य भाव हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति पद्मतन्तु के समान होती है और कमल के कन्द के समान ही मूलकन्द को फणाग्र से देखकर, अपनी पूँछ को मुख में डालकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढक कर सोती रहती है। उसके लिए साधक को पद्मासन लगाकर, गुदा का आकुंचन करके कुम्भक द्वारा वायु को ऊपर चढ़ाना चाहिए। वायु के जोर से स्वाधिष्टान चक्र की अग्नि को प्रज्वलित करे ॥ ८३—८४ ॥ तब अग्नि और पवन दोनों के आघात से सोई हुई कुण्डलिनी जागृत होती है और ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि तथा रुद्र-ग्रन्थि को तथा षटचक्र को भेदन करती हुई सहस्र दल कमल में पहुँच जाती है। वहाँ यह शिव से शक्ति रूप में मिलकर आनन्द को प्राप्त होती है। यही श्रेष्ठ और मोक्षदायक अवस्था होती है ॥ ८६ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा विज्ञातवानस्य लोकेऽस्मिन्नजरामरः ॥१

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥२
जरामृत्यु गदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥३

तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥४
अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥५

अब खेचरी विद्या के सम्बन्ध में बतलाते हैं, जिसके जानने से वृद्धावस्था तथा मृत्यु से छूट जाते हैं ॥ १ ॥ बुढ़ापा, मौत और रोगों में जो मनुष्य ग्रस्त हैं, उनको निश्चयपूर्वक इस विद्या का अभ्यास करना चाहिए और जो महापुरुष ग्रन्थों से, भाव से, अभ्यास से इनका ज्ञान रखता है, उसी को सर्व भाव से गुरु मानकर तथा उसका आश्रय ग्रहण करके इसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए क्योंकि यह खेचरी विद्या बड़ी कठिन है और उसका अभ्यास और भी अधिक कठिन है ॥ २–४ ॥ इसका अभ्यास और मेलन (योग) दोनों एक साथ करने से अथवा दोनों को अलग-अलग करने से भी सिद्धि प्राप्त कर सकना संभव नहीं होता ॥ ५ ॥

अभ्यासं लभते ब्रह्मन् जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलनं जन्मनां तत्तु शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥६
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम् ।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥७
यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ ॥८
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा ।

तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः ॥९
शास्त्रं विनाऽपि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने ॥१०

अभ्यास तो किसी जन्म में मिल भी जाता है । पर मेलन (योग) सैकड़ों जन्म में भी नहीं मिलता ।। ३ ।। बहुत से जन्मों तक अभ्यास करने पर किसी जन्म में योगी 'मेलन' को प्राप्त होता है ।। ७ ।। जब साधक गुरु के मुख से 'मेलन' का मन्त्र प्राप्त करता है, तो उसे शास्त्रानुकूल सिद्धि की भी प्राप्ति हो जाती है ।। ८ ।। जब साधक ग्रन्थ के अर्थ को समझ कर 'मेलन' को प्राप्त करता है, तो भी वह संसार से छूटकर शिवत्व को प्राप्त होता है ।। ९ ।। शास्त्र का होना भी अत्यावश्यक है क्योंकि इसके बिना गुरु भी यथार्थ बोध नहीं करा सकते । इसी लिए शास्त्र का प्राप्त होना भी बड़े महत्व का है ।।१०।।

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः ।
यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः कर स्थिता ॥११
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥१२
तदभ्यासप्रदातारं सिवं मत्वा समाश्रयेत् ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां व प्रकाशयेत् ॥१३
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥१४
तत्र गत्वा च तेनाक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम् ।
तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥१५

जब तक शास्त्र की प्राप्ति न हो तब तक पर्यटन करते हुए प्रयत्नशील रहे । जब सच्चा शास्त्र मिल जायगा तब सिद्धि हाथ में ही

रखी है ॥ ११ ॥ शास्त्र के विना सिद्धि तीनों लोक में कहीं दिखाई नहीं देती। इसलिए मेलन (योग) का देने वाला, शास्त्र का देने वाला और अभ्यास का कराने वाला गुरु भगवत स्वरूप ही है, ऐसा समझ कर उसका आश्रय लेना चाहिये और इस शास्त्र को प्राप्त कर लेने पर किसी अन्य के सम्मुख प्रकट न करना चाहिए ॥१२—१३ ॥ इसलिए इसको हर तरह से प्रयत्न करके गुप्त रखना चाहिये और जहाँ कहीं इस दिव्य योग का ज्ञाता गुरु रहता हो, वहाँ उसके पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण करके सम्यक रूप से इसका अभ्यास करना चाहिए ॥ १४—१५ ॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत् ।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन खेचरीबीजपूरया ॥१६
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।
खेचरावसथं वह्निसम्बुमण्डलभूषितम् ॥१७
आख्यातं खेचरीवीजं तेन योगः प्रसिध्यति ।
सोमांशनवकं वर्ण प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥१८
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टनं वर्ण विलोमेनापरं मुने ॥१९
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमा ।
इन्दोश्च वहुभिन्न च कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥२०

योगी को इस विद्या द्वारा खेचरी शक्ति की प्राप्ति होती है। खेचरी में खेचरी के बीज सहित खेचरी का योग करने से साधक खेचरों (देवताओं) का अधीश्वर बनकर सदा उन्हीं में रहता है। खेचर का प्रतीक 'ह' कार आवसथ (धारणा) का 'ई'कार, अग्नि का 'रकार और जल का 'म'कार है। इन सबका योग करने से 'ह्रीं' होता है जो कि खेचरी का बीज मन्त्र है और इसी से खेचरी

योग सिद्ध होता है। सोमांश 'स' कार है, उसका प्रतिलोम से नौवां अक्षर 'भ' होता है। फिर चन्द्रमा का बीजाक्षर 'स' है, उसका आठवां अक्षर विलोम से 'म' होता है। फिर से पाँच अक्षर उलटा गिनने से 'प' अक्षर निकालता है। चन्द्रमा का बीज 'स' और अनेक वर्ण वाला 'क्ष' अन्तिम अक्षर है। (इस प्रकार "ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं" यह खेचरी का बीज मन्त्र प्रकट होता है) ॥ १६—२० ॥

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥२१
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः ।
य इमाँ पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥२२
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥२३
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥२४
अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरी पथे ।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥२२
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदां जपेत् ।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥२६

यह खेचरी मन्त्र सब प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। यह गुरु के उपदेश से ही सिद्ध होता है। जो नियम से इसका प्रतिदिन बारह बार जप करता है, उसे अन्तःकरण में स्थित देह सम्बन्धी माया नहीं व्यापती। जो इसे भावपूर्वक पाँच लाख जपेगा उसको खेचरी की सिद्धि स्वयमेन हो जायेगी, सब विघ्न दूर होकर देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होगी ॥ २१—२३ ॥ इससे शरीर पर पड़ी हुई झुरियां मिट जाती हैं इसमें कुछ भी संशम नहीं। इस महाविद्या को जब

भली प्रकार जान ले तव उसका अभ्यास भली भाँति करे ॥ २४ ॥ ऐसा न करने से खेचरी की सिद्धि न होकर उलटा कष्ट ही उठाना पड़ता है। विधिपूर्वक अभ्यास करने पर भी सफलता न हो तो भी 'सम्मेलक' (गुरु शिक्षक आदि) के बताये अनुसार सदैव इसका जप करता रहे। बिना उपयुक्त शिक्षक के इनमें कभी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ॥ २५—२६ ॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥२७
तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥२८
स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन लोममात्रं समुच्छिनेत् ॥२९
हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोम मात्र समुच्छिनेत् ॥३०

जब इस विद्या के शास्त्र का ठीक तरह से ज्ञान हो जायेगा तब साधक की सिद्धि प्राप्त करने में देर न लगेगी ॥ २७ ॥ सर्व प्रथम साधक को सात दिन तक तालु के मूल स्थान को गुरु के आदेश के अनुसार घिसकर वहां का सब मैल दूर करना चाहिए ॥ २८ ॥ फिर थूहर के पत्ते के समान उत्तम धार वाले शुद्ध चाकू आदि से तालुमूल को एक बाल के बराबर काटे अथवा गुरु या शिक्षक से कटावे) ॥ २९ ॥ कटे स्थान के ऊपर हर्रे और सैन्धे नमक का चूर्ण भुरभुराता रहे। सात दिन के पश्चात् फिर पूर्ववत् बाल बराबर काटे ॥ ३० ॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिरावन्ध प्रणश्यति ॥३१

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत् ।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥३२
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने ।
भ्रू मध्यावधि चाप्येति तियक्कर्णबिलावधि ॥३३
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रम चारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥३५
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखाऽवधिर्मुने ।
अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥३५
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधि ॥३६

इस क्रम से निरन्तर प्रयत्न करते रहने से जीभ का तालू के साथ वाला बन्धन कट जायगा ॥ ३१ ॥ तब जीभ के अग्रभाग को कपड़े से लपेट कर धीरे-धीरे दोहन करे (बाहर की तरफ खींचे) । इस प्रकार छः मास तक अभ्यास करने से जीभ बढ़कर भौंहों से मध्य तक पहुँचने लगेगी और बगल में कान के छेद तक पहुँचने लगती है । बाहर की तरफ जीभ ठोड़ी तक पहुंच जाती है । जब इस अभ्यास को बराबर किया जाय तो तीसरे वर्ष में जीभ बालों तक पहुँच जाती है और बगल में कन्धे तक तथा नीचे कण्ठकूप तक पहुँचने लगती है । आगामी तीन वर्ष के अभ्यास से जीभ ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचकर उसे ढक लेगी इसमें संशय नहीं । तब वह गर्दन के पीछे तक और नीचे कण्ठ के अन्त तक पहुँच जायगी ॥ ३२–३६ ॥

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकवाटभित् ।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याति दुर्लभाम् ॥३७
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ।
कुर्यादिवं करन्यास सर्वसिद्धियादिहेतवे ॥३८

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥३९
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुंगव ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत ॥४०
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अंगुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्र निवेशयेत् ॥४१

धीरे-धीरे जिह्वा ब्रह्मरन्ध्र को भेद जाती है। यह समस्त बीजाक्षर की विधि सहित विद्या बड़ी ही कठिन है। इस पूर्वोक्त छःओं बीजाक्षरों से षडंगन्यास और करान्यास करना चाहिये तब सम्पूर्ण सिद्धि सम्भव होती है ॥ ३७-३८ ॥ इस प्रकार का अभ्यास बहुत सावधानी से क्रमशः धीरे-धीरे करना चाहिये। जल्दी करने से शरीर की हानि होना सम्भव है। इसीलिए इन अभ्यास में कभी जल्दी नहीं करनी चाहिये। जब बाहर के मार्ग से जीभ ब्रह्म विवर के भीतर जाने लगे तो उसे अँगुली से उठाकर उसके भीतर करदे ॥ ४०-४१ ॥

ऐवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङमथनमाचरेत् ॥४२
मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।
खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥४३
जपं न मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वाऽपि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥४४
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ।
प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥४५
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषि ।
षाण्मासान्मथनावस्थाभावेनैव प्रजायते ॥४६

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्ता भवेत् ।
न सदा मथनं शस्तं मासे समाचरेत् ॥४७
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् ।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवं ॥४८
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥४९
इति ॥

इस प्रकार तीन वर्ष तक करने से जीभ ब्रह्म द्वार में प्रवेश कर जायगी। जब वह प्रवेश कर जाय तब उसका विधिपूर्वक मंथन आरम्भ करना चाहिए ॥ ४२ ॥ कोई साधक बिना मन्थन के ही खेचरी करते हैं। जिनको खेचरी मन्त्र सिद्ध हो चुका है वे ऐसा कर सकते हैं ॥ ४३ ॥ तो भी जप और मन्थन दोनों करने से फल शीघ्र प्राप्त होता है। मन्थन के लिये सुवर्ण, चाँदी अथवा लोहे की शलाका के सिरे पर दुग्धयुक्त तन्तु लगाकर उसे नाक के भीतर डाले। फिर प्राण को हृदय में निरोध करके सुखासन पर बैठकर, आँखों को भ्रुकुटी स्थान में लगाकर धीरे-धीरे मन्थन करे। छः मास तक इस प्रकार मन्थन करने से उसका प्रभाव दिखलाई पड़ने लगता है ॥ ४४–४६ ॥ तब उसकी अवस्था इस प्रकार की होती है जैसी बालक की सुषुप्ति अवस्था में। मन्थन नित्य नहीं करना चाहिये वरन् महीने में एक बार करना होता है। इसी प्रकार जिह्वा को बार-बार ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट न करे। इस प्रकार बारह वर्ष अभ्यास करने पर सिद्धि निश्चित रूप से होती है ॥ ४७–४८ ॥ उस समय योगी करने समस्त विश्व अपने भीतर दिखाई देने लगता है, क्योंकि जीभ के ब्रह्मरन्ध्र तक जाने के मार्ग में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है ॥ ४९ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीयोऽध्यायः

ह्रीं भं सं म पं सं क्षम्

पद्मज उवाच—

अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर ।
अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥१
प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च ।
पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥२
कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः ।
द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥३
अपरं संत्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम् ।
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम् ॥४
मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम् ।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥५

ब्रह्माजी बोले—मेलन मन्त्र इस प्रकार है—"ह्रीं भं सं मं पं क्षम् । हे शंकर ! अमावस्या, प्रतिपदा और पौर्णमासी का मूल आशय क्या है ? ॥ १ ॥ प्रतिपदा से सूर्य का आशय है और पौर्णमासी से चन्द्रमा का । अमावस्या का अर्थ सूर्य और चन्द्र दोनों का अभाव है ॥ २ ॥ मनुष्य कामनाओं में ग्रसित होकर विषयाकांक्षी होता है और विषय में पड़कर कामना बढ़ती जाती है । इसलिए शुद्ध परमात्म भाव की प्राप्ति के लिए विषय और कामना दोनों का त्याग करना और आत्मा में ध्यान लगाना ही आवश्यक है ॥ ३ ॥ जो अपने हित की इच्छा रखता हो उसे अन्य सब मिथ्या विषयों को त्याग देना चाहिए और शक्ति में प्रवेश करके उसी में स्थित रहना चाहिए ॥ ४ ॥ मन द्वारा मन को देखकर और समझकर उसका त्याग करना ही परमपद है । उत्पत्ति और स्थिति का प्रधान बिन्दु मन ही है ॥ ५ ॥

मनसोत्पद्यते विन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम् ॥६
चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम् ।
ज्ञात्वा सुषुम्ना तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥७
स्थित्वाऽसौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत् ।
वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्वं प्रकृतिमेव च ॥८
षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम् ।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥९
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम् ।
आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम् ॥१०
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम् ।
विशुद्धिः कन्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥११

यह विन्दु मन से ही उत्पन्न होता है, जैसे दूध से घी प्रकट होता है। उस विन्दु में कोई बन्धन नहीं है, वरन् जो कुछ बन्धन है वह सब मन का ही है ॥ ६ ॥ सूर्य और चन्द्र के मध्य में जो शक्ति रहती है वही बन्धन रूप है। इसलिये इन दोनों के मध्य की सुषुम्ना का ज्ञान प्राप्त करके उसके भीतर प्राण को चलाना आवश्यक है ॥ ७ ॥ प्राण को इसी विन्दु स्थान में स्थिर करके नासिका से वायु का निरोध करना चाहिये। यही प्राणवायु, विन्दु, सत्व और प्रकृति का वर्णन है ॥ ८ ॥ इसके साथ ही षट्चक्रों की जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिये जिससे सुख की स्थिति प्राप्त हो सके। ये षट्चक्र इस प्रकार है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। मूलाधार का स्थान गुदा है, उसके ऊपर लिङ्ग के समीप स्वाधिष्ठान है, मणिपुर नाभि में है, अनाहत हृदय में, विशुद्ध कण्ठ में और आज्ञा-चक्र मस्तक में होता है ॥ ९–११ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले ।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तयैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥१२
एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत् ।
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ॥१३
समाधिमेकेन सममृतं यान्ति योगिनः ।
यथाऽग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ॥१४
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ।
घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ॥१५
भिन्ने तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते ।
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम् ॥१६
गुरुवाक्यसमा भिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत् ।
कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च ॥१७

इन समस्त चक्रों का ज्ञान प्राप्त करके सुख मण्डल रूप सहस्र दल कमल में प्रवेश करे और प्राण को ऊर्ध्व भाग में खींचकर स्थित करे ॥ १२ ॥ इस प्रकार प्राण का अभ्यास करने से ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाती है । प्राणवायु, बिन्दु, चक्र तथा चित्त का उचित रूप से अभ्यास करके योगीजन एक्य रूप की समाधि तक पहुँच जाते हैं, और अमृत पद को प्राप्त होते हैं । जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि रहती है, पर घिसने के बिना वह प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार सतत अभ्यास के बिना योग विद्या का दीपक भी प्रकाशित नहीं होता । अथवा जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बाहर प्रकाश नहीं कर सकता जब तक कि उस घड़े का भेदन न किया जाय, उसी प्रकार शरीर रूपी घट के भीतर रखे हुये ब्रह्मरूपी दीप का प्रकाश भी उस समय तक बाहर नहीं निकलता जब तक गुरु के उपदेश से इस घट का भेदन नहीं होता । इस प्रकार इस अपार सागर को पार करने का उपाय गुरु रूपी कर्णधार ही है ॥ १३–१७ ॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ।
परायामंकुरी भूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता ॥१८
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्या विकसीकृता ।
पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत् ॥१९
तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः ।
सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥२०
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते ।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥२१
विराट्हिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः ।
ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥२२
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।
अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयये कारणैः सह ॥२३

अभ्यास और श्रेष्ठ वासना की शक्ति द्वारा ही वे इस भव सागर को तैर कर पार करने में समर्थ होते हैं। वाणी परा में अंकुरित होती है, पश्यन्ती में उसके दो भाग होते हैं, मध्यमा में पुष्पित होती है और वैखरी में विकास को प्राप्त हो जाती है। इस विधि से जिस प्रकार वाणी का आविर्भाव होता है, उसके विलोम-क्रम से ही वह लय हो जाती है ॥ १८–१९ ॥ इस वाणी का बोध कराने वाला अथवा परमदेव मैं ही हूँ, इस प्रकार निश्चय करके जो व्यक्ति तदनुसार व्यवहार करता है ॥ २० ॥ उससे कोई उच्च या नीच कैसा भी शब्द कहे, पर वह उसमें लिप्त नहीं होता। विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीन पिण्डक तथा विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर—ये तीन ब्रह्माण्ड के और भूः, भुवः स्वः—ये तीन लोक के भेद हैं, जो अपनी उपाधि के लय होने पर प्रत्यगात्मा में लीन हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि से तप्त होने पर ब्रह्माण्ड भी अपने मूल रूप में विलीन हो जाता है ॥ २१–२३ ॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते ।
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥२४
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ।
ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् ॥२५
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ।
प्रकाशयन्तमन्तस्स्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् ॥२६
विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः ।
मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः ॥२७
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति ।
कोऽहं कथमयं दोष संसाराख्य उपागतः ॥२८
जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम ।
इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः ॥२९
अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः ।
दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥३०

परमात्मा में मिल जाने से वह ब्रह्मरूप हो जाता है । उस समय एक ऐसा अगाध और गम्भीर रूप हो जाता है जो न प्रकाश कहा जा सकता है न अन्धकार । तब केवल सत्स्वरूप एक अव्यक्त तत्त्व ही शेष रहता है । जैसे घट के भीतर दीपक की ज्योति रहती है ऐसी ही एक निर्धूम ज्योति अपने अन्तःकरण में प्रकाशित होती रहती है । इसी स्वरूप में उस कूटस्थ अव्यय रूप का ध्यान करना चाहिए ॥ २४–२६ ॥ आत्मा अपने मूल रूप में विज्ञानमय होता है, पर देह में आकर वह मायावश, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त होकर विमोहित हो जाता है । कितने ही जन्मों के पश्चात् जब शुभ कर्म उदय होते हैं तब उसके भीतर अपने विकारों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं वास्तव में कौन हूं और

यह दोषमय संसार कहाँ से आ गया है ? ।। २७–२८ ।। जाग्रत और स्वप्न अवस्था में तो मैं अपने को कर्ता समझ कर व्यवहार करता हूँ, पर सुषुप्ति में मेरी क्या अवस्था होती है ? इस प्रकार चिन्ता करता हुआ वह अपने आभास रूप पर विचार करता है ।। २९ ।। रुई का ढेर जैसे आग से जलने लगता है, वैसे ही चिदाभास अज्ञान में पड़ कर सांसारिक ताप से नष्ट हो जाता है ।। ३० ।।

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् ।
विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ।।३१
मनोमयज्ञानमयान् सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु ।
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ।।३२
ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमा सुप्तेरा मृतेस्तु यः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ।।३३
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ।।३४
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ।।३५
इत्युपनिषत् ।।

इस प्रकार सांसारिक ज्ञान के मिटाने पर प्रत्यगात्मा विस्तार को प्राप्त होकर विज्ञान का भी नाश कर देता है। इस प्रकार मनोमय और विज्ञानमय के पूर्णतः मिल जाने पर शाश्वत प्रकाश के समान आत्मा ही अन्तर में प्रकाशित होता रहता है ।। ३१–३२ ।। जो आत्मज्ञानी ऐसी आत्मा का नित्य प्रति ध्यान करता रहता है और मृत्यु के

समय भी उस ध्यान को स्थिर रखता है, वह जीवन्मुक्त ही है, वह धन्य है और कृतकृत्य है ॥ ३३ ॥ जब उसका अन्तिम समय आ जाता है तब वह जीवन्मुक्त से विदेहमुक्त पद को प्राप्त हो जाता है, उसका अन्त ऐसा ही होता है जैसे हवा का चलना बन्द हो जाता है ॥ ३४ ॥ जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, से रहित अर्थात् पञ्चभूतों से परे, नित्य और अव्यय है, जो आदि और अन्त से रहित है, जो महान और ध्रुव (अटल) है, वही शुद्ध और अविकारी ब्रह्म अन्त में शेष रहता है ॥ ३५ ॥

॥ योगकुण्डली उपनिषद् समाप्त ॥

—:०:—

ध्यानबिन्दूपनिषत

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करे । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥१
बीजाक्षरं परं बिन्दु नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दचाक्षरे क्षीणे निशब्दं परमं पदम् ॥२
अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥३
वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः ।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम् ॥४
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ॥५
एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि ।
स्थिरबुद्धिरसमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥६

यदि पर्वत के समान अनेक योजन विस्तार वाले पाप भी हों, तो भी वे ध्यान योग से नष्ट हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त और किसी तरह उनका नाश नहीं होता ॥ १ ॥ बीजाक्षर परम बिन्दु है और उसके ऊपर नाद की स्थिति है । जब वह नाद (शब्द) अक्षर में

लय हो जाता है तब शब्द रहित परमपद का रूप होता है ॥ २ ॥ अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है, उसके पाने से ही योगी के संशय की निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥ केशाग्र के सौवें भाग का हजारवां भाग और उसका आधे का भाग, उसका भी क्षय हो जाने पर निरंजन होता है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार फूलों में गन्ध रहती है, दूध में घी रहता है, तिल में तेल और पाषाण में सोना होता है, जिस प्रकार माला के दाने सूत में पिरोये रहते हैं, उसी प्रकार सब भूत निरंजन में व्याप्त हैं। स्थिर बुद्धि वाला ज्ञानी मोह रहित होकर ऐसे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थिर रहता है ॥ ५-६ ॥

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः ।
पुरुषस्य शरीरे तु सबाह्याभ्यान्तरे स्थितः ॥७
वृक्षं तु सकलं विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला ।
सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥८
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वं मुमुक्षुभिः ।
पृथिव्याग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः ॥९
अकारे तु लयं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके ।
अन्तरिक्ष यजुर्वायुर्भुवो विष्णुर्जनार्दनः ॥१०
उकारे तु लयं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके ।
द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः ॥११
मकारे तु लयं प्राप्ते तृतीये प्राणवांशके ।
अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः ॥१२
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः ।
अष्टाङ्गं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ॥१३

जिस प्रकार तेल का आश्रय तिल है और गन्ध का आश्रय पुष्प है इसी प्रकार ब्रह्म पुरुष शरीर के भीतर और बाहर स्थित

रहता है ।। ७ ।। वृक्ष को सम्पूर्ण जान लेने पर उसकी छाया निष्कल होती है, इसी प्रकार आत्मा सब कला रहित स्थान में स्थित रहता है ।। ८ ।। सब मोक्षाभिलाषी व्यक्ति ॐकार रूप एकाक्षर ब्रह्म का ही ध्यान करते हैं। इस प्रणव के प्रथम अंश 'अ'कार में पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद, भूः तथा पितामह का लय होता है। दूसरे अंश 'उ'कार में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवः और विष्णु का लय होता है। तीसरे अंश 'म'कार में द्यौ, सूर्य, सामवेद, स्वर्लोक और महेश्वर का लय होता है। 'अ'कार पीले रङ्ग और रजोगुण वाला कहा जाता है, 'उ'कार श्वेत वर्ण और सतोगुण वाला और 'म'कार कृष्णवर्ण तथा तामस गुण वाला है। इस प्रकार ॐकार आठ अङ्ग, चार पद, तीन नेत्र और पाँच दैवत वाला होता है ।। ६-१३ ।।

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः ।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।।१४
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।१५
ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः ।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।१६

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः ।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ।।१७
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ।।१८
हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ।।१९
इडया वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीवृतम् ।।२०

ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते ।
रेचा रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥२१

इस प्रकार से ॐकार को जो नहीं जानता वह ब्राह्मण नहीं माना जा सकता । यह प्रणव धनुष है, आत्मा वाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। वाण से सावधानी के साथ तन्मय होकर इस लक्ष्य को वेध करने और 'अवर' को जान लेने से सब क्रियाओं से निवृत्ति हो जाती है ॥ १४–१५ ॥ ॐकार से देवता हुए, ॐकार से स्वर हुए और ॐकार से ही तीनों लोक के समस्त चराचर हुये ॥ १६ ॥ इसका ह्रस्व अंश पापों को हरता है, दीर्घ अव्यय स्वरूप सम्पत्ति को देता है, इस प्रकार अर्धमात्रा युक्त प्रणव मोक्षदायक है ॥ १७ ॥ तेल की अविच्छिन्न धार के समान, घण्टा के दीर्घ निनाद के समान नाद के अग्र में वाच्य रहित प्रणव है, उसे जानने वाला ही वेदज्ञ है ॥ १८ ॥ हृदयरूपी कमल की कर्णिका में दीपशिखा तुल्य, अंगुष्ठमात्र आकार के ॐकार रूप ईश्वर का ध्यान करे ॥ १९ ॥ इड़ा (बांयी नासिका) से वायु को उदर में [illegible] और देह के मध्य में ज्वालामय ॐकार का ध्यान करे। पूरक को ब्रह्मा और कुम्भक को विष्णु और रेचक को रुद्र कहा गया है, ये तीनों [illegible]णायाम के देवता हैं ॥ २०– २१ ॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासा देवं पश्येन्निगूढवत् ॥२२

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम् ।
यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ् नादलयावधि ॥२३

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीप्तम् ।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥२४

आत्मा को नीचे की अरणी के रूप में ग्रहण करके प्रणव को ऊपर की अरणी बनावे। इन दोनों के मंथन रूप ध्यानाभ्यास से गूढ़ तत्व का दर्शन करे ॥ २२ ॥ ॐकार की ध्वनि के नाद सहित रेचक का अन्त होने पर नाद का लय हो जाता है। इस प्रकार का ध्यान अपनी सामर्थ्य के अनुसार करे ॥ २३ ॥ गमनागमन में स्थित और गमनादि से शून्य ऐसे करोड़ों सूर्य की दीप्ति के सदृश्य, सबके हृदय में रहने वाले हंसात्मक ॐकार का जो दर्शन करते हैं वे निष्पाप हो जाते हैं ॥ २४ ॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थिति प्रलयकर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परम पदम् ॥२५
अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम् ।
तस्य मध्यगतो भानुर्भानुमध्यगतः शशी ॥२६
शशिमध्यगतो वह्निर्वह्निमध्यगता प्रभा ।
प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥२७
तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम् ।
श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम् ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः ॥२९
अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् ।
चतुर्भुजं महाविष्णु पूरकेण विचिन्तयेत् ॥३०

सृष्टि, स्थिति और लय होने का कारण जो मन में है उसका जहाँ विलय होता है वहीं विष्णु का परमपद है ॥ २५ ॥ आठ दल और बत्तीस पंखुड़ियों का जो हृदय कमल है उसके मध्य में सूर्य और सूर्य के मध्य में चन्द्रमा स्थित है ॥ २६ ॥ चन्द्रमा के मध्य में

अग्नि है और अग्नि के मध्य में प्रभा है, प्रभा के मध्य में नाना प्रकार के रत्नों से जड़ा पीठस्थान है, उसके मध्य में निरञ्जन भगवान वासुदेव हैं जो श्रीवत्स कौस्तुभमणि और मणि मुक्ताओं का धारण किये हुये हैं ॥ २७—२८ ॥ शुद्ध स्फटिक के समान, करोड़ों चन्द्रमा की-सी प्रभा वाले महाविष्णु का विनयावनत भाव से ध्यान करे ॥ २९ ॥ अलसी के पुष्प के समान नाभिस्थान में प्रतिष्ठित चार भुजा वाले महाविष्णु का पूरक करता हुआ ध्यान करे ॥ ३० ॥

कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम् ।
ब्राह्मण रत्नगौराभं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥३१

रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥३२

अब्जपत्रमधःपुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम् ॥३३

शताब्दं शतपत्राढ्यं विप्रकीर्णाब्जकर्णिकम् ।
तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत् ॥३४

पद्मस्योद्घाटन कृत्वा सूर्यचन्द्राग्निवर्चसः ।
तस्य हृद्बीजमाहृत्य आत्मानं चरते ध्रुवम् ॥३५

कुम्भक के समय हृदय स्थान पर कमलासन पर विराजमान लालिमायुक्त और गौर वर्ण वाले, चार मुँह वाले पितामह ब्रह्मा का ध्यान करे ॥ ३१ ॥ रेचक के समय ललाट स्थान में श्वेत स्फटिक के समान, निष्फल, पापनाशक त्रिलोचन भगवान शङ्कर का ध्यान करे ॥ ३२ ॥ कदली पुष्प के समान नीचे की तरफ फूल, ऊपर डण्डी, नीचे मुख, इस प्रकार सर्व वेदमय शिव हैं ॥ ३३ ॥ सौ आरे, सौ पत्ते और विस्तीर्ण पंखुड़ियों से युक्त हृदय-कमल पर सूर्य, चन्द्रमा

और अग्नि का एक के ऊपर एक करके दर्शन करे। कमल के विकसित होने से सूर्य, चन्द्र, अग्नि का बोध होता है। इनके बीज को ग्रहण करने से स्थिर आत्म-स्थिति प्राप्त होती है ॥ ३४—३५ ॥

त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम्।
त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ॥३६

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघन्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥३७

यथैवोत्पेलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः ॥३८

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम्।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत् ॥३९

भ्रूमध्ये तु ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतस्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥४०

तीन स्थान, तीन पात्र, तीन ब्रह्म, तीन अक्षर, तीन मात्रा और अर्धमात्रा में जो इनको जानता है वह वेदज्ञ है ॥ ३३ ॥ तेल की धार के समान अविच्छन्न और दीर्घ घण्टानिनाद के सदृश्य बिन्दु, नाद, कला से अतीत को जो जानता है वह वेदज्ञ है ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार कमल की नाल से जल को खींच लिया जाता है, उसी प्रकार वायु को खींचकर योगी योग साधन करे ॥ ३८ ॥ सम्पुटित कमल को अर्धमात्रा रूप करके वायु को सुषुम्ना द्वारा खींचकर भ्रकुटी स्थान में लय करे ॥ ३९ ॥ भौंहों के मध्य में ललाट स्थान में, जहाँ नासिका का मूल है, वहाँ पर अमृत स्थान है, वही ब्रह्म का महान स्थान है ॥ ४० ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥४१
आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः ।
एतेषामतुलान्भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥४२
सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम् ।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥४३
योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ।
आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥४४
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ।
योनिमध्ये स्थितं लिंगं पश्चिमाभिमुखं तथा ॥४५

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के छः अंग हैं ॥ ४१ ॥ संसार में जितनी जीव योनियाँ हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं, इनके बहुसंख्यक भेदों को महेश्वर ही जानते हैं ॥ ४२ ॥ सिद्ध, भद्र, सिंह, पद्म चार मुख्य आसन हैं। प्रथम चक्र आधार है और दूसरा स्वाधिष्ठान है ॥ ४३ ॥ इन दोनों के मध्य में कामरूप योनिस्थान है। गुदास्थान में जो आधार-चक्र है उसमें चार दल वाला कमल है। उसके मध्य में काम नाम वाली योनि है जिसकी वन्दना सिद्ध करते हैं। योनि के मध्य में पश्चिमाभिमुख लिङ्ग वर्तमान है ॥ ४४—४५ ॥

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित् ।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥४६
चतुरस्त्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥४७
स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते ।
मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ॥४८

तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।
द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥४९
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत् ॥५०
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ॥५१

उसके मस्तक में जो मणि के समान प्रकाश है उसे योगीजन ही जानते हैं। तप्त सुवर्ण के से वर्ण वाला और बिजली की धारा के समान सुप्रकाशित, अग्नि स्थान से चार अंगुल ऊर्ध्व और मेढ़ स्थान के नीचे स्वशब्दयुक्त प्राण स्थित है, जो स्वाधिष्ठान चक्र के आश्रय में रहता है ॥ ४६—४७ ॥ मेढ़ के मूल में स्वाधिष्ठान चक्र है। वहाँ मणि के तन्तु के समान वायु से पूर्ण शरीर है ॥ ४८ ॥ नाभिमण्डल में जो चक्र है वह मणिपूरक कहा जाता है। वहीं पर बारह आरा वाले महाचक्र में पुण्य-पाप का नियंत्रण होता है ॥ ४९ ॥ जब तक जीव इस तत्व को नहीं जान लेता तब तक उसे भ्रमते रहना पड़ता है। मेढ़ से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के आकार वाला कन्द है, उसी से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली हैं, जिनमें से बहत्तर को मुख्य कहा गया है ॥ ५०—५१ ॥

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।
इडा च पिंगला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥५२
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहुरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥५३
एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिनां सदा ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥५४
इडापिंगलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः ।
इडा वामे स्थिता नाड़ी पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥५५

सुषुम्ना मध्य देशस्था प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥५६
नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनंजयः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥५७

इन बहत्तर में से दश प्रधान नाड़ियाँ प्राण को चलाने वाली कही गई हैं जो इस प्रकार हैं—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शङ्खिनी ॥ ५२—५३ ॥ योगियों को इस नाड़ी-चक्र का ज्ञान होना परमावश्यक है। इनमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि देवताओं द्वारा प्रतिष्ठित हैं और प्राण सदैव इन्हीं में चला करता है। इडा बाँयी ओर, पिङ्गला दाहिनी ओर, सुषुम्ना दोनों के मध्य में स्थित है, ये तीनों प्राण के मार्ग स्वरूप हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय—इस प्रकार ये प्राणादि पाँच और नागादि पाँच वायु प्रसिद्ध हैं ॥ ५४—५७ ॥

एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ॥५८
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ॥५९
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत् ।
अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ॥६०
खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित् ।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥६१
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
शतानि षड् दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥६२

एतत्संख्याऽन्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥६३

इस प्रकार ये वायु जीव रूप से सहस्रों नाड़ियों में रहते हैं । प्राण और वायुओं के वश में पड़कर जीव ऊपर नीचे आता-जाता रहता है । वह कभी बाएँ और कभी दाहिने मार्ग से चलता है, पर चञ्चल होने से दिखाई नहीं पड़ता । जैसे हाथों से इधर-उधर फेंकी हुई गेंद दौड़ती रहती है, इसी प्रकार प्राण और अपान वायुओं के फेंकने से जीव को कहीं विश्राम का स्थान नही मिलता । अपान प्राण को खींचता है और प्राण अपान को खींचता है, उसी प्रकार जैसे रस्सी में बँधा हुआ पक्षी खींच लिया जाता है । इस रहस्य को जो जानता है वह योगी है । यह प्राण 'ह'कार ध्वनि द्वारा बाहर जाता है और 'स'कार से भीतर आता है । इस प्रकार जीव सदा 'हंस-हंस' मन्त्र का जप करता रहता है और एक दिन रात्रि में इस जप की संख्या इक्कीस हजार छः सौ होती है । इसको अजपा गायत्री कहते हैं, यह योगियों के लिए मोक्ष प्रदायिनी है ॥ ६०—६३ ॥

अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥६४
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥६५
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥६६
सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥६७
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥६८

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वाऽथ पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि।
वारवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्ति प्रभावान्नरः ॥६९
पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन्।
मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥७०

इस अजपा गायत्री के संकल्प मात्र से मनुष्य पापों से छूट जाता है। न तो इसके समान कोई विद्या है, न जप है, न कोई पुण्य है, न हो सकता है। इसके द्वारा मनुष्य बिना कठिनाई के ब्रह्म-स्थान तक पहुँच जाता है ॥ ६४—६५ ॥ परमेश्वरी-शक्ति उस मार्ग को अपने मुख से ढक कर सोई हुई है। वह वह्नियोग द्वारा जागृत होती है और तब सुषुम्ना में मन और प्राण वायु सहित ऊपर जाती है, उसी प्रकार जैसे सुई तागे को ले जाती है और जैसे ताली से द्वार को खोल लिया जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी शक्ति द्वारा मोक्ष द्वार को खोलते हैं ॥ ६६—६८ ॥ हाथों को सम्पुटित करके, दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर, ठोड़ी से उरु प्रदेश को मजबूती से दबाकर, ब्रह्म का चित्त में ध्यान करते हुए, अपान वायु को बारम्बार ऊपर की ओर चलाता हुआ और खींची हुई प्राणवायु को नीचे लेता हुआ साधक कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव को अनुभव करता है ॥ ६९ ॥ जो योगी पद्मासन पर स्थित होकर नाड़ियों में वायु को भर कर कुम्भक द्वारा रोकता है वह निःसंशय रूप से मुक्ति पाता है ॥ ७० ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥७१
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥७२

कन्दोर्ध्वंकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ७३
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ॥ ७४
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥ ७५
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते ।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥ ७६

श्रम करने से जो पसीना निकले उसे शरीर में ही मल लेना चाहिये; कटु, अम्ल और नमक को त्याग कर दूध का भोजन करना चाहिये। इस प्रकार साधन करने वाला मिताहारी, ब्रह्मचारी योगी एक वर्ष के भीतर सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं ॥७१-७२॥ कन्द के ऊर्ध्वभाग में रहने वाली कुण्डलिनी द्वारा योगी निश्चय रूप से सिद्ध होता है। नियमित रूप से मूलबन्ध का अभ्यास करने से प्राण और अपान की एकता होती है, मल-मूत्र कम हो जाता है और वृद्ध भी युवा हो जाता है। एड़ी से योनि स्थान को दबा कर गुदा को आकुञ्चित करे और अपानवायु को ऊपर की तरफ खीचे। इसको मूलबन्ध कहते हैं। अब उड्डियाण की विधि कहते हैं कि जिस प्रकार महाखग विश्राम करता है उस प्रकार होकर उदर को पश्चिम 'ताण' को नाभि के ऊपर करे ॥७३-७६॥

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ॥ ७७
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ॥ ७८

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ ७६
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥ ८०

यह उड्डियाण बन्ध मृत्यु के लिये ऐसा ही है जैसे हाथी के लिए सिंह । अब जालन्धर बन्ध को कहते हैं जिससे शिरोकाश से उत्पन्न होने वाले जल (अमृत) को ऊपर ही रोक दिया जाता है और इस प्रकार कर्म बन्धन और क्लेशों को निवारण किया जाता है । जालन्धर बन्ध में कण्ठ का संकोचन किया जाता है जिससे अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु नहीं दौड़ता । अब खेचरी को बतलाते हैं कि जिह्वा को लौटाकर कपाल कुहर में ले जाय और दोनों भौंहों के मध्य में दृष्टि जमाकर रखे । इसके अभ्यास से रोग और मरण का भय जाता रहता है और निद्रा, भूख, प्यास भी नहीं सताती ॥८०॥

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥ ८१
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्राऽस्ति खेचरी ।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खेगता ॥ ८२
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता ।
खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥ ८३
विन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च ।
यावद्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ८४
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्विन्दुर्न गच्छति ।
गलितोऽपि यदा विन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले ॥ ८५

व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥ ८६
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥ ८७
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥ ८८

जो खेचरी को जानता है उसे मूर्छा नहीं होती, न रोगों से पीड़ित होता है, न कर्मों में लिप्त रहता है। जिसका चित्त खेचरी मुद्रा के साधन से आकाश में रहता है और जिह्वा की आकाशगामिनी होती है वह काल के बन्धन में नहीं पड़ता ॥८१-८२॥ इसलिए इस खेचरी मुद्रा को सिद्ध योगी नमस्कार करते हैं। खेचरी मुद्रा द्वारा जिसने तालू के छेद को बन्द कर लिया है, उसका वीर्य क्षय नहीं होता चाहे वह स्त्री का आलिंगन ही क्यों न करे और जब तक वीर्य देह में स्थित है तब तक मृत्यु का भय कैसा ? ॥८३-८४॥ जब तक खेचरी मुद्रा रहेगी तब तक वीर्य पतन नहीं हो सकता और यदि किसी प्रकार वीर्य स्खलित होकर योनिस्थान में चला भी जाय तो योनिमुद्रा द्वारा उसे शक्तिपूर्वक फिर ऊपर की तरफ खींच लिया जाता है। वह वीर्य श्वेत तथा रक्तवर्ण—दो प्रकार का होता है। श्वेतवर्ण वाला शुक्ल कहा जाता है और लाल रङ्ग वाला महाराज कहलाता है। मूँगे के समान रङ्ग वाला रज (योगी के) योनि स्थान में स्थित है और शुक्ल चन्द्रस्थान में रहता है। उन दोनों का एक होना बड़ा कठिन है। शुक्ल शिव रूप है और रज शक्ति रूप है, वीर्य चन्द्रमा है और रज सूर्य है ॥८५-८८॥

उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।
वायुना शक्ति चालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥ ८९

रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यवपुस्तदा ।
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥ ६०
द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।
शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ ६१
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राऽभिधीयते ॥ ६२
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रविततं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये—
देषा पातक नाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ६३

इन दोनों के संयोग से परम देह प्राप्त होती है । वायु द्वारा शक्ति को चलित करने से जब रज आकाश को प्रेरित होता है और सूर्य के साथ मिल जाता है तब शरीर दिव्य हो जाता है । शुक्ल वर्ण बिन्दु चन्द्रमा से संयुक्त है और रज सूर्य से समन्वित है, जो इन दोनों की समरसता (एकता) को जाता है वह योगवित् है । मलों के शोधन के लिए चन्द्र और सूर्य का संयोग किया जाता है । अब रसों का सम्यक प्रकार शोषण करने वाली महामुद्रा को कहते हैं । छाती को ठोड़ी से दबाकर और बाँयी एड़ी से योनिस्थान को दबाकर तथा फैलाये हुए दूसरे पैर को पकड़ कर, दोनों कुक्षियों को बांधकर भरी हुई श्वांस को धीरे-धीरे छोड़े—इसको पापनाशिनी महामुद्रा कहा जाता है ॥८६-६३॥

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्च-

रितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खंजो बधिरो मूकः कृशः स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते। पूर्वदले विश्रमते पूर्वदलं श्वेतवर्णं तदा भवितपुरः सरं धर्मे मतिर्भवति। यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति। यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति। यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति ॥ यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिकवर्णं तदा क्रीडा विनोदमतिर्भवति। यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमन चालनवैराग्यमतिर्भवति। यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृङ्गारमतिर्भवति। यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैडूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति। यदा संधिसंधिषु मतिर्भवति तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्यधि प्रकोपो भवति। यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति। यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्हरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते प्रथमरेखा बन्धूकपुष्पवर्णं तदा निद्रावस्था भवति। निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति। स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसंभववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति। श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्त्यावस्था भवति सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसम्बन्धिनी बुद्धिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति पश्चात्परमेश्वररूपेण प्राप्तिर्भवति। तृतियरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति तुरीये केवलपरमात्म संबन्धिनी मतिर्भवति नित्यबोधस्वरूपो भवति तदा ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति यदा तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दस्वरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति यावद्देहधारणा वर्तते तावत्तिष्ठति पश्चात्परमात्मस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवात्मदर्शनोपायं भवति ॥

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवायुना ।
सहस्थित त्रिकोणोर्ध्वगमने दृश्यतेच्युतः ॥ ९४

अब आत्मा के निर्णय के विषय में विचार करते हैं । हृदय स्थान में अष्टदल कमल है, उसमें रेखाओं का आश्रय लेकर जीवात्मा ज्योतिरूप अणुमात्र रूप में रहता है । उसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है, वही सब कुछ जानता है, सब कुछ करता है । वही ऐसा विचार करता है कि मैं सब चरित्रों का करता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी, दुखी, काना खंज, बहिरा, गूँगा, दुबला, मोटा हूँ । इस प्रकार वह स्वतन्त्रता का व्यवहार करता है । उस कमल का पूर्वदल श्वेत वर्ण का है और उसमें निवास करने से भक्ति और धर्म में मति रहती है । तब आग्नेय दिशा के रक्त वर्ण के दल में निवास होता है तब निद्रा और आलस्य में मति होती है । जब दक्षिण वाले कृष्ण-दल में निवास करते हैं तब द्वेष और कोप की मति होती है । जब नैऋर्त्य दिशा के नील-वर्ण दल में निवास करता है तब पापकर्म और हिंसा में मति रहती है । जब पश्चिम के स्फटिक वर्ण वाले दल में निवास करता है तब

क्रीड़ा, विनोद में मति रहती है। जब वायव्यकोण के माणिक्य के से रङ्ग वाले दल में निवास करता है तब चलने और वैराग्य की भावना होती है। जब उत्तर के पीतवर्ण दल में निवास करता है तब सुख, शृङ्गार में मति होती है। जब ईशानकोण के वैडूर्यमणि के वर्ण के दल में निवास करता है तब दानादि, कृपा करने में मति रहती है। जब संधियों की संधि में मति रहती है तब वात, पित्त, कफ सम्बन्धी महा-व्याधियों का प्रकोप होता है। जब मध्य में मति रहती है तब सब जानने गाने, नृत्य करने, पढ़ने, आनन्द करने में लगी रहती है। जब नेत्र को श्रम होता है तो उसे दूर करने के उद्देश्य से प्रथम रेखा के मध्य में डुबकी लगाती है जिससे निद्रावस्था होती है। वह प्रथम रेखा बन्धूक पुष्प के रङ्ग वाली है। निद्रावस्था के मध्य में ही स्वप्न अवस्था रहती है। स्वप्न में देखी हुई सुनी हुई, अनुमान की हुई, बातों की कल्पना की जाती है तो उससे श्रम होता है। उस श्रम के दूर करने के हेतु दूसरी रेखा के मध्य में डुबकी लगाती है जिसका वर्ण बीर-बहूटी का सा है। तब सुषुप्ति अवस्था होती है जिसमें बुद्धि ईश्वर के सम्बन्ध वाली तथा नित्य बोधरूप होती है, इससे बाद में परमेश्वर की प्राप्ति होती है। जब दूसरी पद्मराग के वर्ण वाली रेखा के मध्य में डुबकी लगाई जाती है तब तुरीयावस्था होती है। तुरीया में बुद्धि परमात्मा से सम्बन्ध वाली और नित्य बोधरूप होती है। तब शनैः शनैः सबसे पृथक होकर धैर्ययुक्त हो मन को आत्मा में स्थित करे और अन्य कुछ भी चिन्तन न करे। तब प्राण अपान में एक्यभाव स्थापित करके समस्त विश्व को आत्मरूप समझते हुये उसी का लक्ष्य रखा जाता है। जब तुरीयातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है तब सब आनन्दरूप होकर द्वन्द्वभाव मिट जाता है। इसके पश्चात् प्रारब्ध को पूरा करने की अवधि तक ही जीव देह में ठहरता है फिर परमात्मतत्व में मिल जाता है। यही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है और इसी मार्ग से आत्म-दर्शन होता है। चारों

पथ संयुक्त महाद्वार में जाने वाले वायु के साथ स्थित होकर, अर्ध त्रिकोण में होकर अच्युत दिखाई देता है ॥६४॥

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि
पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम् ।
प्राणादिपंचावायुश्च वीजं वर्णं च स्थानकम् ।
यकारं प्राणवीजं च नीलजीमूतसन्निभम्
रकारमग्निवीजं च अपानादित्यसंनिभम् ॥ ६५
लकारं पृथिवीरूपं व्यानं वन्धूकसनिभम् ।
वकार जीववीजं च उदानं शङ्खवर्णकम् ॥ ६६
हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम् ।
हृन्नाभि नासिकाकण्ठपादांगुष्ठादिसंस्थितः ॥ ६७
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडिमार्गेषु वर्तते ।
अष्टाविंशतिकोटीषु रोमकूपेषु संस्थितः ॥ ६८
समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि ।
रेचकादित्रयं कुर्याद्दृढचित्तः समाहितः ॥ ६९
शनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटरे ।
प्राणापानौ च वध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत् ॥ १००

पूर्वोक्त त्रिकोण स्थान के ऊपर पांच वर्ण वाले पृथिवी आदि तत्व ध्यान करने योग्य हैं । बीज, वर्ण और स्थान वाले पांच वायु ध्यान करने योग्य हैं । 'य'कार वायु रूप प्राण का बीज है जो नीले बादल के तुल्य है । 'र'कार आदित्य रूप अपान का बीज है ॥६५। 'ल'कार पृथ्वी रूप का ध्यान बन्धूक पुष्प के वर्ण

का है। 'व'कार शङ्ख के वर्ण का जलरूप उदान का बीज है ॥९६॥ 'ह'कार स्फटिक वर्ण का आकाश के समान है। हृदय, नाभि, नासिका, कान और पैर का अँगूठा समान के स्थान हैं ॥९७॥ यह समान वायु बहत्तर हजार नाड़ियों में तथा शरीर के रोम कूपों तक मे रहती है ॥९८॥ समान और प्राण एक ही है, वही एक जीव है। चित्त को भली प्रकार समाहित करके, रेचक, कुम्भक तीनों करे। सब को शनैः-शनैः खींचकर हृदय कमल के कोटर में प्राणवायु और अपानवायु को रोककर प्रणव का उच्चारण करे ॥१००॥

कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा।
मूलाधारात्सुषुम्ना च बिसतन्तुनिभा शुभा ॥ १०१
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः।
शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥ १०२
व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च।
कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे ॥ १०३
यदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः।
कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रे तु शक्ति च ॥ १०४
स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लय गतम्।
रत्नानि ज्योत्स्निनाद तु बिन्दु माहेश्वर पदम् ॥ १०५
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समुन्श्नुते ॥ १०६
इत्युपनिषत् ॥

कण्ठ और लिंग का संकोचन करे, फिर मूलाधार से पद्मतंतु के समान निकलने वाली सुषुम्ना का संकोचन करे ॥१०१॥ वीणा

से उठने वाला अमूर्त नाद जान पड़ता है, उसी के मध्य में शङ्ख आदि के समान ध्वनि होती है ॥१०२॥ कपाल कुहर के मध्य में चारों द्वारों का मध्य-स्थान है, वहाँ आकाशरन्ध्र में से जाता हुआ नाद मोर के शब्द के तुल्य होता है ॥१०३। जैसे आकाश में सूर्य है वैसे ही यहाँ विराजमान है और ब्रह्मरन्ध्र में दो कोदण्ड के मध्य शक्ति विराजमान है ॥१०४॥ वहाँ पुरुष अपने मन को लय करके स्वात्मा को देखे, वहाँ रत्नों की ज्योति रूप नाद विन्दु महेश्वर का पद है। जो इसको जानता है वह कैवल्य को प्राप्त करता है। यह उपनिषद है ॥१०५-१०६॥

॥ ध्यानविन्दुउपनिषद समाप्त ॥

—०—०—

अक्षमालिकोपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतितिष्ठता मनो मे वाचि प्रतिष्ठतभा-
विरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेना-
धीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि ।
तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतुमाम। अवतु वक्तारमवतु
वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्तिपाठ — ॐ। मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयं प्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिये मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ। मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ—भो भगवन् अक्षमालाभेदविधिं ब्रहीति। सा किंलक्षणा कतिभेदा अस्याः कति सूत्राणि कथं घटनाप्रकारः के वर्णाः का प्रतिष्ठा कैषाऽधिदेवता किं फलं चेति ॥१॥

तं गुहः प्रत्युवाच—प्रवालमौक्तिकस्फटिकशंखरजताष्टा-पदचन्दनपुत्रजीविकाब्जरुद्राक्षा इत्यादिक्षान्तरमूर्तिसंविधानुभावाः सौवर्णं राजतं ताम्रं चेति सूत्रत्रयम्। तद्विवरे सौवर्णं तद्दक्षपार्श्वे राजतं तद्वामे ताम्रं तन्मुखे मुखं तत्पुच्छे पुच्छं तदन्तरावर्तनक्रमेण योजयेत् ॥२॥

यदस्यान्तरं सूत्रं तद्ब्रह्म । यद्दक्षपार्श्वे तच्छैवम् । यद्वामे तद्वैष्णवम् । यन्मुखं सा सरस्वती । यत् पुच्छं सा गायत्री । यत् सुषिरं सा विद्या । या ग्रन्थिः सा प्रकृतिः । ये स्वरास्ते धवलाः । ये स्पर्शास्ते पीताः । ये परास्ते रक्ताः ॥३॥

किसी समय प्रजापति ने गुह से पूछा—हे भगवन् ! अक्षमाला की भेद-विधि को कहिए । उसका क्या लक्षण है ? कितने भेद हैं ? इसके कितने सूत्र हैं ? कैसे घटना प्रकार है ? (पिरोने का प्रकार) कौन अक्षर हैं ? क्या प्रतिष्ठा है ? और कौन इसका अधिदेवता है ? और क्या फल है ? ॥ १ ॥ तब उन्हें गुह ने उत्तर दिया—प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, चांदी, सोना चंदन, पुत्र जीविका, कमल तथा रुद्राक्ष ये दस प्रकार की होती है जो कि अ से लेकर क्ष तक के अक्षरों से अनुभावित करके धारण की जाती है । इसमें सोना, चाँदी तथा तांवा ये तीन सूत्र होते हैं । उस (मणके) के छेद में सोना, दाहिने भाग में चाँदी तथा बाँये हिस्से में तांवा, उसके मुख में मुख, पूँछ स्थान में पूँछ उसके अन्दर का सूत्र है वह ब्रह्मा है । जो दाहिने भाग में है वह शैव है । जो बायें हिस्से में है वह वैष्णव है । जो मुख है वह सरस्वती है जो पूँछ है । वह गायत्री है । जो छेद है वह विद्या है । जो गांठ है यह प्रकृति है । जो स्वर है वह सात्विक होने के कारण धवल अर्थात् सफेद है तथा जो स्पर्श है वह सत्व तथा तम मिश्रित होने के कारण पीले हैं एवं जो पर हैं वे राजस के कारण लाल हैं ॥ २ ॥

अथ तां पञ्चभिर्गव्यैरमृतैः पञ्चभिर्गव्यैस्तनुभिः शोधयित्वा पञ्चभिर्गव्यैर्गन्धोदकेन तस्नाप्य तस्मात् सोङ्कारेण पत्र-

कूर्चेन स्नपयित्वाऽष्टभिर्गन्धैराषिच्य सुमनःस्थले निवेश्याक्षतपुष्पैराराध्य प्रत्यक्षमादिक्षान्तैर्वर्णैर्भावयेत् ॥४॥

ओमंकार मृत्युञ्जय सर्वव्यापक प्रथमेऽक्षे प्रतिष्ठित । ओमांकाराकर्षणात्मक सर्वगत द्वितीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमिंकार पुष्टिदाक्षोभकर तृतीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमींकार वाक्प्रसादकर निर्मल चतुर्थेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमुंकार सर्वबलप्रद सारतर पञ्चमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमूंकारोच्चाटनकर दुःसह षष्ठेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमृंकार संक्षोभकर चञ्चल सप्तमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमॄंकार समोहनकरोज्ज्वलाष्टमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओम्लृंकार विद्वेषणकर शूहक नवमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओम्लॄंकार मोहकर दशमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमेंकार सर्ववश्यकर शुद्धसत्त्वकादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमैंकार शुद्धसात्विक पुरुषवश्यकर द्वादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमोंकाराखिलवाङ्मय नित्यशुद्ध त्रयोदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमौंकार सर्ववाङ्मय वश्यकर शान्त चतुर्दशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमंकार गजादिवश्यकर मोहन पञ्चदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमःकार मृत्युनाशनकर रौद्र षोडशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं कंकार सर्वविषहर कल्याणद सप्तदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं खंकार सर्वक्षोभकर व्यापकाष्टादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं गंकार सर्वविघ्नशमन महत्तरैकोनविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं घंकार सौभाग्यद स्तम्भनकर विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं ङंकार सर्वविषनाशकरोग्रैकविंशेऽक्षे प्रतिष्ठित । ओं चंकाराभिचारघ्न क्रूर द्वाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं छंकार भूतनाशकर भीषण त्रयोविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं जंकार

कृत्याऽदिनाशकर दुर्धर्ष चतुर्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं झंकार भूतनाशकर पञ्चविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं ञंकार मृत्युप्रमथन षड्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं टंकार सर्वव्याधिहर सुभग सप्तविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं ठंकार चन्द्ररूपाष्टाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं डंकार गरुडात्मक विषघ्न शोभनैकोनत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं ढंकार सर्वसंपत्प्रद सुभग त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं णंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं तंकार धनधान्यादिसंपत्प्रद प्रसन्न द्वात्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं थंकार धर्मप्राप्तिकर निर्मल त्रयस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं दंकार पुष्टिवृद्धिकर प्रियदर्शन चतुस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं धंकार विषज्वरनिघ्न विपुल पञ्चत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं नंकार भुक्तिमुक्तिप्रद शान्त षट्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं पंकार विषविघ्ननाशन भव्य सप्तत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं फंकाराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टात्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं बंकार सर्वदोषहर शोभनैकोनचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं भंकार भूत प्रशान्तिकर भयानक चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं मंकार विद्वेषिमोहनकरैकचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं यंकार सर्वव्यापक पावन द्विचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं रंकार दाहकर विकृत त्रिचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं लंकार विश्वम्भर भासुर चतुश्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं वंकार सर्वाप्यायकर निर्मल पञ्चचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं शंकार सर्वफलप्रद पवित्र षट्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं षंकार धर्मार्थकामद धवल

सप्तचरिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं संकार सर्वकारण सार्ववर्णिकाष्टचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं हंकार सर्ववाङ्मय निर्मलैकोनपञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ओं लंकार सर्वशक्तिप्रद प्रधान पञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ओं क्षकार परापरतत्वज्ञापक परंज्योतीरूप शिखामणौ प्रतितिष्ठ ॥५॥

इसके बाद उसे नन्दा आदि पाँच गायों के दूध से तथा गौ के शरीर से उत्पन्न गोमूत्र, गोमय, दूध, दधि, घृत, इन पंचगव्यों से शोधित करके, पुनः पंचगव्य (नन्दादि पाँच गायों के दही मात्र से) तथा गन्ध मिश्रित जल से स्नान कराकर ओंकार का उच्चारण करते हुए पत्र कूर्च द्वारा स्नान करवा कर, मन्त्र शास्त्र में प्रसिद्ध तक्कोल, उशीर कर्पूर आदि आठ गन्धों से लीपकर "मणशिला" नामक धातु पर स्थापित कर अक्षत तथा पुष्पों से उसकी पूजा करके प्रत्येक अक्ष (मणके) को अ से लेकर क्ष तक के अक्षरों द्वारा क्रमशः भावित करें (उनकी उसमें स्थापना करें) ॥४॥ ॐ हे ओंकार ! तुम मृत्यु को जीतने वाले हो। सर्व व्यापक इस प्रथम अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे ओंकार ! तुम आकर्षण शक्ति वाले हो, सर्वव्यापी हो, इस दूसरे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे इंकार ! तुम पुष्टि (पोषण) करने वाले तथा क्षुभितताराहित हो तीसरे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ईंकार ! तुम वाणी की स्वच्छता को करने वाले तथा निर्मल हो इस चौथे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे उंकार ! तुम सभी को सभी प्रकार के बल देने वाले तथा सारयुक्तों में श्रेष्ठ हो, पाँचवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ऊंकार ! तुम उच्चारण करने वाले तथा दुःस्सह (न सहे जा सकने वाले) हो इस छठे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ऋंकार ! तुम संक्षोभ (चलचित्तता) को करने

वाले तथा चंचल हो इस सातवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ऋृंकार! तुम सम्मोहन करने वाले तथा उज्ज्वल हो इस आठवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे लृंकार! तुम विद्वेष को उत्पन्न कर देने वाले तथा सब कुछ जानने वाले अत्यन्त गुप्त हो इस नवे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे लृंकार! तुम मोहकारी हो इस दसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे एंकार! तुम सब को वश में करने वाले तथा शुद्ध सत्य हो इस ग्यारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ऐंकार! तुम शुद्ध तथा सात्विक हो और पुरुषों को वश में करने वाले हो इस बारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे ओंकार! तुम अखिल वाङ्मय (सारे ही अक्षरों के समूह) हो एवं नित्य शुद्ध हो इस तेरहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे औंकार! तुम भी अक्षर समूह स्वरूप वश में करने वाले तथा शान्त हो इस चौदहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे अंकार! हाथी आदमियों को वश में करने वाले एवं मोहित करने वाले हो इस पन्द्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे अःकार! तुम मृत्यु नाशक तथा रौद्र (अत्यन्त भयानक) हो इस सोलहवें अक्ष में प्रतिष्ठा पाओ। हे कंकार! तुम सभी विषों को हरने वाले तथा कल्याण देने वाले हो इस सत्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे खंकार! तुम सबको क्षुभित करने वाले एवं व्यापक हो इस अठारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे गंकार! तुम सभी विघ्नों को शान्त करने वाले तथा बड़ों में भी बड़े (विशाल) हो इस उन्नीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा पाओ। ओं हे घंकार! तुम सौभाग्य देने वाले तथा स्तम्भन (गति को रोकने वाले) कर्त्ता हो बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा पाओ) ओं हे ङंकार! तुम सभी विषों के नाशक तथा उग्र भयानक हो इस इक्कीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे चंकार! तुम

अभिचार नाशक तथा क्रूर हो बाईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे छंकार ! तुम भूत नाशक तथा भयानक हो तेईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे जंकार ! तुम कृत्या आदि (डाकिनी आदि) नाशक तथा दुर्घर्ष हो इस चौबीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे झंकार ! तुम भूतनाशक हो इस पच्चीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ञंकार ! तुम मृत्यु को मथित कर देने वाले हो इस छब्बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे टंकार ! तुम सभी रोगों के नाशक तथा सौम्य हो इस सत्ताईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ठंकार ! तुम चन्द्रस्वरूप हो इस अठ्ठाईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे डकार ! तुम गरुड़ स्वरूप विपनाशक तथा सुन्दर हो उनतीसवे में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ढंकार ! तुम सभी तरह की सम्पत्तिदायक तथा सौम्य हो इस तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ।
दायक तथा सौम्य हो इस तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ।
ओं हे णंकार ! तुम सभी सिद्धि देने वाले तथा मोह कर देने वाले हो इस इकत्तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे तंकार ! तुम धनधान्य आदि सम्पत्तिदाता तथा सदा प्रसन्न हो इस बत्तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे थंकार ! तुम धर्म की प्राप्ति कराने वाले तथा निर्मल हो इस तेतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे दंकार ! तुम पुष्टि तथा बुद्धिकर्ता हो तथा सुन्दर दीखने वाले हो इस चौंतीसवें अक्ष प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे धंकार ! तुम विष तथा ज्वर के नाशक हो तथा विशाल (बहुत) हो इस पैंतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे नंकार तुम भोग तथा मोक्षदाता तथा शान्त हो इस छत्तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे पंकार ! तुम विप एवं विघ्नों के नाशक तथा कल्याणमय हो इन सैंतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे फंकार ! तुम अणिमा महिमा गरिमा आदि आठ सिद्धि के

तथा प्रकाश स्वरूप हो, इस अड़तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे वंकार ! तुम सब दोषों को हरण करने वाले तथा सुन्दर हो, इस उनतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे भंकार ! तुम भूत बाधा शान्त करने वाले तथा भयानक हो, इस चालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे मकार ! तुम विद्वेष (वैर) करने वाले को मोहित करने वाले अथवा विद्वेषी तथा मोह करने वाले हो, इस इकतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे यंकार ! तुम सब जगह व्यापी तथा पवित्र हो, इस बयालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे रंकार ! तुम दाह (जलन) (तपन) उत्पन्न करने वाले तथा विकृत हो, इस तेतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे लकार ! तुम विश्व का पोषण करने वाले तथा तेजस्वी (चमकने वाले) हो, इस चौवालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे वंकार ! तुम सब को तृप्त (पुष्ट) करने वाले तथा निर्मल हो इस पैंतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे शंकार ! तुम सभी प्रकार के फलों के दाता एवं पवित्र हो इस छयालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे षंकार ! तुम धर्म अर्थ तथा काम को देने वाले तथा श्वेत (सात्विक) हो, इस सैंतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे संकार ! तुम सब वस्तुओं के कारण सभी वर्णों से सम्बन्धित इस अड़तालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे हंकार ! तुम सभी सर्व वाङ्मय (सब अक्षरों के या साहित्य के स्वरूप) तथा निर्मल हो, इस उनचासवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे लंकार ! तुम सभी शक्तियों के दाता तथा प्रधान (प्रमुख) हो, इस पंचासवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे क्षंकार ! तुम परात्पर तत्व के बताने वाले तथा परंज्योती स्वरूप हो, इस शिला मणि में मेरुमाला का प्रधान मणका, प्रतिनिधि रूप से स्थित हो जाओ ॥५॥

अथवोवाच ये देवाः पृथिवीषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥६

अथोवाच ये देवा अन्तरिक्षसदस्तेभ्य ॐ नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ।७।

अथोवाच ये देवा दिविषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ।८।

अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोंनमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति ।९।

अथोवाच ये ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तेभ्य सगुणेभ्यः ओं नमस्तद्वीर्यमस्याः प्रतिष्ठापयति ॥१०

वे इस प्रकार बोले—'जो देवता पृथिवी में विचरने वाले हैं उन्हें नमस्कार है। हे भगवन् ! आप लोग इस माला में स्थित हों, इस माला का अनुमोदन (मेरे द्वारा ग्रहण का समर्थन करें) तथा इसकी शोभा के लिए पितृगण ही अनुमोदन करें। इस ज्ञानमयी अक्षमालिका को प्राप्त कर अग्निष्वात्त आदि पितर अनुमोदन करें ॥ ६ ॥ पुनः बोले—'जो देवता आकाश में रहने वाले हैं, उन्हें नमस्कार है, वे भगवान् पितरों के सहित इसे ज्ञानमयी माला में स्थित हों, इसकी शोभा के लिए अनमोदन करे ॥ ७ ॥ जो देवता स्वर्ग में (आकाश में) निवास करने वाले हैं, वे ज्ञान स्वरूपिणी अक्षमालिका में स्थित हों, वरदान दायक बनकर पितरों सहित इसकी शोभा के लिए अनुमोदन करें ॥ ८ ॥ पुनः इस प्रकार कहे—'इस लोक में जो सात करोड़ संख्यक मन्त्र हैं, जो चौंसठ कला स्वरूप विद्यायें हैं, उन्हें नमस्कार है। उनकी शक्तियाँ इसमें विराजमान होवें

॥९॥ पुनः ऐसा कहे—'जो ब्रह्मा विष्णु तथा रुद्र हैं उन्हें नमस्कार है उनके वीर्य को (पराक्रम को) नमस्कार है उनका वीर्य इसमें प्रतिष्ठित हो ॥१०॥

अथोवाच ये सांख्यादितत्त्वभेदास्तेभ्यो नमो वर्तध्वं वरोधेनुवर्तध्वम् ॥११

अथोवाच ये शैवा वैष्णवाः शाक्ताः शतसहस्रशस्तेभ्यो नमो नमो भगवन्तोऽनुमदन्त्वनुगृह्णन्तु ॥१२

अथोवाच याश्च मृत्योः प्राणवत्यस्ताभ्यो नमो नमस्तेनैतां मृडयत मृडयत ॥१३

पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं भावयित्वा भावेन पूर्वमालिकामुत्पाद्यारभ्य तन्मयीं महोपहारैरुपहृत्यादिक्षान्तैरक्षैरक्षमालामष्टोत्तरशतं स्पृशेत् ॥१४

अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणीकृत्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले सर्ववशंकर्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमालिकेऽशेषस्तम्भिन्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले उच्चाटन्योंनमस्ते भगवति मात्रमगतृकेऽक्षमाले विश्वामृत्यो मृत्युंजयस्वरूपिणि सकलोद्दीपिनि सकललोकदरक्षादिके सकललोकोज्जीविके सकलोत्पादिके दिवाप्रवर्तिके रात्रिप्रवर्तिके नद्यन्तरयासि देशान्तरयासि द्वीपान्तरयासि लोकान्तरयासि सर्वदा स्फुरसि सर्वहृदि वासयसि। नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे सर्वतत्त्वात्मिके सर्वविद्याऽऽत्मिके सर्वशक्त्यात्मिके सर्वदेवात्मिके वसिष्ठेन मुनिनाऽऽराधिते विश्वामित्रेण मुनिनोपसेव्यमाने नमस्ते नमस्ते ॥१५

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत् सायं प्रयुपानः पापोऽपापो

भवति एवमक्षमालिकया जप्तो मन्त्रः सद्यः सिद्धिकरो भवतीत्याह भगवान गुह प्रजापतिमित्युपनिषत् ॥१६॥

पुनः बोले—जो सांख्यादिक दर्शनों में छयानवे तत्त्व हैं तुम्हें नमस्कार है (हो) आप लोग इस माला में स्थित हो जपने वाले को वर देने वाले कामधेनु स्वरूप तथा (जपकर्ता के विरोधों के नाशक होकर) शोभित होवे ॥ ११ ॥ पुनः इस प्रकार बोले—इस ब्रह्माण्ड में जो शैव, वैष्णव, तथा शाक्त सैकड़ों तथा हजारों की संख्या में निवास करते हैं उन्हें नमस्कार हो वे सभी भगवान् (शक्तिशाली) कृपा करें तथा अनुमोदन करें (समर्थन, आज्ञा) करें ॥ १२ ॥ अन्त में ऐसा कहे—जो मृत्यु की जो उपजीव्य शक्तियाँ है उन्हें नमस्कार हो आप लोग इस नमस्कार से स्तुति से प्रसन्न हो इस अक्षमालिका को अपने उपासकों को सुख देने वाली करदें ॥१३॥ फिर इस मालिका में सर्वात्मकता (सर्वविधि पूर्णता) की भावना करके इसी भावना से पूर्ण मालिका (आधी माला) को पिरोकर पुनः शेष आधी पचास मणकों में उसी प्रकार आवृत्ति करके (१०० पूरे हुये) और पुनः शेष आठ मणकों में 'अ' क, च, ट, त, प, य, तथा श इस अष्टवर्ग को (पूर्वोक्तक्रम से) योजित करे । तब एक सौ आठ हो जाते हैं (मेरु में तो वही पूर्वोक्त क्ष रहेगा) इस प्रकार मालिका की योजना एक २ का उपहार (पास में पिरो २) करके करे ॥ १४ ॥ अक्ष मालिका की स्तुति—करके बाद उठकर प्रदक्षिणा करके ओं भगवती मन्त्र मातृके ! अक्षमाले तुम सबको वश में करने वाली हो तुम्हें नमस्कार है। हे मन्त्र मातृके ! अक्षमाले ! तुम सब की गति स्तम्भ करने वाली, उच्चाटन (विक्षिप्तता, विनाशता) करने वाली हो तुम्हें नमस्कार है। हे मन्त्रमातृके ! अक्षमाले ! तुम सबकी मृत्यु स्वरूप तथा मृत्युन्जय स्वरूपिणी हो और तुम सब की उद्दीप्त करने वाली

हो। साथ ही तुम सारे लोक की रक्षा करने वाली सकल संसार की प्राणदात्री, सब कुछ उत्पन्न करने वाली दिन तथा रात्रि की प्रवर्तक एवं नदियों, से दूसरी नदियों, सभी देशों, द्वीपों लोक में संचार करने की शक्ति रखने वाली हो। इन सभी जगह तुम विद्यमान हो तथा सदैव स्फुरण करने वाली (हृदयों में प्रकाशित होने वाली) तथा सभी के हृदयों में वास करती हो। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी आदि जो वाणी हैं तुम उनकी स्वरूप हो तथा सभी तत्वरूपिणी, सर्व विद्यामय, सभी शक्तियों की अधिष्ठात्री, सर्व देवों की आराध्या हो। तुम वशिष्ठ मुनि द्वारा आराधित एवं विश्वामित्र मुनि द्वारा उपसेव्यमान (सेवा शुश्रुषा किये जाने वाली) हो, तुम्हें बार-बार नमस्कार है ॥१५॥ इसे प्रातः अध्ययन करने वाला रात में किये गये पापों से मुक्त हो जाता है। सायंकाल इसे पढ़ने वाला दिन में किये पापों से छूट जाता है। जो सायं प्रातः दोनों समय सदैव इसका पाठ करता है, वह बड़ा पापी भी तो पाप मुक्त हो जाता है। भगवान् गुह ने प्रजापति को अन्त में यही कहा कि इस प्रकार अभिमन्त्रित पूजित अक्षमाला से जपा हुआ मन्त्र शीघ्र ही सिद्धिदायक होता है। ॥१६॥

॥ अक्षमालिकोपनिषत् समाप्त ॥

रुद्राक्षजाबालोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों; वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों । सब उपनिषद् ब्रह्मरूप हैं । मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे । उसमें रत हुये मुझको उपनिषद् धर्म की प्राप्ति हो । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अथ हैनं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ—कथं रुद्राक्षोत्पत्तिः, तद्धारणात् किं फलमिति ॥ १

तं होवाच भगवान् कालाग्निरुद्रः । त्रिपुरवधार्थं महं निमीलिताक्षोऽभवम् । तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः । सर्वानुग्रहार्थाय तेषां नामोच्चारणमात्रेण दशगोप्रदानफलं दर्शनस्पर्शनाभ्यां द्विगुणफलमत ऊर्ध्वं वक्तुं न शक्नोमि ॥ २

तत्रैते श्लोका भवन्ति—

कस्मिन् स्थितं तु किं नाम कथं वा धर्यते नरैः ।
कतिभेदमुखान्यत्र कैर्मन्त्रैर्धार्यते कथम् ॥ ३
दिव्यवर्षसहस्राणि चक्षुरुन्मीलितं मया ।
भूमावक्षिपुटाभ्यां तु पतिता जलबिन्दवः ॥ ४

तत्राश्रुविन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षकाः ।
स्थावरत्वतनुप्राप्य भक्तानुग्रहकारणात् ।। ५

रुद्राक्ष के विषय में भुसुण्ड का प्रश्न—एक समय इन कालाग्नि रुद्र से भुसुण्ड ने पूछा—कि रुद्राक्ष की उत्पत्ति कैसे हुई ? और उसको धारण करने से क्या फल होता है ? ।।१।। भगवान् कालाग्नि रुद्र ने उसको कहा कि त्रिपुर नामक राक्षस को मारने के लिए मैंने आँखें बन्द करलीं अर्थात् समाधिस्थ होगया । तब उन आँखों से जल की बूंदें पृथ्वी में गिरीं और वह रुद्राक्ष बन गईं । सब के ऊपर कृपा करने के लिए (मैं इतना ही कहता हूँ) कि उसके नाम लेने मात्र से दस गौ दान करने का फल और देखने तथा स्पर्श करने से दुगुना फल होता है । इससे अधिक (आगे) मैं नहीं कह सकता ।।२।। इस विषय में श्लोक हैं—प्रश्नः—कहाँ स्थित हैं ? क्या नाम है ? और कैसे मनुष्य इसे धारण करते हैं ? कितने भेद हैं ? और किन मन्त्रों से किस प्रकार धारण किये जाते हैं ? ।।३।। उत्तर—एक हजार दिव्य वर्ष [देवताओं के वर्ष] में मैंने आँखें खोलीं तो पृथ्वी में आंखों से जल की बूंदें गिरीं ।।४।। वहाँ आंसू की बूंदें महारुद्राक्ष के पेड़ बन गईं और भक्तों पर दया की दृष्टि से स्थावर [अचल] हो गईं ।।५।।

भक्तानां धारणात् पापं दिवारात्रिकृतं हरेत् ।
लक्षं तु दर्शनात् पुण्यं कोटिस्तद्धारणाद्भवेत् ।। ६
तस्य कोटिशतं पुण्यं लभते धारणान्नरः ।
लक्षकोटिसहस्राणि लक्षकोटिशतानि च ।। ७
तज्जपाल्लभते पुण्यं नरो रुद्राक्षधारणात् ।
धात्रीफलप्रमाणं यच्छ्रेष्ठमेतदुदाहृतम् ।। ८

बदरीफलमात्रं तु मध्यमं प्रोच्यते बुधैः ।
अधमं चणमात्रं स्यात् प्रक्रियैषा मयोच्यते ॥ ९
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति शिवाज्ञया ।
वृक्षा जाताः पृथिव्यां तु तज्जातीयाः शुभाक्षकाः ॥ १०

यह रुद्राक्ष, धारण करने से दिन तथा रात के किये हुये भक्तों के पापों को हर लेता है । दर्शन से तो लाख गुना पुण्य तथा उसको धारण करने से करोड़ गुना पुण्य होता है ॥६॥ करोड़ ही नहीं अरब गुना पुण्य उसको धारण करने से मनुष्य प्राप्त करता है तथा रुद्राक्ष धारण करने से और जप करने से मनुष्य [जप की अपेक्षा] लाख करोड़ हजार गुना लाख करोड़ सौ गुना पुण्य प्राप्त करता है ॥७॥ जो रुद्राक्ष आंवले के बराबर हो वह श्रेष्ठ कहा गया है ॥८॥ और जो बेर के समान हो उसे विद्वान मनुष्य मध्यम कहते है तथा जो चने के बराबर हो वह रुद्राक्ष अधम कहा जाता है । अब उसकी प्रक्रिया कहता हूं ॥९॥ शिवजी की आज्ञा से उस मङ्गलमय रुद्राक्ष के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र जाति के [रुद्राक्ष] वृक्ष उत्पन्न हुए ॥१०॥

श्वेतास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः क्षत्रिया रक्तवर्णकाः ।
पीता वैश्यास्तु विज्ञेयाः कृष्णाः शूद्रा उदाहृताः ॥ ११
ब्राह्मणो बिभृयाच्छ्वेतान् रक्तान् राजा तु धारयेत् ।
पीतान् वैश्यस्तु बिभृयात् कृष्णाञ्छूद्रस्तु धारयेत् ॥ १२
समाः स्निग्धा दृढाः स्थूलाः कण्टकैः संयुताः शुभाः ।
कृमिदष्टं छिन्नभिन्नं कण्टकैर्हीनमेव च ॥ १३
व्रणयुक्तमयुक्तं च षड् रुद्राक्षाणि वर्जयेत् ।
स्वयमेव कृतद्वारं रुद्राक्ष स्यादिहोत्तमम् ॥ १४
यत्तु पौरुषयत्नेन कृतं तन्मध्यमं भवेत् ।

समान् स्निग्धान् दृढान् स्थूलान् क्षौमसूत्रेण धारयेत् ॥ १५ ॥

सफेद रुद्राक्षों को ब्राह्मण, लाल रुद्राक्षों को क्षत्रिय, पीले रङ्ग वालों को वैश्य तथा कालों को शूद्र कहा है ॥११॥ ब्राह्मण को सफेद, क्षत्रिय को लाल, वैश्य को पीले तथा शूद्र को काले रुद्राक्ष धारण करने चाहिये ॥१२॥ बराबर (गोल), चिकने, मजबूत, बड़े (मोटे) तथा कांटे वाले शुभ माने गये हैं। कीड़े के खाये हुए, छिन्न-भिन्न (जो टूटे हों, खण्ड २ हों) कांटों से रहित हों, छेद वाले हों, ठीक न लगते हों— इन छः प्रकार के रुद्राक्षों को छोड़ देना चाहिये। अपने आप (स्वतः) जिसमें छेद हो ऐसा रुद्राक्ष उत्तम माना जाता है ॥१३-१४॥ जिसमें छेद करना पड़े वह मध्यम होता है। सो एक जैसे चिकने, मजबूत मोटे-मोटे रुद्राक्षों को रेशमी धागे में पिरोकर धारण करना चाहिए ॥१५॥

सर्वगात्रेण सौम्येन सामान्यानि विचक्षणः।
निकषे हेमरेखाभा यस्य रेखा प्रदृश्यते ॥ १६
तदक्षमुत्तमं विद्यात् तद्धार्यं शिवपूजकैः।
शिखायामेकरुद्राक्षं त्रिशत शिरसा वहेत् ॥ १७
षट्त्रिंशतं गले दध्याद्बाह्वोः शोडशषोडश।
मणिबन्धे द्वादशैव स्कन्धे पंचशतं वहेत् ॥ १८
अष्टोत्तरशतैर्मालामुपवीतं प्रकल्पयेत्।
द्विसरं त्रिसरं वाऽपि सराणां पंचकं तथा ॥ १९
सराणां सप्तकं वाऽपि विभृयात् कण्ठदेशतः।
मुकुटे कुण्डले चैव कर्णिकाहारकेऽपि वा ॥ २०

ये रुद्राक्ष सभी प्रकार से सौम्य सुन्दर एक जैसे होने चाहिए।

सांण पर जिसकी रेखा सुनहरी प्रतीत हो उसको उत्तम समझना चाहिये तथा शिव भक्तों को (पूजकों को) वही धारण करना चाहिए। चोटी में एक रुद्राक्ष तथा शिर पर (माला में पिरोकर) तीस रुद्राक्षों को धारण करना चाहिए ॥१६-१७॥ गले में छत्तीस तथा दोनों भुजाओं में सोलह-सोलह तथा मणिबन्ध गट्टा (पंजे के प्रारम्भ के हिस्से) में बारह तथा कन्धे में पन्द्रह रुद्राक्ष धारण करने चाहिये ॥१८॥ एक सौ आठ रुद्राक्षों की माला बनाकर गले में उपवीत रूप में (जैसे मालायें पहनी जाती हैं) धारण करें (बनावे)। दो लड़ी, तीन लड़ी, अथवा पाँच लड़ी किंवा सात लड़ियों को कण्ठ देश में धारण करना चाहिये। मुकुट, कुण्डल तथा कान की बाली (अथवा हार रूप में) भी धारण करने चाहिये ॥१९-२०॥

केयूरकटके सूत्रं कुक्षिबन्धे विशेषतः।
सुप्ते पीते सदाकालं रुद्राक्षं धारयेन्नरा ॥ २१
त्रिशतं त्वधमं पञ्चशतं मध्यममुच्यते।
सहस्रमुत्तमं प्रोक्तमेवं भेदेन धारयेत् ॥ २२
शिरसीशानमन्त्रेण कण्ठे तत्पुरुषेण तु।
अघोरेण गले धार्यं तेनैव हृदयेऽपि च ॥ २३
अघोरबीजमन्त्रेण करयोर्धारयेत सुधीः।
पंचाशदक्षग्रथितान् व्योमव्याप्यभिचोदरे ॥ २४
पंच ब्रह्मभिरंगैश्च त्रिमाला पंच सप्त च।
ग्रथित्वा मूलमन्त्रेण सर्वाण्यक्षाणि धारयेत् ॥ २५

बाजूबन्द, कुक्षिबन्ध में भी विशेष रूप से सूत्र को (सूत्र में बँधी माला को) सोते जागते हुये हमेशा धारण करना चाहिये ॥२१॥

तीन सौ रुद्राक्ष (धारण, अधम, पाँच सौ मध्यम तथा एक हजार उत्तम कहा गया है, इस प्रकार के भेद से धारण करना चाहिये ॥२२॥ शिर में 'ईशानः सर्वविद्यानां'·········इस मन्त्र से कण्ठ में 'तत्पुरुषाय विद्महे' 'महादेवाय' इस मन्त्र से गले में 'अघोरेभ्यो' इस मन्त्र से, गले तथा हृदय में भी रुद्राक्ष धारण करना चाहिये ॥२३॥ अघोर बीजमन्त्र के द्वारा विद्वान को चाहिये कि हाथों में धारण करे तथा रुद्राक्षों के बीच जो छेद होता है उसमें अ से लेकर क्ष तक जो ये पचास अक्षर हैं इन्हें लिखकर पञ्चाक्षरी मन्त्र [नमः शिवाय] से अभिमन्त्रित करके [अक्षमालोपनिषद में कही गई रीतियों के अनुसार] प्राण प्रतिष्ठादि करके मूलमन्त्र से गूंथ कर तीन पाँच अथवा सात मालाओं के रूप में धारण करना चाहिये ॥२४-२५॥

अथ हैनं भगवन्तं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ रुद्राक्षाणां भेदेन यदक्ष यत्स्वरूपं यत्फलमिति तत्स्वरूप मुखयुक्तमरिष्टनिरसनं कामाभीष्टफल ब्रूहीति होवाच ॥ २६

तत्र ते श्लोका भवन्ति—
एकवक्त्रं रुद्राक्षं परतत्त्वस्वरूपकम् ।
तद्धारणात् परे तत्त्वे लीयते विजितेन्द्रियः ॥ २७
द्विवक्त्रं तु मुनिश्रेष्ठ चार्धनारीश्वरात्मकम् ।
धारणादर्धनारीशः प्रीयते तस्य नित्यशः ॥ २८
त्रिमुखं चैव रुद्राक्षमग्नित्रयस्वरूपकम् ।
तद्धारणाच्च हुतभुकतस्य तुष्यति नित्यदा ॥ २९
चतुर्मुखं तु रुद्राक्षं चतुर्वक्त्रस्वरूपकम् ।
तद्धारणाच्चतुर्वक्त्रः प्रीयते तस्य नित्यदा ॥ ३९

इसके बाद इन भगवान कालाग्नि रुद्र से भुसुण्ड ने पूछा कि रुद्राक्षों के भेद से जिन रुद्राक्षों का जो स्वरूप तथा जो फल होता है

उसके स्वरूप को मुखों के भेद से अरिष्ट [अमङ्गल] दूरीकरण तथा इच्छित वस्तुओं के फल को कहो अर्थात् किन से क्या इच्छित वस्तुएं मिलती हैं ?) । २६।। इसके सम्बन्ध में इस प्रकार श्लोक हैं—एक मुंह वाला रुद्राक्ष परतत्व का स्वरूप समझा जाता है, उसे धारण करने से इन्द्रियों को वश में करने वाला उस परात्पर (अन्तिम) तत्व में (शिव) लीन हो जाता है ।।२७।। हे मुनिश्रेष्ठ ! दो मुंह वाला रुद्राक्ष अर्धनारीश्वर का स्वरूप समझा जाता है, उसको धारण करने वाले पर हमेशा अर्धनीश्वर भगवान् (शिव) प्रसन्न होते हैं ।।२८।। तीन मुंह वाला रुद्राक्ष तीनों अग्नियों का स्वरूप समझा जाता है । उसे धारण करने से उस पर हमेशा अग्निदेव प्रसन्न रहते हैं ।।२९।। चार मुख वाला रुद्राक्ष चतुर्मुख भगवान का स्वरूप समझा जाता है, उसे धारण करने से चतुर्मुख भगवान् उस पर प्रसन्न होते हैं ।।३०।।

पंचवक्त्रं तु रुद्राक्षं पंचब्रह्मस्वरूपकम् ।
पंचवक्त्रः स्वयं ब्रह्म पुंहत्यां च व्यपोपति ।। ३१
षड्वक्त्रमपि रुद्राक्षं कार्तिकेयाधिदैवतम् ।
तद्धारणान्महाश्रीः स्यानमहदारोग्यमुत्तमम् ।। ३२
मतिविज्ञानसंपत्तिशुद्धये धारयेत् सुधीः ।
विनायकाधिदेवं च प्रवदन्ति मनीषिणः ।। ३३
सप्तवक्त्रं तु रुद्राक्षं सप्तमात्रधिदैवतम् ।
तद्धारणान्महाश्रीः स्यान्महदारोग्यमुत्तमम् ।। ३४
महती ज्ञानसंपत्तिः शुचिर्धारयतः सदा ।
अष्टवक्त्र तु रुद्राक्षमष्टमात्रधिदैवतम् ।। ३५
वस्वष्टकप्रियं चैव गङ्गाप्रीतिकरं तथा ।
तद्धारणादिमे प्रीता भवेयुः सत्यवादिनः ।। ३६

पाँच मुँह वाला रुद्राक्ष पञ्चमुखी भगवान् का (शिव) स्वरूप समझा जाता है, उसे धारण करने से स्वयं ब्रह्म स्वरूप पञ्चमुखी भगवान् पुरुष हत्या को दूर करते हैं ॥३१॥ छः मुँह वाला रुद्राक्ष कार्तिकेय (शिव के बड़े पुत्र) का स्वरूप समझा जाता है । उसे धारण करने से महालक्ष्मी प्रसन्न होती है तथा आरोग्य की सुन्दर प्राप्ति होती है । इसे विद्वान लोग गणेश का स्वरूप भी मानते हैं तथा इसे बुद्धि, विद्या, लक्ष्मी की वृद्धि के लिये चतुर मनुष्य को धारण करना चाहिये ॥३२-३३॥ सात मुँह वाला रुद्राक्ष सप्तलोक माताओं (ब्राह्मी आदि) का स्वरूप वाला समझा जाता है, इसे धारण करने से अत्यन्त वैभव की तथा उत्तम आरोग्य की प्राप्ति होती है ॥३४। पवित्रता से धारण करने पर महान् ज्ञान उत्पन्न होता है । आठ मुँह वाला रुद्राक्ष अष्ट माताओं का स्वरूप समझा ज ता है तथा यह अष्ट वस्तुओं का भी प्रिय है तथा इससे गङ्गा भी प्रसन्न होती है । इसे धारण करने से तीनों स्वरूप प्रसन्न होते हैं ॥३५-३६॥

नववक्त्रं तु रुद्राक्षं नवशक्त्यधिदैवतम् ।
तस्य धारणमात्रेण प्रीयन्ते नव शक्तयः ॥ ३७
दशवक्त्रं रुद्राक्षं यमदैवमुदाहृतम् ।
दर्शात् प्रशान्तिजनकं धारणान्नात्र संशयः ॥ ३८
एकादशमुखं त्वक्षं रुद्रैकादशदैवतम् ।
तदिदं दवतं प्राहुः सदा सौभाग्यवर्धनम् ॥ ३९
रुद्राक्षं द्वादशमुखं महाविष्णुस्वरूपकम् ।
द्वादशादित्यरूपं च विभर्त्येव हि तत्परः ॥ ४०

नौ मुँह वाले रुद्राक्ष की नौ शक्तियां देवता समझी जाती हैं

(अर्थात् उनका बोधक है) इसे धारण करने से नौ शक्तियां प्रसन्न होती हैं । ॥३७॥ दस मुख वाले रुद्राक्ष का देवता यम समझा जाता है । देखने मात्र से शान्ति उत्पन्न करने वाला तथा धारण करने से भी महाशान्ति देने वाला होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥३८॥ ग्यारह मुँह वाले रुद्राक्ष के देवता एकादश रुद्र समझे जाते हैं । यह एकादश रुद्राधिदैवत रुद्राक्ष हमेशा सौभाग्य बढ़ाने वाला होता है ॥३९॥ बारह मुँह वाला रुद्राक्ष महाविष्णु का स्वरूप समझा जाता है । यह बारह सूर्यों का स्वरूप भी समझा जाता है तथा इनका उपासक इसे धारण करता है ॥४०॥

त्रयोदशमुखं चाक्षं कामदं सिद्धिदं शुभम् ।
तस्य धारणमात्रेण कामदेवः प्रसीदति ॥ ४१
चतुर्दशमुखं चाक्षं रुद्रनेत्रसमुद्भवम् ।
सर्वव्याधिहरं चैव सर्वदाऽऽरोग्यमाप्नुयात ॥ ४२
मद्यं मांसं च लशुनं पलाण्डुं शिग्रुमेव च ।
श्लेष्मातकं विड्वराहमभक्ष्य वर्जयेन्नरः ॥ ४३
ग्रहणे विषुवे चैवमयने सक्रमेऽपि च ।
दर्शेषु पूर्णमासे च पूर्णेषु दिवसेषु च ।
रुद्राक्षधारणात् सद्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४
रुद्राक्षमूलं तद्ब्रह्मा तन्नालं विष्णुरेव च ।
तन्मख रुद्र इत्याहुस्तद्बिन्दुः सर्वं देवता ॥ इति ॥ ४५

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवन् रुद्राक्षधारणविधिम् । तस्मिन् समये निदाघजड़भरतदत्तात्रेयाकात्यायनभरद्वाजकपिलवसिष्ठपिप्पलादयश्च कालाग्निरुद्रं

परिसमेत्योचुः। अथ कालाग्निरुद्रः किमर्थं भवतामागमनमिति होवाच। रुद्राक्षधारणविधिं वै सर्वे श्रोतुमिच्छामह इति ॥ ४६ ॥

अथ कालाग्निरुद्रः प्रोवाच। रुद्रस्य नयनादुत्पन्ना रुद्राक्षा इति लोके ख्यायन्ते। अथ सदाशिवः संहारकाले संहारं कृत्वा संहाराक्षं मुकुलीकरोति। तन्नयनाज्जाता रुद्राक्षा इति होवाच। तस्माद्रुद्राक्षत्वमिति कालाग्निरुद्रः प्रोवाच॥ ४७

तेरह मुँह वाला रुद्राक्ष इच्छाओं तथा सिद्धियों को देने वाला होता है। इसे धारण करने मात्र से कामदेव प्रसन्न होते हैं। यह शुभ होता है ॥४१॥ चौदह मुँह वाला रुद्राक्ष भगवान रुद्र की आँखों से विशेष रूप से उत्पन्न हुआ है। यह सब रोगों को हरण (दूर) करने वाला तथा परम आरोग्य का दायक होता है ॥४२॥ शराब, मांस, लहसुन, प्याज, सहजन, लसौड़ा विड्वराह (शाकविशेष) आदि अभक्ष्य वस्तुओं को इसके धारण करने वाले को छोड़ देना चाहिये ॥४३॥ ग्रहण के समय, जिन दिनों रात तथा दिन बराबर होते हैं (अर्थात् तुला तथा मेष संक्रान्ति (सूर्य की) के दिनों में, अयन परिवर्तन के समय, अमावस्या पौर्णमासी (मास समाप्ति पर) जब दिन पूर्ण हो जाय तब रुद्राक्ष धारण करने से शीघ्र पापमुक्त हो जाता है ॥४४॥ रुद्राक्ष का मूल भाग ब्रह्मा तथा नाल भाग (छेद) विष्णु तथा मुख का भाग रुद्र तथा रुद्राक्ष के बिन्दु सब देवता कहे गये हैं ॥४५॥ इसके बाद भगवान कालाग्नि रुद्र को सनत्कुमार ने पूछा (कहा) महाराज ! आप रुद्राक्ष धारण करने की विधि बतलाइये । इसी समय निदाघ, जड़ भरत, दत्तात्रेय, कात्यायन, भारद्वाज, कपिल, वशिष्ठ, पिप्पलाद,

आदि कालाग्नि रुद्र के चारों तरफ बैठ गये तथा भगवान कालाग्नि रुद्र के यह पूछे जाने पर कि आप लोग क्यों आये हैं ? बोले—हम सब रुद्राक्ष धारण की विधि को सुनना चाहते हैं ॥४६॥ तब कालाग्नि रुद्र बोले—रुद्र के नेत्रों से उत्पन्न होने के कारण से यह रुद्राक्ष नाम से प्रसिद्ध है। भगवान सदा शिव संहार के समय (प्रलय काल में) संहार करके अपने संसार का संहार करने वाले नेत्र को मुकुलित कर लेते हैं (जरा से खुले तथा अधिकतया बन्द) उन्हीं से उत्पन्न रुद्राक्ष है। यही रुद्राक्ष का अपना स्वत्व है । इस प्रकार कालाग्नि ने उत्तर दिया ॥४७॥

तद्रुद्राक्षे वाग्विषये कृते दशगोप्रदानेन यत् फलमवाप्नोति तत् फलमश्नुते । स एव भस्मज्योती रुद्राक्ष इति। तद्रुद्राक्षं करेण स्पृष्ट्वा धारणमात्रेण द्विसहस्रगोप्रदानफलं भवति। तद्रु-द्राक्षे कर्णयोर्धार्यमाणे एकादशसहस्रगोप्रदानफलं भवति। एका-दशरुद्रत्वं च गच्छति । तद्रुद्राक्षे शिरसि धार्यमाणे कोटिगो-प्रदानफलं भवति । एतेषां स्थानानां कर्णयोः फलं वक्तुं न शक्यमिति होवाच ॥ ४८

य इमां रुद्राक्षजाबालोपनिषदं नित्यमधीते बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति । स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवति। एतैरेव होमं कुर्यात् । एतैरेवार्चनम्। तथा राक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत। सप्त-द्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते। तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्गां दद्यात् सा दक्षिणा भवति। य इमामुपनिषदं ब्राह्मणः प्रातर-धीयानो रात्रिकृतपापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतपापं

नाशयति । मध्याह्नेऽधीयानः षड्जन्मकृतपापं नाशयति । सायं प्रातः प्रयुंजानोऽनेकजन्मकृतपाप नाशयति षड्सहस्रलक्षगायत्री-जपफलमवाप्नोति ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुदारगमनतत्सं-योगपातकेभ्यः पूतो भवति सर्वतीर्थफलमश्नुते पतितसंभाषणात् पूतो भवति षड्क्तिशतसहस्रपावनी भवति शिवसायुज्यमवाप्नोति न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥ ४९

सौ रुद्राक्ष शब्दों के उच्चारण से दस गोदान करने का फल प्राप्त होता है। वही भस्म ज्योति रुद्राक्ष भी कहा जाता है। उस रुद्राक्ष को हाथ से छूकर धारण करने मात्र से दो हजार गोदान करने का फल प्राप्त होता है। इन रुद्राक्षों को दोनों कानों में धारण करने से (पर) ग्यारह हजार गोदान करने का फल होता है तथा वह एकादश रुद्र के स्वरूप को प्राप्त करता है। उस रुद्राक्ष को शिर से धारण करने पर करोड़ गौओं के दान करने का फल होता है। इन स्थानों के कानों के फल अधिक कहे नहीं जा सकते ॥४८॥ जो इस रुद्राक्ष जाबालो-पनिषद को हमेशा पढ़ता है अथवा जानता है वह बालक हो अथवा जवान हो वह महान् आत्मा होता है। वह गुरु तथा सब मन्त्रों का उपदेश करने वाला होता है। इन्हीं से होम करना चाहिये। इन्हीं से पूजा करनी चाहिए तथा राक्षसों के नाशक, मृत्यु नाशक, रुद्राक्षों को गुरु द्वारा प्राप्त कर, कण्ठ, भुजा अथवा चोटी में बांधना चाहिये। इसकी दक्षिणा के लिये (गुरु दक्षिणा) सातों द्वीपों युक्त पृथिवी भी कम है। अतः श्रद्धापूर्वक जिस किसी को दे वही दक्षिणा होती है। जो ब्राह्मण इस उपनिषद को प्रातः पढ़ता है वह रात में किये पापों को नष्ट कर देता है तथा जो सायंकाल पढ़ता है उसके दिन में किये पाप नष्ट हो

जाते हैं। जो मध्याह्न, (दोपहर) में पढ़ता है, उसके छः जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। प्रतिदिन प्रातः सायं पढ़ने से अनेक जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं तथा छः हजार लाख गायत्री जप के फल को प्राप्त करता है एवं ब्रह्महत्या, सुरापान (शराब पीना) सोना चुराना, गुरु की पत्नी से सम्भोग करना, आदि २ पापों के करने पर भी पवित्र हो जाता है तथा सभी तीर्थों के फल को प्राप्त करता है। नीचों से बातचीत करने पर जो पाप लगता है अथवा पुण्यक्षय होता है, उससे भी छूट जाता है एवं वह सैकड़ों हजारों पंक्तियों को (अर्थात् बहुत अधिक प्राणियों को) पवित्र करने वाला हो जाता है तथा शिवजी की समीपता को प्राप्त करता है (अर्थात् सदा शिव के साथ विहरण करता है) और कभी फिर जन्ममृत्यु के चक्कर में नहीं फँसता ॥३९॥

॥ रुद्राक्षजाबालोपनिषद् समाप्त ॥

रामपूर्वतापिन्युपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे पूज्य देवो! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है, उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ॥ १
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः।
राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा ॥ २
रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः।
राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा ॥ ३
प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम्।
धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः ॥ ४
तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात्।

तथा रात्यस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः ॥५
रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥६

भगवान् विष्णु ने जब रघुवंशीय महाराज दशरथ के यहाँ जन्म लिया, तब उनका नाम 'राम' हुआ। विद्वजनों ने 'राम' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा कि जो पृथिवी पर स्थित होकर संतजनों की सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं और जो राजा के रूप में शोभायमान हैं, वे राम हैं। जिनके द्वारा राक्षसगण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे राम हैं। कुछ विद्वानों ने उन्हें अभिराम होने से राम माना और कुछ ने कहा कि अपनी ही उन्नति से जिनका पृथिवी पर बल प्रसिद्ध हुआ वह राम हैं। राहु जैसे चन्द्रमा को प्रभा-हीन कर देता है, वैसे राक्षसों को प्रभाहीन कर देने से वे राम हैं। कुछ विद्वानों के मत में राज्य प्राप्ति के अधिकारी जो राजा लोग हैं, उनको आदर्श चरित्र उपस्थित कर श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश करते हैं तथा ध्यान करने वाले को वैराग्य देते और नामोच्चारण करने वाले को ज्ञान-मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं तथा जो विग्रहपूजन को ऐश्वर्यवान् बनाते हैं, उनके इन गुणों के कारण ही पृथ्वी पर उनका नाम राम हुआ होगा। परन्तु इससे भिन्न मत यह है कि जिस नित्यानन्द स्वरूप, चिन्मय और अनन्त ब्रह्म में योगीजन लीन रहते हैं, वह परमेश्वर 'राम' के द्वारा ही प्रतिपाद्य है ॥१—६॥

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥७
रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना ।
द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश ॥८

अष्टादशामी कथिता हस्ताः शंखादिभिर्युताः ।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना ॥९
शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा ।
कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना ॥१०
ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्रोऽन्वर्थादिसंज्ञिकः ।
जप्तव्यो मन्त्रिणा नैवं विना देवः प्रसीदति ॥११
क्रियाकर्मेज्यकर्तृणामर्थं मन्त्रो वदत्यथ ।
मननान्त्राणनान्मन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचकः ॥१२
सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना ।
विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति ॥१३

परमात्म रूप ब्रह्म देह-रहित, अवयव-रहित, अद्वितीय और प्राकृत है, परन्तु भक्तों [के इच्छित कार्यों को सिद्ध करने के लिए वह आकार को प्रकट करता है । ॥७॥ परमात्मा के स्वरूप में स्थित देवताओं को ही पुरुष, स्त्री, वज्र, अस्त्र आदि के रूप में कल्पित किया गया है । भगवान के साकार विभिन्न अवतारों में दो, चार, छः, आठ, बारह, सोलह, अठारह हाथ तक वर्णित हैं । उनमें वे शंख चक्र आदि भी लिये रहते हैं और जब वे विश्व रूप धारण करते हैं तब तो हजारों हाथ होते हैं । उन सब रूपों के विभिन्न रङ्ग तथा वाहन आदि होते हैं । उनके लिये विभिन्न शक्तियों, सेनाओं और शस्त्रों की कल्पना होती है । इस प्रकार सूर्य, गणेश, दुर्गा, विष्णु आदि रूपों में पञ्चभौतिक देह तथा उनके अनुरूप विभिन्न प्रकार की सेना और अनुचर आदि कल्पित हुए हैं ॥ ८—१० ॥ वृक्षादि जड़ पदार्थ, चेतन शरीर तथा ब्रह्मा तक सभी का वाचक यह 'राम' मन्त्र है । इसका जैसा अर्थ है, वैसा ही गुण है । इस मन्त्र की दीक्षा लेकर निरंतर जप करने से भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है । साधक गण अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिए मंत्र की

दीक्षा देते हैं। मनन और त्राणन के गुण से सम्पन्न होने के कारण उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र ही सब अभिधेयों का वाचक है। जो भगवान स्त्री-पुरुष दोनों रूप में प्रतिष्ठित है, उनके लिये रूप में विग्रह यन्त्र की रचना की जाती है क्योंकि बिना यन्त्र की अर्चना देवताओं को प्रसन्न करने समर्थ नहीं होती ॥११—१३॥

स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेव भासते।
जीवत्वेन समो यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च ॥१
कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजःसत्त्वतमोगुणैः।
तथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान्द्रुमः ॥२
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
रेफारूढामूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव चेति ॥३

सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त। स्थितानि च प्राहेतान्येव तेषु ततो रामो मानवो मायया धात् ॥१॥ जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै नमः स्यान्नमस्त्वैक्यं प्रवदेत्प्राग्गुणेनेति ॥२॥

जीववाची नमो नाम चात्मारामेति गीयते।
तदात्मिका या चतुर्थी तथा मायेति गीयते ॥१
मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः।
फलतश्च व सर्वेषां साधकानां न संशय ॥२
यथा नामी वाचकेन नाम्ना योऽभिमुखो भवेत्।
तथा बीजात्मको मन्त्रोऽमन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत् ॥ ३
बीजशक्तिन्यसेद्दक्षवामयोः स्तनयोरपि।
कीलो मध्ये विना भाव्यः स्ववाञ्छाविनियोगवान् ॥४
सर्वेषामेव मन्त्राणामेष साधारणः क्रमः।
अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वह्निना समः ॥५

सत्त्वगुणगुविश्वश्चेदग्नीषोमात्मकं जगत् ।
उत्पन्नः सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ॥६
प्रकृत्यासाहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः ।
द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः ॥७
प्रसन्नवदनो जेता धृष्टयष्टकविभूषितः ।
प्रकत्या परमेश्वर्या जगद्यान्याङ्किताङ्कभृत् ॥८
हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकृतया चिता ।
श्लिष्टः कमलधारिणया पुष्टः कोसलजात्मजः ॥९
दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ सधनुष्पाणिना पुनः ।
हैमाभेनानुजेनव तथा कोणत्रयं भवेत् ॥१०

साकार होनेवाले परमेश्वर स्वयंभू कहलाते हैं क्योंकि उनके प्रकट करने में कोई कारण रूप नहीं होता, वे स्वयं ही उत्पन्न होते हैं। वे ज्योति स्वरूप हैं और अपने प्रकाश से सदा प्रकाशित रहते हैं। वे साकार होने पर भी अनन्त रहते हैं । क्योंकि वे देश, काल आदि की सीमा में सीमित नहीं रहते। वे अपनी चैतन्य शक्ति प्राण रूप से सभी देह धारियों में स्थित रहते हैं और वे ही सत्व, रज, तम गुणों के द्वारा विश्व की सृष्टि, रक्षा और अन्त करने में समर्थ हैं। इन गुणों के कारण ही संसार प्रत्यक्ष दिखाई देता है। परन्तु यह दृष्टिगोचर संसार भी ओंकार रूप ही है । जैसे महान् वट वृक्ष अपने छोटे से बीज में स्थित रहता है वैसे ही यह विशाल विश्व रामबीज़ में स्थित है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीनों तथा उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली शक्तियाँ,नाद-बिन्दु और बीज से उत्पन्न रौद्री, ज्येष्ठा और वामा-यह सभी राम के 'रकार' पर टिके हुए हैं। इस बीज मन्त्र में पूजनीय सीता रूप प्रकृति और राम रूप पुरुष हैं। चौदहों भुवन इन दोनों से ही प्रकट हुए हैं। यह लोक इन दोनों के ही आश्रित हैं। इन सब का लय भी ओंकार रूप ब्रह्मा, विष्णु, शिव में ही होता है। राम ने

लीलापूर्वक ही अपने को मनुष्य रूप में प्रकट किया है। इन विश्व प्राण और विश्वात्मा राम को नमस्कार है। इस प्रकार नमन के पश्चात् गुणों से भी पूर्व प्रकट हुए परब्रह्म रूप राम के साथ अपने एकीभाव का अनुभव करता हुआ 'मैं ही रामरूप ब्रह्म हूं' इस प्रकार उच्चारण करे ॥ १—४ ॥

'राम' के द्वारा आत्मा प्रतिपादित होती है और नमः जीव वाचक है। राम के साथ मिली हुई विभक्ति से जीव और आत्मा के एकीभाव का वर्णन किया जाता है। 'रामाय नमः' मन्त्र के राम ही वाच्य है, इन दोनों के सम्मिलित से सब उपासकों को इच्छित फल प्राप्त होता है। जैसे जिस किसी का नाम लिया जाय, वह अपने नाम की पुकार सुनकर तुरन्त सामने आता है, वैसे ही बीज रूप मन्त्र राम का उच्चारण किये जाने पर राम भी साधक के समक्ष प्रत्यक्ष होते हैं। बीज का दक्षिण स्तन पर और शक्ति का वाम स्तन पर तथा कीलक का हृदय के मध्य में न्यास और कामना-सिद्धि निमित्त विनियोग करे। जब ध्यान किया जाए तब दशरथ तनय श्रीराम में अनन्त, अविनाशी परमेश्वर की भावना करनी चाहिए। उन्हें अत्यन्त तेजोमय अग्नि के समान मानना चाहिए। जब वे सौम्य कान्ति वाली श्रीसीता जी से युक्त होते हैं, तब वे अग्निषोमात्मक विश्व के कारणभूत होते है। जैसे चन्द्रमा के साथ अत्यन्त शोभा होती है, वैसे ही राम सीता के साथ अत्यन्त सुशोभित होते हैं ॥ १—६ ॥

श्रीराम अपनी आह्लादनी शक्ति सीता के साथ सुशोभित हैं। वे श्याम वर्ण के हैं। उनके देह पर पीताम्बर सिर पर जटायें, कानों में कुण्डल तथा कंठ में श्रेष्ठ रत्नों की मालायें पड़ी हैं। उनके दो भुजायें हैं। वे स्वभाव से धीर और सदा प्रसन्न मुख वाले हैं। वे धनुर्धारी राम युद्ध में सदा जीतते हैं। अणिमा आदि आठों ऐश्वर्यभूता शक्तियाँ उनकी शोभा वृद्धि करती हैं। वाम अंग में संसार की कारण

रूपिणी सीता जी सुशोभित हैं। वे सुवर्ण के समान उज्ज्वल कान्ति वाली हैं। वे दो भुजा वाली सीता दिव्य अलंकारों से अलंकृत और हाथ में सुन्दर कमल पुष्प लिए हुए हैं। उनके साथ विराजमान श्रीराम सुन्दर और पुष्ट लगते हैं। राम के दक्षिण ओर उनके लघु भ्राता गौरवपूर्ण लक्ष्मण जी खड़े हैं, उनके हाथों में धनुष बाण है। इन तीनों के इस प्रकार प्रतिष्ठित होने से एक सुशोभित त्रिकोण की सृष्टि होती है ॥७-१०॥

तथैव तस्य मन्त्रस्य यस्याणुश्च स्वङेन्तया।
एव त्रिकोणरूपं स्यात्तं देवा ये समाययुः ॥११
स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम्।
कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥१२
नमो वेदादिरूपाय ओङ्काराय नमो नमः।
रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥१३
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने।
भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥१४
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥१५
त्वमैश्वर्यं दापयाथ सप्रत्याश्वरिमारणम्।
कुर्विति स्तुत्य देवाद्यास्तेन सार्धं सुखं स्थिताः ॥१६
स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः।
रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे ॥१७
स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः।
तद्व्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च ॥१८
विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्च चासुरम्।
हत्वा कबन्धं शबरीं गत्वा तस्याज्ञया तया ॥१९
पूजितो वायुपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम्।
आहूय शंसततां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ ॥२०

स तु रामे शङ्कितः सम्प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः।
विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत् ॥२१
सप्त सालान्विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा।
तेन हृष्टः कपीन्द्रोऽसौ स रामस्तस्य पत्तनम् ॥२२
जगामागर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात्।
तदा वाली निर्जगाम तं वालिनमथाहवे ॥२३
निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयत्ततः।
हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना ॥२४

राम मंत्र का बीज जैसे 'राम' है, वैसे ही अब उसका शेषांश कहा जाता है। राम शब्द के चतुर्थ्यन्त रूप में नमः मिलने से 'रां रामाय नमः' बनता है। यदि यह षडक्षर मन्त्र सिद्ध हो जाय तो छः कोण बनते हैं।

एक समय की बात है—देवगण भगवान राम के दर्शनार्थ पधारे। उस समय श्रीराम कल्पवृक्ष के नीचे एक जटित सिंहासन पर विराजमान थे। देवगण उनके दर्शन कर इस प्रकार स्तवन करने लगे—'काम रूप से युक्त माया रूप के धारण करने वाले श्रीराम को नमस्कार है। वेद के आदि रूप ओंकार स्वरूप श्रीराम को नमस्कार है। सीता रूप रमा के धारण करने वाले, नयनाभिराम एवं आत्मा स्वरूप श्रीराम को नमस्कार है। श्रीराम जी का देह ही जिनका अलंकार है और जो राक्षसों के मारने वाले हैं, जो रावण के लिए मृत्यु रूप तथा कल्याणमय विग्रह से युक्त श्रीराम को नमस्कार है। हे नृपोत्तम, हे दशमुख विनाशक, हे महाधनुर्धर श्रीराम हमारी रक्षा करो। हमें अपने से सम्बन्धित श्री से सम्पन्न करो।'

'हे श्रीराम हमको ऐश्वर्य प्राप्त कराओ।' इस प्रकार देवगण उनकी स्तुति करते रहे। जब तक श्रीराम खर नामक राक्षस का संहार करने में लगे, तब तक देवताओं ने और ऋषियों ने भी उनकी

स्तुति की। जब खर और उनके साथी राक्षस मारे गये तब राक्षस-राज रावण ने वन में पहुँचकर श्रीसीता जी का हरण कर लिया। 'वन' से सीता का हरण करने के कारण उस राक्षस को 'रावण' कहा गया क्योंकि राम शब्द से 'रा' और 'वन' से 'वन' लेने पर रावण नाम बन जाता है। अथवा जो दूसरों को रुलावे वह रावण कहा जाता है।

एक समय की बात है—रावण ने कैलाश को उठा लिया तब शिवजी ने कैलाश को इतना भारी कर दिया कि वह उसे ही दाबने लगा। तब तो उसने बड़ा भारी रव (शोर) किया, इसी से उसका नाम रावण हुआ।

सीता हरण के पश्चात् राम और लक्ष्मण दोनों ही उनकी खोज के निमित्त वन में विचरण करने लगे। तभी उनके सामने कबन्ध नामक एक राक्षस आया, उन्होंने उसे मार डाला और उसके कहने से वे शबरी के आश्रम पर गये। वहाँ शबरी ने उनका अत्यन्त भक्ति-भाव से सत्कार किया। फिर आगे चलने पर वायु पुत्र हनुमान से उनकी भेंट हुई। उन्होंने सुग्रीव को बुलाकर इन दोनों से मेल कराया और मैत्री होने पर राम-लक्ष्मण ने अपना सब हाल उनसे कहा।

सुग्रीव ने राम के अधिक पराक्रमी होने में संदेह किया और बाली द्वारा मारे हुए दुंदुभि नामक राक्षस का देह राम को दिखाया। राम ने उस राक्षस के शरीर को बात की बात में बहुत दूर फेंक दिया। और अपने एक बाण से ताड़ के सात वृक्षों को गिरा कर सुग्रीव के संदेह की निवृत्ति की। इससे सुग्रीव को बड़ी प्रसन्नता हुई।

इसके पश्चात् श्रीराम सुग्रीव के नगर में पहुँचे। वहाँ सुग्रीव ने घोर गर्जना कर बाली को युद्ध के लिए ललकारा। तब बाली भी घोर गर्जना करता हुआ अपने घर से दौड़ा हुआ आया। उस समय युद्ध में बाली श्रीराम के द्वारा मारा गया और किष्किंधा की राजगद्दी पर सुग्रीव का अभिषेक हुआ ॥ ११—२४ ॥

आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत ।
ततस्ततार हनुमानब्धि लङ्कां समाययौ ॥२५

सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा पुरं दग्ध्वा तथा स्वयम् ।
आगत्य रामेण सह न्यवेदयत् तत्त्वतः ॥२६

तदा रामः क्रोधीरूपी तानाहूयाथ वानरान् ।
तैः सार्धमादायस्त्राणि पुरीं लंकां समाययौ ॥२७

तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्धं युद्धमकारयत् ।
घटश्रोत्रसहस्राक्षजिद्भ्यां युक्तं तमाहवे ॥२८

हत्वा विभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम् ।
आदायाङ्कस्थितां कृत्वा स्वपुरं तैर्जगाम सः ॥२९

ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजो रघुनन्दनः ।
धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरणभूषितः ॥३०

मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये वामे तेजः प्रकाशिनीम् ।
धृत्वा व्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः ॥३१

उदग्दक्षिणयोः स्वस्य शत्रुघ्नभरतौ ततः ।
हनूमन्तं च श्रोतारमग्रतः स्यान्त्रिकोणगम् ॥३२

भरताधस्तु सुग्रीवं शत्रुघ्नाधो विभीषणम् ।
पश्चिमे लक्ष्मणं तस्य धृतच्छत्रं सचामरम् ॥३३

तदधस्तौ तालवृन्तकरौ त्र्यस्रं पुनर्भवेत् ।
एवं षट्कोणमादौ स्वदीर्घाङ्गैरेष संयुतः ॥३४

द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्नेयादिषु संयुतः ।
तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥३५

विभीषणं लक्ष्मणं च अङ्गदं चारिमर्दनम् ।
जाम्बवन्तं च युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥३६

विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धन एव च ।
अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चैभिरावृतः ॥३७

ततः सहस्रदृग्वह्निर्धर्मज्ञो वरुणोऽनिलः ।
इन्द्वीशधात्रनन्ताश्च दशभिश्चैभिरावृतः ॥३८

बहिस्तदायुधैः पूज्यो नीलादिभिरलंकृतः ।
वसिष्ठवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥३९

इसके पश्चात् सुग्रीव ने अपने वानरों को बुलाकर कहा—वीरो ! तुम से कोई दिशा छिपी हुई नहीं है । अतः तुम शीघ्र ही यहाँ से जाकर श्री सीता जी की खोज करो । आज ही लौट कर इसकी सूचना भगवान श्रीराम को सुनाओ । फिर हनुमान जी समुद्र को लांघकर लङ्का में जा पहुंचे । वहाँ उन्होंने सीताजी को देखा और अनेक राक्षसों को मारकर लंका को जला डाला । फिर वे लौट-कर श्रीराम के समक्ष उपस्थित हुए और उनको सब समाचार सुनाया । उस समय श्रीराम को अत्यन्त क्रोधावेश हुआ और वानरों को साथ लेकर लङ्का की ओर चल पड़े । लंका पर आक्रमण करने के लिए उसका निरीक्षण किया गया और फिर युद्ध छिड़ गया । लङ्कापति रावण का भाई कुम्भकर्ण मारा गया । फिर इन्द्रजीत और रावण भी युद्ध में मारे गये । तब विभीषण को लङ्का का राज्य देकर श्रीराम ने सीता जी को अपने बामाङ्ग में प्रतिष्ठित किया और सब बानरों को साथ लेकर अयोध्या की ओर चल पड़े । भगवान् श्रीराम अयोध्या के राज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो गये । उन धनुर्धर राम का स्वभाव ही प्रसन्न रहने का है । वे सब प्रकार के अलंकारों से अलंकृत हैं । उनके दक्षिण हाथ में ज्ञानमयी मुद्रा और वाम हाथ में तेज को प्रकाशित करने वाली धनुर्मयी मुद्रा स्थित है । इस प्रकार द्विभुज रूपधारी श्रीराम स्वयं

व्याख्यान मुद्रा में स्थित हो रहे हैं। अब श्रीराम के उत्तर भाग में शत्रुघ्न और दक्षिण भाग में भरत हैं। हनुमान जी श्रीराम के सम्मुख करबद्ध खड़े हैं। यह भी त्रिकोण में स्थित हैं। भरत के नीचे की ओर सुग्रीव तथा शत्रुघ्न के नीचे की ओर विभीषण खड़े हुये हैं। श्रीराम के पीछे लक्ष्मण अपने हाथों में छत्र-चँवर लिए हुये बैठे है। भरत-शत्रुघ्न के हाथों में ताड़ के पंखे हैं। इस प्रकार लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न एक त्रिकोण का स्थिति में है। भगवान श्रीराम अपने बीजमन्त्र वाले दीर्घ अक्षरों के आवरण में घिरे बैठे है। भगवान राम के आग्नेय आदि दिशाओं की ओर वासुदेव, संकर्पण, शान्ति, श्री, सरस्वती, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और रति हैं। श्रीराम इनसे युक्त रहते हुये द्वितीय आवरण में घिरे है। भरत, शत्रुघ्न, लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान् और विभीषण जब श्रीराम के साथ होते हैं तब तृतीय आवरण होता है। राष्ट्रवर्द्धन, अकोप, सुराष्ट्र, धृष्टि, जयन्त, विजय, सुमन्त और धर्मपाल के सहित भी तीसरा आवरण ही सिद्ध होता है। तब ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, वायु, चन्द्रमा, निर्ऋति, अनन्त और ईशान इन दस दिक्पालों से श्रीराम के आवृत होने पर चतुर्थ आवरण बन जाता है। इन दिक्पालों के बाहरी भाग में इनके आयुध रहते हैं। इसी आवरण में नल आदि बानर भगवान् को सुशोभित करते हैं। उनके साथ ही वसिष्ठ और वामदेव आदि महर्षि भी श्रीराम की उपासना में लीन दिखाई देते है ॥२५-३९॥

एवमुद्देशतः प्रोक्तं निर्देशस्तस्य चाधुना।
त्रिरेखापुटमालिख्य मध्ये तारद्वयं लिखेत् ॥ ४०
तन्मध्ये बीजमालिख्य तदधः साध्यमालिखेत्।
द्वितीयान्तं च तस्योर्ध्वं षष्ठ्यन्तं साधकं तथा ॥ ४१

कुरु द्वयं च तत्पार्श्वे लिखेद्बीजान्तरे रमाम् ।
तत्सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टयेच्छुद्धबुद्धिमान् ।। ४२
दीर्घभाजि षडस्रे तु लिखेद्बीजं हृदादिभिः ।
कोणपार्श्वे रमामाये वदग्रेऽनङ्गमालिखेत् ।। ४३
क्रोध कोणाग्रान्तरेषु लिख्य मन्त्र्यभितो गिरम् ।
वृत्तत्रयं साष्टपत्रं सरोजे विलिखेत्स्वरान् ।। ४४
केसरे चाष्टपत्रे च वर्गाष्टकमथालिखेत् ।
तेषु मालामनोर्वर्णान्विलिखेदूर्मिसंख्यया ।। ४५
अन्ते पञ्चाक्षराण्येवं पुनरष्टदलं लिखेत् ।
तेषु नारायणाष्टार्णाल्लिख्य तत्केसरे रमाम् ।। ४६
तद्वहिर्द्वादशदलं विलिखेद्द्वादशाक्षरम् ।
अथोंनमो भगवते वासुदेवाय इत्ययम् ।। ४७

पूजा यन्त्र का संक्षिप्त वर्णन किया गया । अब उसका निर्देश करते हैं । सम रेखाओं के दो त्रिकोण बनाकर उनके बीच में पृथक्-पृथक् प्रणव लिखे, फिर उन दोनों के मध्य में आद्यबीज लिखे और उसके नीचे जो कार्य सिद्ध करना है, उसका उल्लेख करे । साध्य का नाम द्वितीयान्त हो और आद्यबीज के शीर्ष भाग में साधक का नाम षष्ठयन्त रहे । फिर बीज के इधर-उधर एक-एक कुरुपद का उल्लेख करे । बीज के मध्य भाग में तथा साध्य के ऊपर श्री लिखे । यह सब इस प्रकार लिखने चाहिये कि वे दोनों प्रणवों में सम्पुटित रहें । तत्पश्चात् छहों कोणों में दीर्घ स्वर वाले मूल बीज को उल्लिखित करे । फिर एक-एक के साथ हृदयाय नमः और शिर से स्वाहा लिखे । कोणों के बगल में श्रीं, ह्रीं, क्लीं लिखे और कोण के अगले भाग में हुम् और हुम् के दोनों ओर ऐं लिखना चाहिये । इसके पश्चात् तीन वृत्त बनाकर वृत्तों के साथ

ही आठ दल वाला कमल बनावे। कमल की केसर में दो-दो अक्षर के क्रमपूर्वक सब स्वर वर्णों को लिखना चाहिए। कमल के आठ दलों में छः छः वर्ण के क्रम से उल्लेख करे। माला-मन्त्र के सैंतालीस वर्ण पूरे करने के लिए आठवें दल में पांच वर्ण ही रह जायेंगे। ऊपर बताये ढङ्ग से पुनः एक कमल बनाकर उसकी आठों पंखुड़ियों पर 'ॐ नमो नारायण' मन्त्र के एक-एक अक्षर को लिखे, उसके केसर में श्री लिखे। उसके ऊपर बारह पंखड़ियों का कमल बनाकर उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर द्वादशाक्षर मन्त्र का एक-एक अक्षर लिखना चाहिए ॥४०-४७॥

आदिक्षान्तान्केसरेषु वृत्ताकारेण संलिखेत्।
तद्बहिः षोडशदलं लिख्य तत्केसरे ह्रियप्र।
वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं दलेषु द्वादशाखरम्।
तत्सन्धिष्विरजादीनां मन्त्रान्मन्त्री समालिखेत् ॥ ४९
ह्रं स्रं भ्रं व्रं लूमँ श्रं ज्रं च लिखेत्सम्यक्ततो बहिः।
द्वात्रिंशारं महापद्मं नादबिन्दुसमायुतम् ॥ ५०
विलिखेन्मन्त्रराजार्णास्तेषु दात्रेषु यत्नतः।
ध्यायेदष्टवसूनेकादशरुद्रांश्च तत्र वै ॥ ५१
द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं च तद्बहिः।
भूगृहं वज्रशूलाढ्यं रेखात्रयसमन्वितम् ॥ ५२
द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं फणिसंयुतम्।
अनन्तो वासुकिश्चैव तक्षः कर्कोपद्मकः ॥ ५३
महापद्मश्च शङ्खश्च गुलिकोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।
एवं मण्डलमालिख्य तस्य दिक्षु विदिक्षु च ॥ ५४

नारसिंहं च वाराहं लिखेन्मन्त्रद्वयं तथा ।
कूटो रेफानुग्रहेन्दुनादशक्त्यादिभिर्युतः ॥ ५५
यो नृसिंहः समाख्यातो ग्रहमारणकर्मणि ।
अन्त्याङ्घ्रीशवियद्बिन्दुनादैर्बीजं च सौकरम् ॥ ५६
हुंकारं चात्र रोमस्य मालामन्त्रोऽधुनेरितः ।
तारो नतिश्च निद्रायाः स्मृतिर्भेदश्च कामिका ॥ ५७
रुद्रेण संयुता वह्निर्मेधामरविभूषिता ।
दीर्घाक्रूरयुता ह्लादिन्यथो दीर्घसमायुता ॥ ५८
क्षुधा क्रोधिन्यमोघा च विश्वमप्यथ मेधया ।
युक्ता दोर्घज्वालिनी च सुसूक्ष्मा मृत्युरूपिणी ॥ ५६
सप्रतिष्ठा ह्लादिनी त्वक्क्ष्वेलप्रीतिश्च सामरा ।
ज्योतिस्तीक्ष्णाग्निसंयुक्ता श्व तानुस्वारसयुताः ॥ ६०
कामिकापञ्चमूलान्तस्तान्तान्तो थान्त इत्यथ ।
स सानन्तो दीर्घयुतो वायुः सूक्ष्मयुतो विषः ॥ ६१
कामिका कामका रुद्रयुक्ताथोऽथ स्थिरातपा ।
तापनी दीर्घयुक्ता भूरनलोऽनन्तगोऽनिलः ॥ ६१
नारायणात्मकः कालः प्राणाभो विद्यया युतः ।
पीताराातिस्तथा लान्तो योन्या युक्तस्ततो नतिः ॥ ६३
सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः स्पृङ्मनुः स्वयम् ।
राज्याभिषिक्तस्य तस्य रामस्योक्तक्रमाल्लिखेत् ॥ ६४
इदं सर्वात्मकं यन्त्रं प्रागुक्तमृषिसेवितम् ।
सेवकानां मोक्षकरमायुरारोग्यवर्धनम् ॥ ६५

अपुत्राणां पुत्रदं च बहुना किमनेन वै ।
प्राप्नुवन्ति क्षणात्सम्यगत्र धर्मादिकानपि ।। ६६
इदं रहस्यं परममीश्वरेणापि दुर्गमम् ।
इदं यन्त्रं समाख्यातं न देयं प्राकृते जने ।। ६७ ।। इति ।।

बारह पंखुड़ी वाले कमल की केसरों में 'अ' से 'क्ष' तक के वर्ण वृत्ताकार में लिखे । उसके बाहरी भाग में फिर सोलह पंखुड़ियों का कमल बनाकर, केसरों में ह्रीं अङ्कित करे । उसकी सोलह पंखुड़ियों में एक-एक पर एक-एक अक्षर के कम से 'हूं' 'फट्' 'नमः' और द्वादशाक्षर मन्त्र लिखना चाहिये । पंखुड़ियों की संधियों में हनुमान जैसे वीर पुरुषों के बीज मन्त्र लिखे । उसके बाहरी भाग में नाद बिन्दु से युक्त बत्तीस पंखुड़ियों का एक विशाल कमल बनावे । पंखुड़ियों पर नरसिंह मन्त्रराज के बत्तीस अक्षरों को क्रमपूर्वक लिखे । उन पंखुड़ियों में ही आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य और सबके धारक वषट्कार का न्यास एवं ध्यान करना चाहिये । इस बत्तीस पंखुड़ियों वाले कमल के बाहरी भाग में भूपुर यन्त्र बनावे और उसके चारों ओर वज्र तथा कोणों में शूल अंकित करे । भूपुर को तीन रेखाओं से मिलावे, यह रेखायें सत्य, रज, तमगुणों की सूचक हैं । मण्डप में बने द्वार के समान इसमें भी द्वार बनाना चाहिये । भूपुर में राशि आदि बनाकर भूपुर यन्त्र को शेष भाग से युक्त करना चाहिये ।

भूपुर यन्त्र-लेखन के पश्चात् उसकी चारों दिशाओं में नरसिंह बीजमन्त्र और कोणों में बारह बीज मन्त्र लिखना चाहिये । अनुग्रह, इन्दु, नाद, शक्ति आदि से युक्ता क्ष्रौं मन्त्र ही नरसिंह बीज मन्त्र हैं । यह मन्त्र शत्रुओं का नाश करने, ग्रह बाधाओं को शान्त करने और इच्छित सिद्धि प्राप्त कराने वाला है । अन्त्य वर्ण, अर्घीश, बिन्दु, नाद

और शक्ति आदि से सम्पन्न 'हुम्' वाराह बीज-मन्त्र हैं। अब श्रीराम विषयक माला-मन्त्र को कहेंगे। इसमें प्रथम प्रणव, फिर नमः, निद्रा, स्मृति, मेद और कामिका है जो रुद्र से युक्त है, फिर अमर से अलंकृत अग्नि और मेधा कामिका है जो रुद्र से युक्त है, फिर अमर से अलकृत अग्नि और मेधा है। फिर अक्रूर से युक्त दीर्घ कला है। फिर ह्लादिनी है और इसके बाद मानदा कला से विभूषित दीर्घ कला है, फिर क्षुधा है। यहाँ तक कि 'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय' बन गया। इसके पश्चात् क्रोधिनी, अमोघा और मेधा से युक्त विश्व है। फिर दीर्घा है, ज्वालिनी सूक्ष्म से संयुक्त है। फिर प्रतिष्ठा से युक्त प्रणवकला है। फिर ह्लादिनी और त्वक् है। यहां तक 'रक्षोघ्नविशदाय' की पूर्ति हुई। फिर क्ष्वेल, प्रीति, अमर, ज्योति, अग्नि से युक्त तीक्ष्णा, अनुस्वार से युक्त श्वेता, फिर कामिका, व, द और अनन्त से युक्त न, दीर्घ स्वर युक्त वायु, सूक्ष्म इकार युक्त विष, कामिका, कामिका में रुद्र, स्थिरा और ए की मात्रा युक्त स है। इससे 'मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे' बन गया। फिर तापिनी, दीर्घ भू, अनिल से 'बलाय' बना। फिर अनन्तग अनल, नारायणात्मक मकार और प्राण से 'रामाय' सिद्ध हुआ, विद्यामय अम्भस्, पीता, रति, ए की मात्रा युक्त व है, इससे विष्णवे बना। अन्त में नमः और प्रणव है। यह सैंतालीस अक्षरों वाला राज्याभिषिक्त श्रीराम से सम्बन्धित माला-मन्त्र है। सगुण होते हुए भी यह साधकों के तीनों गुणों को नष्ट करने वाला है। यह मन्त्र पूर्वोक्त क्रम-पूर्वक ही लिखा जाना चाहिये। उपरोक्त मन्त्र सर्वात्मक है। इसे प्राचीन कालीन विद्वानों ने बताया और अनेक ऋषि मुनियों ने इसके द्वारा साधना की है। इसके सेवन करने वाले साधकों को आरोग्य की प्राप्ति तथा आयु वृद्धि होती है और अन्त में वे इस संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। यह साधन पुत्रहीनों को पुत्र प्राप्त कराने वाला

है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि सभी अभीष्टों की इससे पूर्ति होती है। इसका साधन करने वाले जन शीघ्र ही अपना इच्छित प्राप्त करते हैं। यह रहस्य अत्यन्त गोपनीय है, परन्तु विना दीक्षा के अत्यन्त समर्थ विद्वान के लिये भी कठिन है। अनाधिकारी पुरुषों को इसका कभी उपदेश न करे ॥४८-६७॥

ॐ भूतादिकं शोधयेद्द्वारपूजां
कृत्वा पद्माद्यासनस्थः प्रसन्नः।
अर्चाविधावस्य पीठाधरोर्ध्वपार्श्वार्चनं
मध्यपद्मार्चनं च ॥ १

कृत्वा मृदुश्लक्ष्णसुतूलिकायां
रत्नासने देशिकमर्चयित्वा।
शक्तिं चाधारव्यकां कूर्मनागौ
पृथिव्यब्जे स्वासनाधः प्रकल्प्य ॥ २
विघ्नेशं दुर्गां क्षेत्रपालं च वाणीं
बीजादि कांश्चाग्निदेशादिकांश्च।
पीठस्याङ्घ्रिष्वेव धर्मादिकांश्च
नत्वा पूर्वाद्यासु दिक्ष्वर्चयेच्च ॥ ३
मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नितेजांस्यु-
पर्युपर्यादिमैरर्चितानि।
रजः सत्त्व तम एतानि वृत्तत्रयं
बीजाढ्यं क्रमाद्भावयेच्च ॥ ४
आशाव्याशास्वप्यथात्मानमन्तरात्मानं
वा परमात्मानमन्तः।
ज्ञानात्मानं चार्चयेत्तस्य दिक्षु
मायाविद्ये ये कलापारतत्वे ॥ ५

संपूजयेद्विमलादींश्च शक्तीरभ्यर्चयेद्देवमावाहयेच्च ।
अङ्गव्यूहानिलजाद्यैश्च पूज्य घृष्ट्यादिकैर्लोकपालैस्तदस्त्रैः
॥ ६ ॥

वसिष्ठाद्यं र्मुनिभिर्नीलमुख्यैराराधयेद्राघवं चन्दनाद्यैः ॥
मुख्योपहारैर्विविधैश्च पूज्यैस्तस्मै जपादींश्च सम्यक्प्रकल्प्य
॥ ७ ॥

एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम् ।
गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं स योध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः
॥ ८ ॥

विश्वव्यापी राघवो यस्तदानीमन्तर्दधे
शंखचक्रे गदाब्जे ।
धृत्वा रमासहितः सानुजश्च
सपत्तनः सानुगः सर्वलोकी ॥ ९
तद्भक्ता ये लब्धकामांश्च भुक्त्वा
तथा पदं परमं यान्ति ते च ।
इमा ऋचः सर्वकामार्थदाश्च
ये ते पठन्त्यमला यान्ति मोक्षम् ॥ १०

इति पंचमोपनिषत् । चिन्मयेऽस्मिस्त्रयोदश । स्वभूर्ज्योतिस्तिस्त्रः । सीतारामावेका । जीववाची षट्षष्टिः । भूतादिकमेकादश । पंचखण्डेषु त्रिनवतिः ॥ इति ॥

द्वारपूजा करके पद्मासन या अन्य आसन लगावे और पंचभूत की शुद्धि करे । श्रीराम की पूजा-विधि में सिंहासन की पीठ की निचला

भाग, ऊपर का भाग, अगल-वगल भी पूजन किया जाता है। पीठ के ऊपर बीच में स्थित आठ दल वाले कमल को भी पूजे। रत्न जटित सिंहासन पर कोमल और चिकनी गद्दी की भावना कर उस पर ईश्वर रूप आचार्य की पूजा करे। पीठ के निचले भाग में, उपास्यदेव के आसन के नीचे आश्रयशक्ति, कूर्म, नाग और पृथ्वीयुक्त दो कमलों की भावना कर, उन सब का पूजन करे।

विघ्न, दुर्गा, क्षेत्रपाल और वाणी के साथ आदि में बीज लगाकर नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति लगाकर पूजा करे। फिर पीठ के पायों में धर्म, अर्थ, काम, कोक्ष का अग्नि कोण आदि में पूजन कर अधर्म, अनर्थ, अकाम और असोक्ष को भी पूर्वादि दिशाओं में पूजे। फिर पीठ के ऊपर के मध्य भाग में सूर्य, चन्द्र, अग्नि का पूजन करे। यन्त्र स्थित सत्व, रज तम के प्रतीक बीज सहित तीन वृत्तों का भी चिन्तन एवं पूजन करे।

फिर दिशाओं और कोणों में बने हुये कमल के आठ दलों का पूजन करे। इनमें जो दल मध्य स्थित दिशा में है, उनमें आग्नेयकोण से क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा की पूजा करे। पूर्वादि दिशाओं में माया, विद्या, कला और पर इन तत्वों को पूजे। फिर विमला आदि शक्तियों को पूजे। फिर मुख्य देवता का आह्वान और अर्चन करे। फिर अङ्गव्यूहों का पूजन करे और धृष्टि आदि लोकपाल और उनके अस्त्र, वशिष्ठ आदि मुनि फिर नील आदि के साथ चन्दन आदि विभिन्न लेपनों और अलंकारों आदि के द्वारा श्रीराम का पूजन कर जप आदि समर्पित करे। "संसार के आश्रयभूत, गदा, चक्र, शंख, पद्मधारी भव-बन्ध के काटने वाले सच्चिदानन्द स्वरूप और अत्यन्त महिमावान हैं उन परमेश्वर श्रीराम को मैं नमस्कार करता हूं।" इस प्रकार उनकी स्तुति करे। जो उपासक ऐसा करते हैं, वे मोक्ष को अवश्य प्राप्त करते हैं।

लीला-संवरण-काल में ही श्रीराम देह सहित अन्तर्ध्यान हो गए। उनके आयुध भी साथ ही अन्तर्ध्यान हो गये। वे अपने स्वाभाविक रूप को धारण कर सीता सहित परधाम में पहुँच गये। उनके साथ ही उनका सब परिवार, प्रजाजन, विभीषण आदि भी परमधाम में गए। उनके भक्त इच्छित भोगों को प्राप्त करते हैं और उनका उपभोग कर अन्त में परमपद प्राप्त करते हैं। यह ऋचायें सम्पूर्ण अभीष्टों और अर्थों की देने वाली हैं। इनका पाठ करने वाले भक्तजन पवित्र अन्तःकरण वाले होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १–१० ॥

॥ रामपूर्वतापिन्युपनिषद् समाप्त ॥

—:o:—

गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्तिः नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्ति पाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़ देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हरिः ॐ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरुवे बुद्धिसाक्षिणे ।।

मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः । कः परमो देवः । कुतो मृत्युर्बिभेति । कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति । केनेदं विश्वं संसरतीति । तदुहोवाच ब्राह्मणः । कृष्णो वै परमं दैवतम् । गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति । गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति । स्वाहेदं विश्वं संसरतीति । तदुहोचुः । कः कृष्णः । गोविन्दश्च कोऽसाविति । गोपीजनवल्लभश्च कः । का स्वाहेति । तानुवाच ब्राह्मणः । पापकर्षणो गोभूमिवेदवेदितो गोपीजनविद्याकलाप-

प्रेरकः । तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत् । यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति । ते होचुः । किं तद्रूपं किं रसनं किमाहो तद्भजनं तत्सर्वं विविदिषतामाख्याहीति । तदुहोवाच हैरण्यो गोपवेषमभ्राभं कल्पद्रुमाश्रितम् । तदिह श्लोका भवन्ति ॥ सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥ १ ॥ गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम् । दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥ २ ॥ कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् । चिन्तयञ्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥ ३ ॥

सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर श्रीकृष्ण के नाम में 'कृष' शब्द सत्ता-वाचक और 'न' शब्द आनन्दबोधक है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण अनायास ही सब कुछ कर सकने में समर्थ हैं, सब की बुद्धि के साक्षी और सब के जानने योग्य है। वे सम्पूर्ण विश्व के गुरु हैं। उनके लिये नमस्कार हो।

एक समय मुनियों ने ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि "भगवन्! कौन देवता सर्वश्रेष्ठ है? मृत्यु किससे भय मानती है? किसके तत्त्व को भले प्रकार जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है? यह जगत किसकी प्रेरणा से आवागमन के चक्र में घूमता है?"

ब्रह्माजी ने मुनियों को उत्तर दिया—"सर्वश्रेष्ठ देवता श्रीकृष्ण हैं, वही गोविन्द हैं, उनसे मृत्यु भी भयभीत रहती है। उन गोपीजन-वल्लभ के तत्व को जो कोई जान लेता है, उसे अनजाना कुछ नहीं रहता। स्वाहा रूप माया की प्रेरणा से यह सम्पूर्ण जगत आवागमन के चक्र में पड़ा घूम रहा है।"

तब उन मुनियों ने पुनः प्रश्न किया—"यह श्रीकृष्ण कौन हैं ? गोविन्द कौन हैं ? गोपीजन-वल्लभ कौन हैं ? स्वाहा कौन है ? यह सब कृपाकर हमें बतावें।"

ब्रह्माजी बोले—"श्रीकृष्ण पापों का अपकर्षण करने वाले हैं। वही गोविन्द नाम से गौ, भूमि तथा वेदवाणी के जानने हारे के रूप में प्रसिद्ध हैं। गोपीजन-वल्लभ अविद्या के निवारक और अन्तरङ्ग शक्ति-रूप ब्रज-वनिताओं में सब ज्ञानमयी विद्याओं और चौंसठ कलाओं का ज्ञान भरने वाले हैं। इनकी माया शक्ति स्वाहा है। यह सब परमेश्वर के ही रूप हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण नाम से परब्रह्म ही प्रसिद्ध हुये हैं। जो मनुष्य उनके इस रूप का ध्यान करता है तथा उनके अमृतत्व को प्राप्त कराने वाले नामों को जपता है, या उनका भजन करता अथवा गुणानुवाद गाता है यह अवश्य ही अमृतत्व को प्राप्त करता है।

तब उन मुनियों ने पुनः पूछा—"ध्यान करने के योग्य श्रीकृष्ण का कैसा रूप है ? उनके नाम रूप अमृत का रस किस प्रकार चाखा जा सकता है ? उनका भजन किस प्रकार होता है ? हमें यह सब बात स्पष्ट बताइये।"

ब्रह्माजी ने बताया कि "भगवान के जिस रूप का ध्यान करना चाहिये उसका वेष ग्वाल-बाल जैसा है। उनका वर्ण नवीन जलधर के तुल्य श्याम है, किशोर अवस्था है और दिव्य कल्पतरु के नीचे वे विराजमान हैं। उनका सौन्दर्य अपूर्व है और गोप तथा गोपियों से चारों ओर से घिरे हैं। जमुना जल की लहरों के स्पर्श से शीतल वायु भगवान की सेवा कर रही है। ऐसे रूप का चिन्तन करने वाला भव-बन्धन से छुटकारा पा जाता है" ॥ १—३ ॥

तस्य पुना रसनमितिजलभूमिं तु संपाताः। कामादि कृष्णायेत्येकं पदम् ॥ गोविन्दायेति द्वितीयम्। गोपीजनेति तृती-

यम् । वल्लभेति तुरीयम् । स्वाहेति पञ्चममिति पञ्चपदं जपन्पञ्चाङ्गं द्यावाभूमी सूर्याचन्द्रमसौ तद्रूपतया ब्रह्म संपद्यत इति । तदेष श्लोकः क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभायेति बृहन्मानव्यासकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्क्षु नान्या गति स्यादिति । भक्तिरस्य भजनम् । एतदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनम् । एतदेव च नैष्कर्म्यम् । कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति । गोविन्दं सन्तं बहुधा आराधयन्ति । गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्रे स्वाहाश्रितो जगदेतत्सुरेताः ॥ १ ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्येजन्ये पञ्चरूपो बभूव । कृष्णस्तदेकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभाति ॥ २ ॥ इति ॥

ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति । तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं तदन्तराधिकानलास्रयुगं तदन्तरालद्यर्णाखिलबीजं कृष्णाय नम इति बीजाढ्यं सब्रह्मा ब्राह्मणमादायानङ्गगायत्रीं यथावदालिख्य भूमण्डलं शूलवेष्टितं कृत्वाङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्ति नन्दादिवसुदेवादिपार्थादिनिध्यादिवीतं यजेत्संध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारः । तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भवतीति ॥ २ ॥ तदिह श्लोका भवन्ति । एको वशी सर्वगः कृष्णः ईड्य एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति । तं पीठं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ३ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कमान् । तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात् । तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदेव ॥ ५ ॥

क्लीं काम बीज है । जो उपासक इसे आदि में रखकर कृष्णाय

गोविन्दाय, गोपीजन वल्लभाय इन तीनों पदों का स्वाहा सहित उच्चारण करेगा, वह शीघ्र ही श्रीकृष्ण से मिलकर मुक्ति को प्राप्त होगा। इसके लिए इससे भिन्न कोई गति नहीं समझनी चाहिये। इनकी भक्ति करना ही भजन माना गया है। भजन करना उसे कहते हैं, जिसमें साधक अपने भोगों की इच्छा को पूर्ण रूप से त्याग कर अपने मन और इन्द्रियों को उन्हीं में समर्पित कर देता है। इसी को वास्तविक संन्यास कहा गया है। वेद के ज्ञाता ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्ण का अनेक प्रकार से यजन करते तथा भक्तजन गोविन्द नाम से उनकी उपासना करते हैं। सम्पूर्ण संसार का पालन करने वाले वे ही गोपीजन-वल्लभ हैं, जिन्होंने अपनी स्वाहा नाम वाली माया शक्ति के द्वारा इस विश्व की रचना की। जैसे सम्पूर्ण संसार में एक ही वायु-तत्त्व है, परन्तु वह प्रत्येक शरीर में प्राण आदि पाँच रूपों में रमा हुआ है, वैसे ही भगवान श्रीकृष्ण भी एक ही हैं, परन्तु इस मन्त्र में ये पाँच नामों वाले जान पड़ते हैं। इस मन्त्र में कहे हुए पाँचों नाम एक ही श्रीकृष्ण का प्रतिपादन करने वाले हैं।

फिर उन मुनियों ने पूछा—"विश्व के आधारभूत भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना किस प्रकार होती है, कृपा पूर्वक इसका वर्णन कीजिये।"

तब श्री ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण की पीठ का वर्णन किया और बोले—"पीठ पर सुवर्णयुक्त एक कमल बनावे, उसमें आठ पंखुड़ियाँ हों, उसके बीच में दो त्रिकोण अंकित करे, वे परस्पर सम्पुटित हों। ऐस छः कोण बनावे। कोणों में स्थित कर्णिका में सभी अभीष्टों को पूर्ण करने वाले काम-बीज का अंकन करे। फिर हरेक कोण में क्लीं बीज युक्त 'कृष्णायनमः' को क्रमशः एक-एक अक्षर करके लिखे। फिर ब्रह्म-मन्त्र और काम-गायत्री विधिपूर्वक लिख कर

आठ वज्रों से आवेष्ठित पृथिवी मण्डल बनावे। फिर अङ्ग, वासुदेव, रुक्मिणी, इन्द्र, वसुदेव, पार्थ और निधि आदि अष्टावरणों से घेर कर उसका पूजन करना चाहिये।

तीनों संध्याओं के समय षोडश उपचारों द्वारा उक्त आवरणों वाले श्रीकृष्ण की पूजा करे। ऐसा करने से साधक चारों पदार्थों को प्राप्त करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी, सब पर शासन करने वाले हैं, वे सदा स्तुति के योग्य हैं। एक होकर भी वे अनेक रूपों में दिखाई देते हैं। जो ज्ञानी भक्त ऊपर कही हुई पीठ पर प्रतिष्ठित भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य प्रति पूजा करते हैं, उन्हें स्थाई सुख की प्राप्ति होती है।

जो श्रीकृष्ण सब साधकों का अभीष्ट पूर्ण करते हैं, जो नित्य में भी नित्य और चैतन्यों में भी चैतन्य हैं, उन्हें पहले कही हुई पीठ में प्रतिष्ठित करे। जो इस प्रकार उनका अर्चन करते हैं वे परम सिद्धि के अधिकारी होते हैं।

जो भगवान् विष्णु के परमपद रूप इस मन्त्र को नित्य प्रति उत्साह सहित विधिपूर्वक पूजते हैं और भगवत्-प्राप्ति के सिवाय अन्य किसी वस्तु को नहीं चाहते, उनके लिये गोपस्वरूप श्रीकृष्ण अपने परमपद को शीघ्र ही प्रकाशित कर देते हैं॥ १—५ ॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यां तस्मै गोपयति स्म कृष्णः। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः शरणं व्रजेत् ॥ ६ ॥ ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम्। तेषा-मसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥ ७ ॥ एतस्मा एव पञ्चपदादभूवन्गोविन्दस्य मनवो मानवानाम्।

दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावात् ॥८॥

जो सृष्टि के पूर्व काल में ब्रह्माजी उत्पन्न कर उन्हें वेद ज्ञान देते और उनसे साम-गान कराते हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियों को बुद्धि रूप प्रकाश प्रदान करते हैं, मुमुक्षु व्यक्ति उन्ही भगवान् श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त करे।

भगवान गोविन्द के पञ्चपदी मन्त्र की ओंकार सम्पुट कर जप करने वाले साधक शीघ्र ही उनके दर्शन करते हैं। इसलिये भव-बन्धन से मुक्त होने की कामना करने वाले साधक को नित्य शांति की प्राप्ति के लिये उक्त मन्त्र का ही जप करना चाहिये।

इस पञ्चपदी मन्त्र से ही दशाक्षर आदि अन्य मन्त्र भी प्रकट हुए हैं। वे सभी मन्त्र मानव का कल्याण करने वाले है। उन मन्त्रों का भी ऐश्वर्य-कामना वाले इन्द्रादि देव विधिपूर्वक सदा जप करते रहते हैं ॥६—८॥

ते पप्रच्छुस्तदुहोवाच ब्रह्मसदनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः परमेश्वरः परार्धान्ते सोऽबुध्यत । कोपदेष्टा मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव । ततः प्रणतो मायानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णस्वरूपं सृष्टये दत्त्वान्तर्हितः । पुनस्ते सिसृक्षतो मे प्रादुरभूवन् । तेष्वक्षरेषु विभज्य भविष्यज्जगद्रूपं प्रकाशयम् । तदिह कादाकालात्पृथिवीतोऽग्निर्बिन्दोरिन्दुस्तत्संपातात्तदर्क इति । क्लींकारादजस्रं कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात्सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति । तदुत्तरात्स्त्रीपुंसादिभेदं सकलमिदं सकलमिदमिति ॥ ३ ॥ एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयति । ओंकारालिकं मनुमावर्तयेत् । सङ्गरहितोऽभ्यानयत् । तद्विष्णोः

परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तस्मादेतंन्नित्यमावर्तयेन्नित्यमावर्तयेदिति ॥४॥ तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भूमिर्मिद्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदाद्य जश्चतुर्थपदाद्वायुश्चरमपादाद्व्योमेति। वैष्णवं पञ्चव्याहृतिमयं मन्त्रं कृष्णावभासकं कैवल्यस्य सृत्यै सततमावर्तयेत्सततमावर्तयेदिति ॥ ५ ॥ तदत्र गाथाः ॥ यस्य चाद्यपदाद्भूमिर्द्वितीयात्सलिलोद्भवः । तृतीयाः त्तेज उद्भूतं चतुर्थागन्धवाहनः ॥ १ ॥ पञ्चमादम्वरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत्। चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम् ॥ २॥ ततो विशुद्धं विमल विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्। यत्तत्पदं पञ्चपद तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥ ३ ॥ तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपद वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं । सततं मरुद्गणोऽह परमया स्तुत्या स्तोष्यामि ॥

ब्रह्माजी ने कहा—जव मेरी परार्ध आयु भगवान की स्तुति करते वीत गई तो मुझे गोप वेपधारी भगवान का दर्शन प्राप्त हुआ। उन्होंने मुझे अष्टद्वशाक्षर मन्त्र का उपदेश देकर सृष्टि रचना की प्रेरणा की। मैंने इस मन्त्र के 'क' अक्षर से जल की, 'ल' से पृथ्वी की, 'ई' से अग्नि की, अनुस्वार से चन्द्रमा की और समग्र 'क्लीं' से सूर्य की रचना की। मन्त्र के द्वितीय पद 'कृष्णाय' से आकाश और वायु की, 'गोविन्दाय' से कामधेनु और वेदों की तथा 'गोपीजन वल्लभाय' से पुरुप-स्त्री की रचना की। अन्त के स्वाहा' पद से चराचर जगत को उत्पन्न किया। इस अष्टाक्षर मन्त्र से ही प्राचीन समय में चन्द्रध्वज राजा मोहरहित होकर पूर्ण आत्मज्ञान के अधिकारी वने थे। भगवान कृष्ण के गोलोकधाम की प्राप्ति इसी मन्त्र से होती है।

वह जो परम विशुद्ध, विमल, शोक रहित, आसक्ति और

वासना से पृथक गोलोक धाम है वह इस मन्त्र से अभिन्न है। यह मन्त्र साक्षात वासुदेव स्वरूप ही है। उनकी स्तुति निम्न श्लोकों से करनी चाहिये।

ॐ नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे। विश्वेश्वराय विश्वाय गोविंदाय नमोनमः ॥ १ ॥ नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे। कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमोनमः ॥ २ ॥ नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने। नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः ॥ ३ ॥ वर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे। रमामानसहंसाय गोविंदाय नमोनमः ॥ ४ ॥ कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने। वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥५॥ वेणुनादविनोदाय, गोपालाहिमर्दिने। कालिन्दीकूललोलाय, लोलकुण्डलधारिणे ॥ ६ ॥ वल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने। नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमोनमः ॥७॥ नमः पापप्रणाशाय गोवर्धनधराय च। पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तासुहारिणे ॥ ८ ॥ निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे। अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमोनमः ॥ ९ ॥ प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर। आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥ १० ॥ श्रीकृष्ण रुक्मिणीकांत गोपीजनमनोहर। संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥११॥ केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन। गोविंद परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥ १२ ॥ अथैवं स्तुतिभिराधयामि। तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः श्रीकृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति होवाच हैरण्यगर्भः। अमुं पञ्चपदं मनुमावर्तयेद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्पदं तत्। अनेजदेकं मनसो जवीयो नैन द्देवा अप्नुवन्पूर्वमर्षदिति। तस्मात्कृष्ण एव परमो देवस्तं ध्यायेत्। तं रसयेत्। तं यजेत्। तं यजेत्। तं भजेत्। ओं तत्सदित्युपनिषत् ॥ तत्सत् ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! जिस प्रकार मैं इन स्तुतियों को करता हूँ, उसी प्रकार तुम भी इस मन्त्र द्वारा श्रीकृष्ण की आरधना करके संसार समुद्र से तर जाओगे। इस जप को करने वाला भगवान के परमपद को प्राप्त हो जाता है। देवता (वाणी आदि) वहाँ तक कभी नहीं पहुंच सकते। इसलिये सदैव भगवान कृष्ण का ही ध्यान करे, मन्त्र-जप द्वारा उनके नामामृत का रसास्वादन करे तथा नित्य उन्हीं का भजन करे—उन्हीं का भजन करे।

॥ गोपालपूर्वतापनी उपनिषद् समाप्त ॥

—:०:—

कृष्णोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिःश्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुः वांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्ता-र्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ।

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति, शांति, शांति ।।

हरिः ॐ श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः । तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति । भवा-न्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ अन्ये येऽव-तारास्ते हि गोपा न स्त्रीश्च नो कुरु ।

अन्योन्यविग्रहं धार्यं तवाङ्गस्पर्शनादिह ।
शश्वत्स्पर्शयितास्माकं गृह्णीमोऽवतान्वयम् ।।१
रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्स्वयम् ।

अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम् ।।२

श्रीकृष्ण के अवतार ग्रहण करने से पहिले की बात है। जब भगवान् ने देवताओं को पृथिवी पर अवतीर्ण होने की आज्ञा दी, तब सम्पूर्ण देवताओं ने भगवान् से कहा—'प्रभो ! हम देवता होकर पृथिवी पर जन्म ग्रहण करें, यह हमारे लिए शोभा की बात कदापि नहीं होगी। हम स्वेच्छा से तो पृथिवी पर जन्म नहीं ले सकते, परन्तु आपकी आज्ञा के कारण हमें वहाँ जन्म लेना ही होगा। फिर भी प्रभो ! हमें गोपों और स्त्रियों के रूप में वहाँ जन्म देना। आपके अङ्ग-स्पर्श से वञ्चित रह कर हम कहीं नहीं रहना चाहते। यदि आपकी समीपता से दूर करने के लिये हमें मनुष्य बनना पड़े तो हम ऐसे मनुष्य-जन्म को कभी स्वीकार न करेंगे। यदि वहाँ आपके सान्निध्य का और अङ्ग-स्पर्श का अवसर मिलता रहे तो हम पृथिवी पर जन्म लेने के लिये प्रस्तुत हैं।' देवताओं के ऐसे प्रेम-पूर्ण वचनों को सुनकर भगवान् बोले—'देवगण ! तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी और मनुष्य जन्म में तुम्हें मेरे अङ्ग-स्पर्श का अवसर मिलता रहेगा' ।। १—२ ।।

मोदितास्ते सुराः सर्वे कृतकृत्याधुना वयम् ।
यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी ।।३

माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी ।
प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी ।।४

तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्य दाहृता ।
अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा ।।५

देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते ।
निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ।।६

स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले ।
वने वृन्दावने क्रीडन्गोपगोपीसुरैः सह ॥७

गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः ।
वंशस्तु भगवान्रुद्रः श्रृंगमिन्द्रः सगोसुरः ॥८

गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः ।
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः ॥९

भगवान् द्वारा प्राप्त इस आश्वासन से सब देवता अत्यन्त प्रसन्न हुये और परस्पर कहने लगे—'अब हम धन्य हो गये'। फिर सब देवता भगवान् की सेवा के लिये अवतीर्ण हुए। नन्द के रूप में भगवान् का परम आनन्दमय अंश उत्पन्न हुआ। यशोदा के रूप में मुक्ति देवी प्रकट हुई। तीन प्रकार की माया कही गई है—सात्विकी, राजसी और तामसी। रुद्र भगवान में सात्विकी माया है, ब्रह्माजी में राजसी और दैत्यों में तामसी माया समाविष्ट हुई है। इस त्रिविध माया से भिन्न जो वैष्णवी माया है, उस पर विजय प्राप्त करना नितान्त असम्भव है। जिस ब्रह्ममयी वैष्णवी माया को प्राचीन काल में ब्रह्माजी भी नहीं जीत सके, उसकी देवगण स्तुति करते हैं। वही वैष्णवी माया देवकी के रूप में अवतीर्ण हुई। जो वेद नारायण के स्वरूप की सदैव स्तुति करते हैं, वे ही वसुदेव हुए। वेदों के अर्थभूत ब्रह्म ही इस पृथिवी पर बलराम और कृष्ण के रूप में प्रकट हुये। वही वेदार्थ साक्षात् रूप में, वृन्दावन में गोप-गोपिकाओं के साथ क्रीड़ा करता है। उन श्रीकृष्ण की गौऐं और गोपिकाऐं वेदों की ऋचाऐं हैं। लकड़ी का रूप ब्रह्मा ने और वंशी का रूप रुद्र ने धारण किया है। इन्द्र सींगा बन गये। इस प्रकार गोकुल के रूप में साक्षात् बैकुण्ठ ही उपस्थित हो गया। वहाँ तपस्वी महात्माओं ने वृक्षों का रूप धारण किया है और लोभ-क्रोधादि

विकार ही दैत्य हो गए हैं। वे कलिकाल में भगवान् का नाम लेने मात्र से नाश को प्राप्त होते हैं ॥३—६॥

गोपरूपी हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः।
दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहित जगत् ॥१०
दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्घृष्टिरूपो भवेद्द्विजः।
रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम् ॥११
वलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात्।
शेषनागो भवेद्रामः कृष्णोब्रह्मैव शाश्वतम् ॥१२
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः ॥१३
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो वकः ॥१४
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ॥१५
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः।
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ॥१६
दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः।
दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ॥१७
क्रीडते वालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ।
संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः ॥१८
कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
यत्स्रष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक् ॥१९

भगवान् श्रीहरि ने ही गोपरूप में लीला-विग्रह रूप धारण किया है। यह संसार माया से मोहित है, इसलिए ईश्वरीय माया का रहस्य जानना अत्यन्त दुष्कर है। क्योंकि प्रभु-माया तो

देवताओं द्वारा भी नहीं जीती जा सकती। जिनकी माया के वश में पकड़कर ही ब्रह्माजी को लकुटी और भगवान् शिव को बाँसुरी बनना पड़ा है, उन श्रीहरि की माया का ज्ञान साधारण प्राणियों को किस प्रकार हो सकता है ? देवताओं के पास जो ज्ञान रूप बल है उसका भी श्रीहरि की माया ने क्षण भर में हरण कर लिया। सनातन ब्रह्म श्रीकृष्ण हुए और शेषनाग ने बलराम का रूप ग्रहण किया। भगवान की सोलह हजार एक सौ रानियाँ वेद की ऋतुएँ और उपनिषद् ही हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म स्वरूपिणी वेद-ऋचाएँ गोपियों के रूप में प्रकट हुईं। चाणूर मल्ल द्वेष है, अत्यन्त कठिनाई से जीता जाने के योग्य मुष्टिक मत्सर है और कुवलियापीड दर्प है। आकाश में विचरण करने वाला राक्षस बकासुर गर्व है। साक्षात् दया ही माता रोहिणी हुई है। पृथिवी माता ने सत्यभामा का रूप धारण किया है। महाव्याधि अघासुर और साक्षात् कलि ने राजा कंस का रूप बनाया। शम ने सुदामा का, सत्य ने अक्रूर का और दम ने उद्धव का रूप ग्रहण किया। शंख विष्णु है और लक्ष्मी का भ्राता होने से उसी के समान है। वह मेघ के समान गम्भीर घोष करने वाला क्षीर सागर से उत्पन्न हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण ने जो दूध-दही के मटके फोड़ कर घर-घर में दूध-दही की नदी-सी बहा दी वह प्रवाह साक्षात् क्षीर सागर ही हुआ। दूध-दही के प्रवाह रूप क्षीर सागर में बालक रूप में भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ववत् क्रीड़ा कर रहे हैं। सन्तजनों की रक्षा में तथा दुष्टों के विनाश में वे समान रूप से लगे हुए हैं। सब प्राणियों पर अनुग्रह करने और धर्म की रक्षा करने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने भूतल पर अवतार लिया है। जो चक्र भगवान शंकर ने श्रीहरि भगवान् के निमित्त प्रकट किया था, वही चक्र भगवान् श्रीकृष्ण के कर-कमलों में सुशोभित हो रहा है। वह चक्र भी ब्रह्म के समान है ॥ १०—१६ ॥

जयन्तीसंभवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः ।
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ॥२०
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा ।
चक्रं शंखं च संसिद्धि बिन्दुं च सर्वमूर्धनि ॥२१
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः ।
नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥२२
गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिवर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥२३
अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया ।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ॥२४
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ।
तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ॥
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥२५
सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद । देहबन्धाद्विमुच्यते
इत्युपनिषत् ॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

धर्म ने चँवर का रूप धारण किया और वायु देवता वैजयन्ती-माला के रूप में हुए। महेश्वर ने दमकते हुए खंग का रूप बनाया और कश्यप नन्दगृह में ऊखल बन गए। माता अदिति ने रस्सी का रूप बनाया। सब वर्णों पर जैसे अनुस्वार अलंकृत होता है, वैसे ही सब से ऊपर सुशोभित आकाश भगवान का छत्र है। वाल्मीकि और व्यास आदि महर्षियों ने देवताओं के जितने रूपों का वर्णन किया है और जिन-जिन रूपों में देवताओं को सब प्राणी नमस्कार करते हैं, वे सभी देवता भगवान् श्रीकृष्ण के आश्रम में ही रहते हैं। भगवान् की गदा साक्षात् काली स्वरूपा है, जो समस्त शत्रुओं का नाश करने में समर्थ है। वैष्णवी माया ने शार्ङ्ग धनुष का रूप बनाया और प्राण नाशक काल ही उस पर

संधान किये जाने के लिये वाण बना। संसार का बीज रूप कमल भगवान् के हाथों में लीलापूर्वक सुशोभित है। भाण्डीर वट का रूप गरुड़ ने धारण किया और नारद कृष्ण के सखा श्री सुदामा हुए। साक्षात् भक्ति ही वृन्दा हुई। सब प्राणियों को कर्म का ज्ञान कराने वाली, प्रकाश दायिनी बुद्धि ही भगवान् की क्रिया शक्ति हुई। इस प्रकार यह गोप-गोपी आदि सभी भगवान श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। उन्हीं श्रीकृष्ण ने स्वर्ग के और वैकुण्ठ के सब देवताओं को पृथिवी पर उतारा है ।।२०—२५।।

इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी सब तीर्थों का फल प्राप्त करता और शरीर-बन्धन से मुक्त होता है—यह उपनिषद् है।

।। कृष्णोपनिषद् समाप्त ।।

—:—

गणपत्युपनिषत्

ॐभद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम् देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शांतिः शांतिः शांति ॥

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। अंगों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति, शांति, शांति ॥

ॐ लं नमस्ते गणपतये ॥१॥

त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्ताऽसि। त्वमेव केवलं धर्त्ताऽसि। त्वमेव केवलं हर्ताऽसि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्माऽसि ॥२॥

नित्यमृतं वच्मि। सत्यं वच्मि ॥३॥

अथ त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अवानूचानमव शिष्यम्। अव पुरस्तात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव पश्चात्तात्। अवोत्तरात्तात् अव

चोर्ध्वात्तात् । अवाधरात्तात् । सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात् ॥४॥

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः । त्वमानन्दमयस्त्व ब्रह्ममयः । त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि । त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ॥ ५

सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते । सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति । सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति । सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति । त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः । त्वं चत्वारि वाक्परिमिता पदानि । त्वं गुणत्रयातीतः । त्वं देहत्रयातीतः । त्वं कालत्रयातीतः । त्वं मूलाधारे स्थितोऽसि नित्यम् । त्वं शक्तित्रयात्मकः । त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम् । त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ॥ ६

भगवान् गणपति को नमस्कार ॥१॥ तुम्हीं कर्ता, धर्ता हो एवं प्रत्यक्ष तत्व हो । तुम्हीं इन रूपों में विराजमान साक्षात् ब्रह्म हो । तुम ही नित्य एवं आत्म स्वरूप हो ॥२॥ मैं सत्यपूर्वक एवं न्यायपूर्वक कहता हूँ ॥३॥ तुम मुझ शिष्य की एवं उपदेष्टा गुरु की रक्षा करो । श्रोता, दाता और धाता की रक्षा करो । व्याख्या आचार्य और शिष्य की रक्षा करने वाले होओ । पश्चिम की ओर से मेरी रक्षा करो, पूर्व की ओर से रक्षा करो, उत्तर की ओर से तथा दक्षिण ओर से भी मेरी रक्षा करो । ऊपर, नीचे तथा सब ओर से मेरी रक्षा करो । चारों ओर से मेरे रक्षक बनो ॥४॥ तुम वाङ्मय, चिन्मय एवं आनन्दमय हो । तुम ब्रह्ममय, सत्-चित्-आनन्द रूप तथा एक अद्वितीय हो । ज्ञान-विज्ञान-

मय भी हो, तुम्हीं साक्षात् ब्रह्म हो ॥५॥ यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हारे द्वारा ही प्रकट होता है। यह विश्व तुम्हारे द्वारा ही स्थित है। यह समस्त संसार तुम्हीं में लीन हो जाता है। इस सम्पूर्ण विश्व की प्रतीति तुम में ही होती है। तुम्हीं पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हो। वाणी के चार रूप परा, पश्यन्ती, वैखरी और मध्यमा भी तुम हो। सत्व, रज और तम से परे—गुणातीत हो। भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान से परे तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों से भी परे हो। तुम मूलाधार चक्र में सदा स्थिति रहते हो। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति यह तीनों रूप तुम्हारे ही हैं। योगी पुरुष तुम्हारा नित्य प्रति-चिन्तन करते हैं। तुम ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हो। इन्द्राग्नि और वायु भी तुम ही हो। सूर्य-चन्द्रमा हो। तुम ब्रह्म हो तथा भूः भुवः स्वः रूप त्रिलोक और ओंकार रूप परब्रह्म तुम ही हो ॥६॥

गणादीन् पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम् ।
अनुस्वारः परतरः अर्धेन्दुलसितं तथा ॥
तारेण युक्तमेतदेव मनुस्वरूपम् ॥ ७

गकारः पूर्वरूपम् । अकारो मध्यमरूपम् । अनुस्वार-श्चान्त्यरूपम् । विन्दुरुत्तररूपम् । नादः संधानम् । संहिता संधिः । सैषा गाणेशी विद्या ॥ ८

गणक ऋषिः । नृचद्गायत्री छन्दः । श्रीमहागणपति-देवता । ॐ गणपतये नमः ॥ ९

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि । तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ॥ १०

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणाम् ।
अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम् ॥ ११
रक्तलम्बोदरं शूर्पसुकर्णं रक्तवाससम् ।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम् ॥ १२

भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम् ।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात् परम् ॥१३
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः ॥ १४

प्रथम 'ग्' का उच्चारण कर फिर 'अ' का उच्चारण करे । इसके पश्चात् अनुस्वार का उच्चारण होता है । इस प्रकार अनुस्वार से अलंकृत 'गँ' ही तुम्हारे बीज मन्त्र का रूप है । क्योंकि अर्द्धचन्द्र रूप में ओंकार अवरुद्ध है, ।७॥ गकार इसका पूर्वरूप, अकार मध्यरूप अनुस्वार अन्तरूप तथा बिन्दु उत्तर रूप है । नाद संधान, संहिता सन्धि है । इस प्रकार यह गणेश-विद्या है ॥८॥ इसके ऋषि गणक, छन्द निचृद्गायत्री, देवता महागणपति हैं ॥९॥ एक दन्त से हम परिचित हैं । उन वक्रतुण्ड का हम चिन्तन करते है । यह गजानन हमें प्रेरणा करें यही गणेश-गायत्री है । जो योगी चतुर्भुज, पाश-अंकुश-वर-अभय मुद्राधारी, एकदन्त, लम्बोदर, मूषक-ध्वज, रक्तवर्ण वाले, बड़े-बड़े कानों वाले, लाल वस्त्र वाले, रक्त चन्दन का लेप किये हुये, लाल रङ्ग के पुष्पों से विभूषित, भक्त पर कृपा करने वाले, विश्व के कारण, अविनाशी सृष्टि के आदि में उत्पन्न, प्रकृति और पुरुष से पर श्रीगणेश जी का नित्य चिन्तन करता है, वह सब योगियों में श्रेष्ठ होता है ॥११-१४॥

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रथमपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय वरदमूर्तये नमोनमः ॥ १५

एतदथर्वशिरो योऽधीते स ब्रह्मभूयाय कल्पते । स सर्वतः सुखमेधते । स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते । स पञ्चमहापातकोपपातकात् प्रमुच्यते । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायंप्रातः प्रयुञ्जानोऽपापो भवति । धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति ॥ १६

इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम् । यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान् भवति ॥ १७

सहस्रावतनाद्यं यं काममधीते तं तमनेन साधयेत् । अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति । चतुर्थ्यामनश्नन् जपति स विद्यावान् भवति । इत्यथर्वणवाक्यं ब्रह्माद्याचरणं विद्यान्न बिभेति कदाचनेति । यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति । यो लाजैर्यजति स यशोवान् भवति स मेधावान भवति । यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति । यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते स सर्वं लभते । अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति । सूर्यग्रहणे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा स सिद्धमन्त्रो भवति । महाविघ्नात् प्रमुच्यते । महादोषात् प्रमुच्यते ॥ १८

स सर्वविद्भवति स सर्वविद्भवति य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ १९

व्रात-नायक को नमस्कार, गणपति को नमस्कार, प्रथमपति को नमस्कार, लम्बोदर को नमस्कार, एकरदन को नमस्कार, विघ्न विनाशक को नमस्कार, शिव-सुवन को नमस्कार, वरदमूर्ति गणेशजी को नमस्कार ॥१५॥ यह अथर्वशिरस् है । इसका पाठ करने वाला पुरुष ब्रह्मत्व-प्राप्ति का अधिकारी होता है । उसके लिये किसी प्रकार का विघ्न बाधा नहीं करता । वह सभी स्थानों पर सुखी रहता है । पाँचों प्रकार के पाप, उपपापों से वह छूटता है । सायंकाल पाठ करने वाला दिन के पापों से मुक्त होता है और प्रातःकाल पाठ करने वाले के रात्रि में किये हुये पाप कट जाते हैं । प्रातः सायं दोनों काल में पाठ करने से पाप रहते ही नहीं । इसका पाठक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को पाता है ॥१६॥ इस अथर्व शिरस् को अशिष्य को न दे, शिष्य को ही दे । मोहवश इसे देने वाला पापी होता है ॥१७॥ सहस्र बार पाठ करने पर जिस-जिस अभिलाषा का उच्चारण करे, उस-उसकी सिद्धि हो सकती

है। इसके द्वारा गणपति का अभिषेक करने वाला वक्ता बन जाता है। चतुर्थी तिथि को उपवास करके जो इसे जपता है, वह विद्यावान् होता है—ऐसा महर्षि अथर्वण का कथन है। इस मन्त्र के द्वारा तप करने वाले को कभी भय नहीं लगता। दूर्वा के अंकुरों द्वारा गणपति का यजन करने वाला कुबेर के समान धनवान् होता है। लाजाओं के द्वारा यज्ञ करने वाला यशस्वी होता है। सहस्र मोदकों से जो पुरुष यजन करता है वह इच्छित फल पाता है। घृत और समिधा से यज्ञ करता है उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। आठ ब्राह्मणों को भले प्रकार से इसे ग्रहण करावे तो सूर्य के समान तेजस्वी हो। सूर्य ग्रहण के समय किसी महानदी या प्रतिमा के निकट बैठ कर जप करे तो मन्त्र-सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा साधक घोर विघ्न से भी छुटकारा पा लेता है। वह महान् दोषों और महापापों से मुक्त हो जाता है ॥१८॥ इस प्रकार जानने वाला पुरुष भी सर्व ज्ञानी हो जाता है। सर्वज्ञता प्राप्त करता है ॥१९॥

॥ गणपति उपनिषद् समाप्त ॥

—०—०—

न्रसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टु वांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूपा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें! ॐ शांति, शांति, शांति ॥

ॐ आपो वा इदमासन्त्सलिलमेव । स प्रजापतिरेकः पुष्कर-पर्णे समभवत् । तस्यान्तर्मनसिः कामः समवर्तत इदं सृजेय-मिति । तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्क-र्मणा करोति तदेषाभ्यनूक्ता । कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् । सतो बन्धुमसति । निरविन्दन्हृदि प्रतीष्य कवयो मनीणेति उपैनं तदुपनमति यत्कामो भवति य एवं वेदांग तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभम-पश्यत् तेन व सर्वमिदमसृजत यदिदं किंच । तस्मात्सर्वमानुष्ट-भमित्याचक्षते यदिदं किंच । अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि

जायन्ते ननुष्टुभा जातानि जीवन्ति अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्यैषा भवति अनुष्टुप्प्रथमा भवति अनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुप् वाचैव प्रयन्ति वाचोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां यद-नुष्टुबिति ॥ १

प्राचीन काल में यह दृष्टिगोचर सम्पूर्ण विश्व जल के रूप में था। सर्वत्र जल ही जल दिखाई देता था। उसी जल में एक कमल पत्र पर सुप्रसिद्ध प्रजापति श्री ब्रह्माजी का प्राकट्य हुआ। ब्रह्माजी ने विचार किया कि मैं लोक-रचना-कार्य करूँ। यह बात सर्व विदित है कि मानव की जो भावना बनती है, उसे वह पहले वाणी द्वारा कहता और फिर क्रिया द्वारा पूर्ण करता है। इस सम्बन्ध में कहा है कि पूर्व काल में जब सृष्टि रचना हुई तब काम की उत्पत्ति हुई। ज्ञानीजन अपने मन में निहित आत्मा का निरीक्षण करते रहते हैं और काम को आत्मा के लिये पाश स्वरूप मानते हैं। ज्ञानियों के विचार में प्रकृति के कार्यभूत मन में काम का प्राकट्य होता है। सृष्टि से पहले जो जल ही जल था, वही इस विश्व का कारणभूत है। इस बात के जानने वाला विद्वान् जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह वस्तु उसे मिल जाती है।

सुप्रसिद्ध प्रजापति ने तप प्रारम्भ किया। उसके द्वारा उन्हें अनुष्टुप् छन्द में अवतीर्ण इस नारसिंह मन्त्रराज की प्राप्ति हुई। उसी मन्त्रराज के प्रभाव से इस प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर विश्व की उन्होंने रचना की। इसलिये इस प्रत्यक्ष विश्व को मन्त्रराज आनुष्टुभमय कहा जाता है।

इस अनुष्टुप् से ही इन सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है, अनुष्टुप् के प्रभाव से ही यह उत्पन्न प्राणी जीवन धारण करते हैं और मरने पर इहलोक को त्यागने पर अनुष्टुप् में ही लीन हो जाते हैं। यह अनुष्टुप् वृत्ति सम्पूर्ण लोक की रचने वाली है। वाणी से ही मनुष्य जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं इसलिये वाणी मात्र अनुष्टुप् ही है। यह अनुष्टुप् छन्द अन्य सब छन्दों में अधिक महिमा वाला है ॥१॥

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयेत् यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात् ब्रह्मस्वरूपं निरंजनं परमं व्योमकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति किं ध्यानं किं दैवतं कान्यंगानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति ।। २

मन्त्रराज का प्रथम चरण रूप यह पर्वत, समुद्र तथा सप्तद्वीप वाली पृथिवी है। द्वितीय चरण रूप यक्षों, गन्धर्वों और अप्सराओं द्वारा सेवित अन्तरिक्ष है। तृतीय चरण के रूप में, वसु, रुद्र और आदित्य आदि देवताओं द्वारा सेवित द्युलोक है और चतुर्थ चरण रूप माया-रहित, पवित्र, परम व्योम युक्त ब्रह्म रूप है। इन सब को इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी अमरत्व को प्राप्त होता है।

मन्त्रराज के चार पाद हैं—शाखाओं और अङ्गों सहित ऋक्, यजु, साम और अथर्व यह चारों वेद। तब प्रश्न हुआ कि मन्त्रराज का ध्यान कैसे है, उसका देवता, अङ्ग, देवताओं का गण, छन्द और ऋषि यह सब कौन-कौन हैं? ।।२।।

स होवाच प्रजापतिः स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं तत्साम्नोऽगं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रींल्लोकांज यति चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेद स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान्भवति तस्मादिदं सांगं साम जानीयाद्यो

जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति सावित्रीं प्रणव यजुर्लक्ष्मीं स्त्री-शूद्राय नेच्छन्ति द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणव यदि जानीयात् स्त्री शूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति ।। ३ ।।

इस पर सुप्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा—'जो पुरुष श्री बीज से अभिषिक्त गायत्री मन्त्र अष्टाक्षरी पद को इस मन्त्रराज साम ही अंग समझता है वह श्रीसम्पन्न होता है। सभी वेदों के आदि में प्रणव है। अतः जो ज्ञानी इस प्रणव को साम का ही अंग मानता है वह त्रिलोकी पर विजय प्राप्त कर लेता है। चौबीस अक्षरों वाला महालक्ष्मी मन्त्र यजुर्वेद का ही स्वरूप है, उसे साम का अंग मानने वाला ज्ञानी यश, कीर्ति, ज्ञान, आयु और ऐश्वर्य से युक्त होता है। जो पुरुष अंगों सहित साम का ज्ञाता है, वह अमृतत्व प्राप्त करता है, इसलिए इस साम को अंगों सहित जानना चाहिये। ज्ञानीजन प्रणव, गायत्री और यजु स्वरूप महालक्ष्मी मन्त्र अनधिकारी जीवों को नहीं बताते। क्योंकि ऐसे व्यक्ति इन्हें जान लें तो भी उन्हें श्रेष्ठ गति प्राप्त नहीं होती। इसलिये मन्त्र देने में सदा सावधान रहना चाहिये। जो आचार्य आदि किसी अनधिकारी को मन्त्रोपदेश करे, वह भी अधोगति प्राप्त करता है। बत्तीस अक्षर वाले साम को जानना चाहिये, उसका जानने वाला अमृतत्व को पाता है ।। ३ ।।

स होवाच प्रजापतिः अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट स्वराड्विराट् तत्साम्नः प्रथम पादं जानीयात् ऋग्यजुःसामाथर्वरूपः सूर्योऽन्त-रादित्ये हिरण्मयः पुरुषस्तंत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात् य ओषधीनां प्रभुर्भवति ताराधिपतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं

जानीयात् स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् तस्मान्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिंह तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय वा चेति ॥ ४ ॥

ब्रह्माजी फिर कहने लगे—'सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण प्राणी, सम्पूर्ण वेद, अग्नि, प्राण, इन्द्रिय, अन्न, पशु, अमृत, सम्राट, स्वराट्, विराट् इन सब को मन्त्रराज साम का प्रथम चरण जानना चाहिए। ऋक्, यजु, साम, अथर्व रूप सूर्य उनके मण्डल में स्थित हिरण्यमय पुरुप, यह साम का दूसरा चरण जानना चाहिए। सब औपधियों और तारागणों के स्वामी चन्द्रमा को साम का तृतीयचरण जाने ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अग्नि और अविनाशी परमेश्वर इन्हें साम का चतुर्थ चरण जाने। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी अमृतत्व को प्राप्त होता है।

मन्त्रराज अनुष्टुप् के प्रथम चरण का आदि अंश 'उग्रम्' है, द्वितीय चरण का आदि अंश 'ज्वलं' है, तृतीय चरण का आदि अंश 'नृसिंह' है और चतुर्थ चरण का आदि अंश 'मृत्यु' हैं। इन चारों को साम स्वरूप ही समझना चाहिए। ऐसा समझने वाला ज्ञानी अमृतत्व को प्राप्त होता है। यह मन्त्र किसी को देना हो तो जो इसका उपदेश लेना चाहे ऐसे सेवा परायण पुत्र को अथवा सदाचारी शिष्य आदि को देना चाहिए ॥ ४ ॥

स होवाच प्रजापतिः क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिविग्रहं योगिध्येयं परं पदं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं तं स द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं हं भी तृतीयस्याद्यन्त्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम तु जानीयाद्यो

जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति तस्मादिदमेव मुख्यद्वार कालौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ५ ॥

सुप्रसिद्ध प्रजापति ने पुनः कहा—'भगवान् का जो नृसिंह रूप विग्रह क्षीर सागरशायी है, वह परमपद रूप है तथा योगियों के लिये भी ध्यान करने योग्य है। उस विग्रह को सामवेद का ही रूप माने। जो ऐसा मानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। मन्त्रराज अनुष्टुप् के प्रथम चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'वीर' है। द्वितीय चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'तं सं' है। तृतीय चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'हं भी' है और चतुर्थ चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'मृत्युम्' पद है। इन सब को साम ही जानना चाहिए। जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। अतः जो इस साम को किसी आचार्य के मुख से प्राप्त कर इस प्रकार जानता है, वह इस जीवन में ही भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है और अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों को भी भव-पाश से छुड़ाता है। जो व्यक्ति सांसारिक मोह ममता में पड़ा है, वह इसे सुनकर मुक्ति की कामना करने लगता है। इस मन्त्रराज साम के जप से इसी देह में भगवान् नृसिंह का दर्शन कर लेता है। कलियुग में मुक्ति का यह एक सरल मार्ग है। अतः इस साम को अङ्गों सहित भले प्रकार जान ले। इसे जो भले प्रकार जान लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शङ्कर नीललोहितम् ॥ उमापतिः पशुपतिः पिनाकी ह्यमितद्युति·। ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधि-

पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो वै यजुर्वेदवाच्यस्तं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति महाप्रथमान्तार्धस्याद्यन्तवतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यंषणं तृतीयान्तार्धस्याद्यन्नाम चतुर्थान्तार्धस्याद्यं साम जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवंविद्वानमृतं इह भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ६ ॥ विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजो विश्वमेनाननु प्रजायते ब्रह्मणः सलोकतां साष्टितां सायुज्यं यान्ति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते जोऽमृतत्वं च गच्छति विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्यं भद्रं तृतीयान्त्यं म्यहं चतुर्थान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते तोऽमृतत्वं च गच्छति योऽसौ वेद यदिदं किञ्चात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति स्त्रीपुंसयोर्वा इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वैश्वर्यं ददाति यत्र कुत्रापि म्रियते देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम मध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत् । य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति । महाविष्णुर्भवति । इति प्रथमोपनिषत् ॥ ७ ॥

भगवान् नृसिंह अन्तर्यामी और सर्वव्यापी परमेश्वर हैं। उन्हें ऋत और सत्य समझना चाहिए। वे मनुष्य और सिंह की संयुक्त आकृति वाले, काले-पीले रङ्ग से युक्त हैं। उनके नेत्र अत्यन्त विकराल तथा भयङ्कर हैं। वही कल्याणकारी शिव हैं। कण्ठ में नीलवर्ण और उसके ऊर्ध्व भाग में तेजोमय लोहित वर्ण का होने के कारण 'नील लोहित' कहलाते हैं। वे सर्व देवात्मक भगवान् नृसिंह ही गिरिजा, उमापति, पशुपति, धनुर्धारी और अत्यन्त तेजस्वी महेश्वर

हैं। वे सम्पूर्ण विद्याओं और भूतों के स्वामी हैं। जो देवपति, ब्रह्मा के भी स्वामी और यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन भगवान् नृसिंह को साम ही जान ले। जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

मन्त्रराज अनुष्टुप् के प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'महा' है, द्वितीय चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'वंतो' है, तृतीय-चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'षणं' हैं, चतुर्थ चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'नमा' है। इन सब को ही साम जाने। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

यह साम सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म ही है। उसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष इस देह के रहते ही अमरत्व को प्राप्त होता है। इस साम को अङ्गों सहित जानना चाहिए। जो इस प्रकार इसका ज्ञाता है वह जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त करता है।

विश्व के रचने वाले प्रजापतियों ने ही इस साम युक्त मन्त्र के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। इसीलिये वे विश्व रचयिता कहे गए हैं। यह विश्व उनसे ही प्रकट हुआ है। इस रहस्य के ज्ञाता ज्ञानी-जन ब्रह्मलोक और उसके पद को प्राप्त करते हैं। इस साम को अङ्गों सहित जानना चाहिए। जो इस प्रकार जानते हैं वे भव-बन्धन से मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त करते हैं॥ ६॥

मन्त्रराज के प्रथम चरण का अन्तिमपद 'विष्णु' है, द्वितीय-चरण का अन्तिम पद 'मुखम्' है, तृतीय चरण का अन्तिम पद 'भद्र' है तथा चतुर्थ चरण का अन्तिम पद 'म्यहम्' है। इन सब को साम जानना चाहिए। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

प्रजापति ने ही इन सब तत्वों को जाना। ब्रह्म में स्थित इस अनुष्टुभ मन्त्र की ब्रह्म में ही स्थिति है। जो ज्ञानी इस प्रकार जानता है, वह अमरत्व को प्राप्त करता है।

जो साधक स्त्री पुरुष इस लोक में उत्तम आचरणपूर्वक रहकर आनन्द में स्थित रहने की की इच्छा करते हैं, भगवान् नृसिंह उनके लिए सम्पूर्ण ऐश्वर्य देते हैं। वह जहाँ भी देह-त्याग करता है वहीं भगवान् नृसिंह उसे तारक मन्त्र का उपदेश कर अमृतत्व प्राप्त कराते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुकों तारक मन्त्र का जाप करना उचित है। साम के अङ्गभूत प्रजापति मन्त्रद्रष्टा होने से तारक मन्त्र है। ऐसा जानने वाला ही सच्चा साधक होता है। यह महोपनिषद् है, जो जानता है, वह साक्षात् विष्णु स्वरूप हो जाता है ॥ ७ ॥

॥ प्रथम उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च विभीयुस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वै ते मृत्युमजयन् पाप्मानं चातरन्त्संसारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च विभीयात्स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा साम्नः प्रथमः पादो भवति द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा साम्नो द्वितीयः पादो भवति तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः सा साम्नस्तृतीयः पादो भवति यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवति ॥ १ ॥

एक समय की बात है कि मृत्यु, पाप और संसार से सब देवता अत्यन्त भयभीत हुए और भागकर प्रजापति ब्रह्माजी की शरण में पहुँचे। ब्रह्माजी ने उन्हें भगवान् नृसिंह का मन्त्रराज आनुष्टुभ् बताया।

देवताओं ने इस मन्त्र की सिद्धि द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली। वे सब पापों से मुक्त हो गये और इस संसाररूपी समुद्र को भी लांघ गये। अतः जो मनुष्य मृत्यु, पाप और भवसागर से भय मानता हो, वह इस मन्त्रराज की शरण ग्रहण करे। जो इस प्रकार मन्त्रराज की शरण लेता है, वह मृत्यु, पाप और इस संसार से भी तर जाता है।

प्रणव भी पूर्वोक्त मन्त्रराज का ही अङ्ग है। वह प्रणव प्रथम मात्रा 'अ'कार वाला है, पृथ्वी उसका लोक और ऋचाओं से विभूषित ऋग्वेद ही उसका वेद, देवता ब्रह्मा तथा छन्द गायत्री है, वह वसु देवताओं का गण है और गार्हपत्य अग्नि रूप है यह सब प्रणव की प्रथम मात्रा में ही निहित है और यही साम का प्रथम पाद है।

प्रणव की द्वितीय मात्रा 'उ'कार है। अन्तरिक्ष लोक, यजुर्मन्त्रों-युक्त यजुर्वेद, विष्णु और रुद्र देवों का गण, दक्षिण अग्नि और त्रिष्टुप् छन्द, यह द्वितीय मात्रा है। यह साम का द्वितीय पाद है।

प्रणव की तृतीय मात्रा 'म'कार है। द्युलोक, सामवेद, रुद्र और आदित्य का गण, जगती छन्द और आहवनीय अग्नि यह सब तृतीय मात्रा के अन्तर्गत हैं। यह तृतीय मात्रा ही साम का तृतीय-पाद है।

प्रणव की चौथी मात्रा में नादात्मक अर्द्धमात्रा का आभास मिलता है। उसमें चन्द्रलोक, ओंकारवाची परब्रह्म, अथर्ववेद, संवर्तक नामक अग्नि, मरुद्गण तथा विराट् छन्द है, इसके ऋषि ब्रह्मा है। यह ब्रह्म रूपिणी होने से अत्यन्त प्रकाश वाली है। यह चतुर्थमात्रा ही साम का चतुर्थपाद है ॥ १ ॥

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशदक्षराणि संपद्यन्ते द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतं तस्य हैतस्य

पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन संयुज्यत द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषिक्तावा इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषिक्तान्यङ्गानि भवन्ति ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

आठ अक्षरों का अनुष्टुप् मन्त्र का प्रथम चरण है। आठ-आठ अक्षरों के ही शेष तीन चरण हैं। इस प्रकार चारों पदों में बत्तीस अक्षर होते हैं। इस अनुष्टुप् से ही सम्पूर्ण जगत की सृष्टि हुई है। सब का उपसंहार भी अनुष्टुप् के द्वारा ही होता है। इसके चार अङ्गों का चरणों के रूप में ऊपर वर्णन हुआ है, परन्तु प्रणव उसका पाँचवां अङ्ग है। इस प्रकार अनुष्टुप् पाँच अङ्गों वाला है। मनुष्य शरीर के भी पाँच अङ्ग हैं—हृदय, शिर, शिखा, बाहुमूल और मस्तक। दोनों के पाँच-पाँच अङ्ग होने से मन्त्र के प्रथम अङ्ग का हृदय से संयोग करे, दूसरे अंग का शिर से, तीसरे अंग का शिखा से, चौथे अंग का दोनों बाहुमूलों से तथा पाँचवें अंग का मस्तक से संयोग करे।

जैसे सम्पूर्ण लोक परस्पर मिले हुए हैं वैसे ही दोनों के अंग भी परस्पर सम्बद्ध हैं। ओंकार को सम्पूर्ण विश्व माना गया है। इसीलिए अनुष्टुप् के प्रत्येक अक्षर के दोनों ओर ओंकार का सम्पुट देना चाहिए। ब्रह्मज्ञानीजन इस मन्त्र के प्रत्येक अक्षर के न्याय की बात कहते हैं ॥ २ ॥

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थानं ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंह

षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशनं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति एकादशपदा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमिदमुपसंहृतं तस्मात्सर्वानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥३॥

अनुष्टुप् का प्रथम स्थान 'उग्रम्' पद है। जो इसे जानता है, वह अमर हो जाता है। द्वितीय स्थान 'वीरम्' है, तृतीय स्थान 'महाविष्णुम्' है, चतुर्थ स्थान 'ज्वलन्तम्' है, पञ्चम स्थान 'सर्वतोमुखम्' है छठा स्थान 'नृसिंहम्' है, सातवां स्थान 'भीषणम्' आठवां स्थान 'भद्रम् है, नौवां स्थान, 'मृत्युमृत्युम् है, दसवां स्थान 'नमामि' है और ग्यारहवां स्थान 'अहम्' है इस प्रकार जाने। जो ऐसा जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। यह अनुष्टुप् वृत्ति ग्यारह पदों वाली है, इसी के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई है, इसी के द्वारा सब का उपसंहार होता है। इस लिये यह सब अनुष्टुप् की ही महिमा है। जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को पाता है ॥३॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादुच्यत उग्रमिति स होवाच प्रजापतिर्यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यजस्रं सृजति विसृजति वासयत्युद्ग्राह्यत उद्ग्रह्यते स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रं मृडाजरित्रे रुद्रस्तवानो अन्यत्ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः तस्मादुच्यत उग्रमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते वीरमिति यस्मात्स्वमहिना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमति विरामयत्यजस्रं सृजति विसृजति वासयति यो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामस्तस्मादुच्यते वीरमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति

यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्त-मूलमोतं प्रोतमनुव्यासं व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्यापयते यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि सचते सषोडशीं तस्मा दुच्यते महाविष्णुमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि स्वतेजसा ज्वलति ज्वालयति ज्वाल्यते ज्वालयते सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन्दीप्यमानः ज्वल ज्वलिता तपन्वित-पन्त्संतपन्रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणस्तस्मा-दुच्यते ज्वलन्तमिति ॥

यह सुनकर कर देवताओं ने प्रश्न किया—'नृसिंह भगवान् के लिए 'उग्रम्' क्यों कहा गया है ?'

प्रसिद्ध प्रजापति ने इसका उत्तर दिया—'भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से सब देवताओं, सब भूतों सब आत्माओं और सब लोकों को ऊपर उठाते हैं, वही उनकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं. वे ही उन्हें अपने में लीन कर लेते हैं। संसार ,पर दूसरों से अनुग्रह कराते और स्वयं भी करते हैं। इसीलिए उन्हें . उग्र कहा जाता है। इस विषय में ऋग्वेद में कहा है, श्रुतियाँ जिनकी स्तुति करती हैं, उन्हीं परमेश्वर की स्तुति करो। वे हृदय रूप गर्त में हैं, नवीन तरुणाई से शोभाय-मान हैं, सिंह रूप से प्रकट होते हुए भी भक्तों के लिये विकराल नहीं हैं। सब पर कृपा करने के लिये वे सब स्थान पर तथा सब के समीप पहुँचते हैं। वे सन्तजनों पर कृपा और दुष्टों को नष्ट करने वाले हैं, इसलिए - उग्र कहे जाते हैं। हे भगवान नृसिंह ! आप इस स्तुति से संतुष्ट होकर मुझ - स्तोता को सुखी करो। आपकी भयङ्कर सेना हम पर आक्रमण न करे, वह कहीं अन्यत्र जाय। इस मंत्र में

भगवान नृसिंह को 'उग्र' कह कर स्तुति की है, इसलिए उन्हें उग्र कहा गया है।'

इसके पश्चात् देवताओं ने प्रश्न किया—भगवन् ! प्रभु श्रीनृसिंह को 'वीर' क्यों कहा गया है ?' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—'भगवान नृसिंह अपनी महिमा के द्वारा ही सब भूतों के साथ विभिन्न प्रकार के खेल खेलते हैं, वही सब लोकों और सब देवताओं में व्याप्त हैं, सभी आत्मा उन्हीं का प्रतिरूप मात्र हैं। वही सृष्टि के पालन और विनाश करने वाले हैं। सम्पूर्ण विश्व प्रलय के पश्चात् उन्हीं में लीन हो जाता है, इसलिए वे 'वीर' कहे गए हैं ।

ऋग्वेद में भी भगवान् को वीर कहा गया है, वे भक्तों पर तुरन्त कृपा करने वाले हैं, वे कर्मठ हैं क्योंकि सोमयाग में पापण हाथ में लेकर अध्वर्यु आदि के रूप में सोम निष्पीडन करते हैं। यही देवताओं की रचना करने की कामना करते रहते हैं।'

देवताओं ने प्रश्न किया—'भगवान को 'महाविष्णु क्यों कहा जाता है ? 'ब्रह्माजी' बोले—'भगवान नृसिंह अपनी महिमा से सब देवताओं, सब आत्माओं, समस्त भूतों और सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करते हैं। मांस पिण्ड में चिकनाई के व्याप्त रहने के समान देह के सब अवयवों में व्याप्त हैं। यह संसार प्रलयकाल में, उनमें ही लय हो जाता है, क्योंकि यह उन्हीं से सबंधित है।'

ऋग्वेद में भी इनकी महिमा का वर्णन हुआ है—जो सर्वव्यापी होने से समस्त संसार में व्याप्त हैं, जो प्रजा-पालक और प्रजा के उपास्यदेव हैं, जिनसे प्रबल अन्य कोई भी प्रकट नहीं हुआ, वे भगवान सोलह कलाओं से युक्त होकर तीनों प्रकार के तेजों में व्याप्त रहते हैं। इसलिए इन्हें 'महाविष्णु' कहा जाता है।

देवता पूछने लगे—''यह 'ज्वलन्त' क्यों कहे जाते हैं ?'' प्रजापति

ने उत्तर दिया- "भगवान अपने महत्व से ही सब देवताओं, सब आत्माओं सब लोकों और सब भूतों को अपने तेज से प्रकाशित करते और उसी तेज से स्वयं भी प्रकाशित रहते हैं। सभी लोक और ज्योतियाँ उनके तेज से प्रकाशित होकर अपना प्रकाश फैलाते हैं। ऋग्वेद में कहा कि—"वे सविता हैं, प्रसविता भी वही हैं, वे प्रकाश से युक्त हैं, वे स्वयं प्रज्ज्वलित रहकर दूसरों को भी प्रज्ज्वलित करते हैं। वे स्वयं तपते और दूसरों को तपाते हैं। वे अपने तेज से ही कान्तियुक्त हैं तथा अपनी कान्ति से दूसरों को कान्तिमान बनाते हैं। वे परम कल्याणरूप एवं सुशोभित हैं तथा अन्य पदार्थ उन्हीं के द्वारा सुशोभित होते हैं। इसीलिये ज्ञानीजन उन्हें 'ज्वलन्त' कहते हैं।

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः सर्वगतस्तिष्ठति। एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपाः। यमप्येति भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतोमुखम्। तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति॥ अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति यस्मात्सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च। तस्मान्नृसिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं भवति प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरोगिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा तस्मादुच्यते नृसिंहमिति॥ अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रस्य मृत्युर्धावति पञ्चम इति तस्मादुच्यते भीषणमिति॥ अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति यस्मात्स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं

ददाति रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः । भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः तस्मादुच्यते भद्रमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति यस्मात्स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयाति । य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः यस्य छायामृतं यो मृत्युमृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम । तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते नमामीति यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च । प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यं यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे तस्मादुच्यते नमामीति ॥ अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति । अहमस्मि प्रथमजा ऋतऽस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः । यो मा ददाति स इदेवमावाः अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ इति द्वितीयोपनिषत् ॥ २ ॥

देवता पूछने लगे—'वे 'सर्वतोमुख' किस लिये कहे जाते हैं ?' ब्रह्माजी ने कहा—सब प्राणियों, आत्माओं, देवताओं और सभी लोकों को वे अपनी महिमा के द्वारा ही. इन्द्रियों से परे होते हुए भी सबको सब ओर देखते हैं। वे सब ओर से सुनते, सब ओर से ग्रहण करते और सब ओर गमन करते है। वे सभी स्थानों में समान रूप से व्याप्त रहते है। ऋग्वेद में उनकी महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"जो भगवान सृष्टि से पूर्व अकेले ही थे और स्वयं ही इस विश्व रूप से उत्पन्न हो गए, जिनके द्वारा इस विश्व की सृष्टि हुई, जो सब लोकों का पालन करते हैं तथा समस्त सृष्टि अन्त में, उन्हीं में लीन हो जाती है, वे भगवान सर्वतोमुख है, उन्हें मैं नमस्कार करता हूं।' इसमें भगवान को सर्वतोमुख कहा गया है, इसलिए वे 'सर्वतोमुख' कहाते है।

देवताओं ने पूछा—"भगवान को नृसिंह क्यों कहते हैं ?' ब्रह्माजी बोले—'सब प्राणियों में मानव का पराक्रम प्रसिद्ध है और सिंह भी सबसे अधिक पराक्रमी होता है। अतः नर और सिंह दोनों के संयुक्त रूप से पराक्रम में अधिक प्रबलता होती है, इसीलिए भगवान ने यह रूप धारण किया है। वे अपने इस रूप से विश्व का कल्याण करते हैं। उनका यह स्वरूप अविनाशी एवं सनातन है। वेद में कहा है—"भगवान विष्णु सिंह रूप धारण कर स्तोताओं द्वारा प्रस्तुत होते हैं। विभिन्न स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की जाती है। स्तोतागण विभिन्न प्रकार की शक्तियों को पाने के लिए उनकी स्तुति करते हैं। सिंह रूपधारी होने पर भी भगवान् अपने भक्तों के लिए भयङ्कर नहीं होते। वे पृथ्वी और पर्वत सर्वत्र हैं, सब रूपों में स्थिति हैं और स्तोता की वाणी में भी निहित हैं। इनके तीन डगों में तीन लोक समा गए। इसीलिए उन्हें 'नृसिंह कहा जाता है।'

देवताओं ने प्रश्न किया—"उन्हें भीषण क्यों कहा जाता है ?" प्रजापति ने कहा—"इनके भीषण रूप से सब भयभीत होते हैं। सभी देवता, सभी प्राणी और सब लोक इनकी विकरालता से कांप कर भागते हैं, परन्तु यह किसी से भी नहीं डरते। वेद में कहा है—"इनके भय से ही सूर्य समय से प्रकाशित होता है। इनके भय से ही वायु चलता है और अग्नि तपता है, इन्द्र भी इन्हीं के भय से वर्षा आदि कर्म करते हैं तथा मृत्यु भी इनके भय से ही प्राणियों को देह से मुक्त करती है। इसीलिए यह 'भीषण' कहे जाते हैं।"

देवताओं ने पूछा—"इन्हें भद्र क्यों कहते हैं ?" ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—"भद्र का तात्पर्य कल्याण से है। वे भगवान् कल्याण स्वरूप हैं और दूसरों का भी कल्याण करते हैं। वे स्वयं कान्तिमान हैं और दूसरों को भी कान्ति प्रदान करते हैं। वे स्वयं शोभा सम्पन्न हैं इसलिए दूसरों को भी शोभा सम्पन्न करते हैं। वेद में कहा है कि

'देवताओ ! हम यज्ञ करते हुए कानों से भद्र (कल्याण) सुनें—कल्याण का ही दर्शन करें। हम भगवान का स्तोत्र करते हुए अपने दृढ़ अङ्गों से ऐसी आयु पावें जो हमारे उपास्य भगवान के भजन, चिन्तनादि में काम आवे। इस प्रकार 'भद्र' वर्णित होने से भगवान को 'भद्र' कहते हैं।'

देवताओं ने पूछा कि "भगवान को मृत्यु-मृत्यु क्यों कहा जाता है ?" ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि 'अपनी महिमा द्वारा अपने भक्तों के स्मरण करते ही उनकी मृत्यु और अपमृत्यु को भी नष्ट कर डालते हैं। वेद का कथन है कि जिनकी अनुज्ञा में देवगण मस्तक झुकाकर रहते और आज्ञा पालन करते हैं, जिनकी छाया अमृत स्वरूप है, जो आत्मा और शक्ति के देने वाले हैं, जो मृत्यु के लिए भी मृत्यु स्वरूप ऐसे एक एवं अद्वितीय भगवान के समक्ष हम स्वयं उपस्थित होकर आराधना करते हैं।' इसी के अनुसार भगवान् को 'मृत्यु-मृत्यु' कहते हैं।'

देवताओं ने प्रश्न किया कि 'मन्त्रराज में 'नमामि' पद क्यों प्रयुक्त हुआ है ?' प्रजापति ने उत्तर दिया 'कि जिन भगवान को सभी देवता, ब्रह्मवादीजन तथा मुक्ति की कामना वाले साधक नमस्कार करते हैं, इसलिए उन्हें नमस्कार करना चाहिए।' वेद में कहा है कि जिन भगवान को लक्ष्य करके ही ब्रह्मा अपने स्तवन में नमस्कार करते हैं, वे भगवान ब्रह्मा और वेदों के रक्षक हैं। इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि के आश्रयभूत हैं, इसीलिए उनके निमित्त 'नमामि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।'

देवताओं ने पुनः प्रश्न किया कि 'मंत्र में 'अहम्' पद क्यों प्रयुक्त हुआ है ?' इसके उत्तर में ब्रह्माजी ने कहा कि 'श्रुति में कहा है कि मैं अमृत का भण्डार हूं। देवताओं से भी पूर्व मैं प्रकट हुआ हूं। मैं ही इस प्रकट और अप्रकट संसार से पूर्व प्रकट होने वाला आत्मा

हूँ। हे देव! तुम मुझे आश्रय प्रदान करते हो, वैसे तुमने मेरा पालन किया है। मैं अन्न हूँ, अन्न भक्षक का भी भक्षक बन जाता हूँ। सूर्य के प्रकाश के समान यह सम्पूर्ण विश्व मेरे प्रकाश के सामने फीका पड़ जाता है। जो इस प्रकार का ज्ञाता है; वही यथार्थ उपासना करने वाला है। यही महोपनिषत् है।

॥ द्वितीय उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नरसिंहस्य शक्ति बीजं नो ब्रूहि भगवन्निति स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स संसारं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्नुते मीमासन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा दीर्घाप्लुता चेति ॥ यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्वं च गच्छति तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं स ईं पाहि य ऋजीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युदाहुः तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपामिहायुषे शरणमहं प्रपद्ये सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाश बीजं विद्यात्तदेव ज्यायस्तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं हंस शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥ नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥

॥ इति तृतीयोपनिषत् ॥

प्रसिद्ध देवगण जिज्ञासु भाव से प्रजापति ब्रह्माजी के सामने

नतमस्तक होकर बोले—'भगवान ! मंत्रराज आनुष्टुभ की शक्ति और वीज का हमें उपदेश कीजिये।'

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"भगवान की शक्तिभूता माया ही इस विश्व की रचना, रक्षा और विनाश करती है। इसलिए यह माया ही शक्ति है। इस माया को शक्ति रूप से जानने वाला ज्ञानी पापों से पार होता है और भव-सागर से तर कर अमृतत्व को प्राप्त होता है, और वह इस लोक में भी महान् सुख समृद्धि का उपभोग करता है।

ब्रह्मवादी जन सोचते हैं कि भगवान की माया शक्ति लघु दीर्घ अथवा प्लुत है ? यदि लघु है तो जो कोई इसे लघु जाने वह अपने सब पापों को उसके द्वारा भस्म कर देता और अमृतत्व को पाता है। यदि दीर्घ है तो जो कोई उसके इस रूप को जानता है वह महान् ऐश्वर्य प्राप्त करता हुआ अंत में अमर हो जाता है। यदि वह प्लुत है तो जो उसके इस रूप का ज्ञाता है, वह अत्यन्त ज्ञानी होता और अमृतत्व प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—"हे माया रूप विन्दुमय स्वर ! मैं इस भव-सागर से पार होने की कामना वाला हूँ तो साधन के निमित्त दीर्घ आयु भी प्राप्त करना चाहता हूँ। इस उद्देश्य से मैं भगवान की शक्ति श्री, लक्ष्मी शङ्कर भगवान की शक्ति अम्बिका, ब्रह्मशक्ति सरस्वती, स्कन्दशक्ति षष्ठी, इन्द्र-शक्ति इन्द्रसेना और ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली साक्षात् प्रकट विद्या-शक्ति का आश्रय ग्रहण करता हूँ। तुम सभी उपरोक्त शक्तियों के सहित मेरी रक्षा करो।'

यह सभी प्राणी आकाश से उत्पन्न होते है, इसलिए आकाश ही सब प्राणियों का आश्रयभूत है। उत्पन्न प्राणी आकाश से ही जीवन धारण करते और अपना देह त्यागते और आकाश में ही लीन हो जाते हैं। अतः आकाश को ही सम्पूर्ण विश्व का बीज मानना चाहिए। इस विषय में यह दृष्टांत है कि जो पुरुषोत्तम भगवान् अपने

विशुद्ध परमधाम में स्वयं प्रकाशित हैं, वे ही अन्तरिक्ष में निवास करने वाले वसु हैं। वे ही घरों में आने वाले अतिथि हैं। वे ही यज्ञ की वेदी में प्रतिष्ठित अग्नि और उसमें आहुति देने वाले होते हैं। वे आकाश और स्वर्गलोक में निवास करते हैं, वे मर्त्यलोक में और सर्वश्रेष्ठ सत्यलोक में रहते हैं। वे ही पृथिवी, जल, पर्वतों और शुभ कर्मों में प्रकट होते हैं, वे ही परम सत्य एवं सबसे महान् हैं।' इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी पूर्व कथित फलों को प्राप्त करता है। यह महोपनिषद् है।

॥ तृतीय उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति सहोवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १ ॥

प्रसिद्ध देवताओं ने जिज्ञासु भाव से ब्रह्माजी ने प्रश्न किया—'मन्त्रराज अनुष्टुप के अङ्गभूत मन्त्रों को हमारे प्रति कहने की कृपा करो।'

प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा—'प्रणव, यजुर्लक्ष्मी, गायत्री और नृसिंह गायत्री ये सब मंत्रराज के अङ्गभूत मन्त्र हैं। इनका ज्ञाता ऐश्वर्य प्राप्ति के साथ ही अन्त में अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः। यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थान

एकीभूतः प्रज्ञानघन एकानन्दमयो ह्यनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञ-स्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्यौ हि भूतानां नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः न प्रज्ञं प्रज्ञं नाप्रज्ञ न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम-चिन्त्मव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥ २

'ओंकार अविनाशी है, इसी की महिमा यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों से सम्बन्धित जो कुछ है, वह सब ओंकार ही है। उक्त तीनों कालों में अतीत जो है, वह भी ओंकार है। यह सब कुछ ओंकार रूप ब्रह्म है। यह भगवान् नृसिंह ब्रह्म ही है। उनके चार पाद हैं।

जाग्रत अवस्था और उससे व्याप्त यह स्थूल विश्व ही जिनका स्थान है और बाह्य संसार में जिनका ज्ञान प्रसारित है, सातों लोक जिनके अङ्ग हैं, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पंच प्राण और चार अन्तःकरण, इस प्रकार उन्नीस जिनके मुख हैं, जो इस स्थूल विश्व के भोगने वाले हैं, जो विश्व रूप देह में स्थित होने से वैश्वानर कहाते हैं, वही सर्वरूप वैश्वानर भगवान् श्रीनृसिंह के प्रथम पाद हैं।

स्वप्नावस्था और उससे प्रभावित यह सूक्ष्म विश्व ही जिनका स्थान है और आन्तरिक संसार में जिनका ज्ञान फैला हुआ है, सातों लोक जिनके अङ्ग और उन्नीस मुख हैं जो सूक्ष्म विश्व के भोक्ता, पालक एवं रक्षक हैं, ऐसे वे तैजस पुरुष ही भगवान् नृसिंह के द्वितीय पाद हैं।

सुषुप्ति और उससे उपलक्षित सम्पूर्ण विश्व की प्रलय रूप अवस्था ही जिनका स्थान है, जो एक रूप में ही स्थित हैं और जिनका रूप घनीभूत विज्ञान है, जिनका मुख चिन्मय प्रकाश है, जो स्वयं आनन्दमय हैं और जो अपने स्वरूप रूप आनन्द के भोगने वाले हैं तथा

जिनसे परे और कोई नहीं है, ऐसे वे प्राज्ञ पुरुष ही भगवान् नृसिंह के तृतीय पाद हैं।

उपरोक्त त्रिपाद परमेश्वर सबके स्वामी, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं। सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के स्थान भी वही हैं।

जो न स्थूल का ज्ञाता है, न सूक्ष्म का और न इन दोनों का ही ज्ञाता है, जो न प्रज्ञान का घनीभूत है, न दिखाई देता है, जो न व्यवहार में आता, न स्पर्श में, जो किसी आकार वाला भी नहीं है, जो अचिन्त्य और अवर्णनीय है, जिनका स्वरूप आत्मसत्ता की प्रतीति मात्र है। जो प्रपञ्च-रहित, कल्याणकारी अद्वितीय है, ऐसा पूर्ण ब्रह्म ही भगवान् नृसिंह का चतुर्थ पाद है इस प्रकार ज्ञानीजन मानते हैं। उपरोक्त चार पादों में जिनका वर्णन हुआ है वे भगवान् नृसिंह ही हैं। उन्हें जानना चाहिए ॥२॥

अथ सावित्री गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तया सर्वमिदं व्याप्तं घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं यं एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते तदेयदृचाभ्युक्तं ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेदा किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नार्थोऽस्ति यः सावित्रं वेदेति। ओंभूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति। गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं याजुषीं वेद महतीं श्रियमश्नुते। ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि। तन्नः सिंहः प्रचोदयात् इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति य एवं वेद निदानवान्भवति ॥ ३

अब सावित्री मन्त्र के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं—यह सावित्री मन्त्र, गायत्री छन्द से युक्त होकर यजुर्मन्त्र के रूप में प्रकट हुआ है। यह सभी विश्व उससे व्याप्त है। अष्टाक्षरी होने से इसे गायत्री कहा गया है। इसमें 'घृणिः' और 'सूर्य' दो-दो अक्षर हैं तथा 'आदित्यः' तीन अक्षर है, आरम्भ में इसे 'श्री' बीज से अलंकृत किया जाता है। इस प्रकार यह सावित्री मन्त्र अष्टाक्षरी कहा गया है। जो ज्ञानी इस मन्त्र का ज्ञाता है, वह लक्ष्मी के द्वारा अलंकृत होता है। ऐसा दृष्टान्त भी है कि 'ऋग्वेद की ऋचायें परम व्योमरूप अविनाशी, प्रकाशमान ब्रह्म में विद्यमान हैं, वहीं सब देवताओं का निवास है। जो साधक उन स्वयं तेजस्वी ब्रह्म को नहीं जानता वह स्वाध्याय से क्या लाभ उठा लेगा? जो ज्ञानी उस ब्रह्म के ज्ञाता हैं, वे परमधाम में आनन्दोपभोग करते हुए रहते हैं।' इस सावित्रमन्त्र के इस प्रकार जानने वाले को ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्र से कोई कार्य नहीं रहता।

'जो देवी भू-लोक की लक्ष्मी, भुवर्लोक की लक्ष्मी और स्वर्ग लोक की लक्ष्मी है, जो कालकर्णी नाम वाली है, वह महालक्ष्मी हमें श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करे।' यह यजुर्वेदोक्त महालक्ष्मी की गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है। यह सब दृश्यमान विश्व गायत्री रूप ही है। अतः जो इस गायत्री का ज्ञाता है, वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

'हम भगवान् नृसिंह की प्राप्ति के निमित्त उपासना करते हैं। वज्ररूप नखों वाले उन परमात्मा का ही हम चिन्तन करते हैं, वे ही नृसिंह भगवान् हमें सत्कर्मों में प्रेरित करें।' यह नृसिंह गायत्री देवताओं और वेदों के भी कारणभूता है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी भगवान् को प्राप्त होता है ॥३॥

देवा ह वै प्रजापति मब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगवन्निति स होवाच

प्रजापतिः । ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १ ॥ (यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु द्रष्टव्यौ) ॥ यश्च विष्णुः ॥ २ ॥ यश्च महेश्वरः ॥ ३ ॥ यश्च पुरुषः ॥ ४ ॥ यश्चेश्वरः ॥ ५ ॥ या सरस्वती ॥६ या श्रीः ॥ ७ ॥ या गौरी ॥ ८ ॥ या प्रकृतिः ॥ ९ ॥ या विद्या ॥ १० ॥ यश्चोंकारः ॥ ११ ॥ याश्चतस्रोऽर्धमात्राः ॥ १२ ॥ ये वेदाः साङ्गाः सशाखाः सेतिहासाः ॥ १३ ॥ ये च पंचाग्नयः ॥ १४ ॥ याः सप्त महाव्याहृतयाः ॥ १५ ॥ ये चाष्टौ लोकपालाः ॥ १६ ॥ ये चाष्टौ वसवः ॥ १७ ॥ ये चैकादश रुद्राः ॥ १८ ॥ ये च द्वादशादित्याः ॥ १९ ॥ ये चाष्टौ ग्रहाः ॥ २० ॥ यानि च पंच महाभूतानि ॥ २१ ॥ यश्च कालः ॥ २२ ॥ यश्च मनुः ॥ २३ ॥ यश्च मृत्युः ॥ २४ ॥ यश्च यमः ॥ २५ ॥ यश्चान्तकः ॥ २६ ॥ यश्च प्राणः ॥ २७ ॥ यश्च सूर्यः ॥ २८ ॥ यश्च सोमः ॥ २९ ॥ यश्च विराट् पुरुषः ॥ ३० ॥ यश्च जीवः ॥ ३१ ॥ यश्च सर्वम् ॥ ३२ ॥ इति द्वात्रिंशत् इति तान्प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम् । ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ ४ ॥

देवताओं ने प्रजापति से पुनः प्रश्न किया कि 'भगवान् नृसिंह किन स्तोत्रों से स्तुत होने पर प्रसन्न होते और अपने दर्शन देते हैं ?' इस पर प्रजापति ब्रह्माजी बोले—वे ऊपर लिखे १ से ३२ की संख्या वाले मन्त्रराज के बत्तीस मन्त्रों से परम प्रसन्न होते हैं । 'देवताओ ! इन मन्त्रों से नित्य प्रति भगवान् की स्तुति करो । ऐसा करने से भगवान् नृसिंह प्रसन्न होकर अपना साक्षात् दर्शन देते हैं । अतः जो इस प्रकार स्तुति करता है वह उनके विश्वरूप के दर्शन करता है और उसे

अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जानने वाले को भी उपरोक्त फल प्राप्त होता है। यह महोपनिषद् है।

॥ चतुर्थ उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नाष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वारं उद्योगिन उपदिशन्ति स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं व एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति षट्पत्रं चक्रं भवति षड्वा ऋतव ऋतुभिः सम्मितं भवति मध्ये नाभिर्भवति नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठिता मायया एतत्सर्वं वेष्टितं भवति नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति। अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्या सम्मितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा सम्पद्यते। अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति द्वादशाक्षरा वै जगती जगत्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति। अथ षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं भवति षोडशकलो वै पुरुषः पुरुष ऐवेदं सर्वं पुरुषेण संमितं भवति मायया बहिर्वेष्टितं भवति। अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवत्यरैर्वा एतत्सुबद्धं भवति वेदा वा एते आराः पत्रैर्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति छन्दांसि वै पत्राणि ॥ १

देवताओं ने प्रजापतिजी से श्रद्धापूर्वक कहा—'भगवन्! आनुष्टुभ मन्त्रराज के महाचक्र नामक चक्र के सम्बन्ध में बताने की कृपा करें। यह चक्र मोक्ष-द्वार और सम्पूर्ण अभीष्टों का पूरक बताया जाता है।'

इस पर प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा—'आपका कहना यथार्थ है। इस महाचक्र का नाम सुदर्शन है और यह छै अक्षरों से युक्त है। इसमें छः ऋतुएँ हैं, उन ऋतुओं की समता अरों से की जाती

है। इस चक्र में जो नाभि हैं, उसमें यह अरे जुड़े हुए हैं। सम्पूर्ण चक्र माया रूप नेमि से घिरा हुआ है। माया आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकती, इसलिये इस चक्र को माया ने बाहर से ही घेर रखा है। फिर आठ अरों वाला अष्टदल चक्र बनता है और गायत्री के भी आठ पाद होते हैं इसलिए गायत्री के पादों से अरों की समता की जाती है। माया ने इन्हें भी बाहर की ओर ही घेर रखा है। फिर द्वादश अरों वाला चक्र बनता है, द्वादश अक्षरों वाले जगती छन्द से इस द्वादश दल चक्र की समता की जाती है। यह भी माया द्वारा बाहर की ओर ही घिरा है। फिर सोलह दल वाला षोडशार बनता है यह सोलह कलाओं से युक्त है, भगवान् नृसिंह भी सोलह कला वाले हैं, इसलिये इसे साक्षात् भगवान् ही समझें। यह भी माया द्वारा बाहर की ओर ही आवेष्टित है। फिर बत्तीस अरों से युक्त चक्र बनता है, अनुष्टुप् में भी बत्तीस अक्षर होते हैं। अनुष्टुप् के अक्षरों से चक्र के अरों की समता करे। यह भी माया द्वारा बाहर की ओर ही आवेष्टित है। वेद ही इस चक्र के अरे हैं, छन्द इसके पत्ते हैं। उन पत्तों से ही यह सब ओर घूमता है ॥१॥

एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं नरसिंहमेकाक्षरं तद्भवति षट्सु पत्रेषु षडक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति षोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सबिन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति तद्वा एतत्सुदर्शनं नाम चक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति तस्य पुरस्ताद्वसव आसते रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद्विश्वे देवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोस्तदेतदृचाभ्युक्तं। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे

निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं कुर्यात्तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति ॥ २

यह बत्तीस दल वाला चक्र ही सुदर्शन नामक महाचक्र है । इसके बीच में जो नाभि है, उनमें ही भगवान् नृसिंह से सम्बन्धित तारक मन्त्र का न्यास करना चाहिए । वह तारक मन्त्र केवल एक अक्षर का है । छः पत्रों में षडाक्षरी सुदर्शन मन्त्र का न्यास होता है । आठ दलों में अष्टाक्षरी नारायण मन्त्र का और बारह दलों में द्वादशाक्षरी वासुदेव मन्त्र का न्यास होता है । सोलह दलों में षोडश अक्षर होते हैं । बत्तीस दलों में मन्त्रराज अनुष्टुभ का न्यास किया जाता है । यह सुदर्शन नामक महाचक्र सुविख्यात है । यह सभी अभीष्टों का पूरक, मुक्ति का द्वार और ऋक्, यजु, साम का साक्षात् रूप तथा अमृतयुक्त है । इनके पूर्व में अष्टावसु, पश्चिम में द्वादश आदित्य, उत्तर में विश्वेदेवा और दक्षिण में एकादश रुद्र रहते हैं । नाभि में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा इधर-उधर सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं ।

ऋचा में भी कहा है कि 'भगवान् नृसिंह परम व्योम रूप एवं अविनाशी हैं, उन्हीं में सम्पूर्ण वेद विद्यमान हैं । उन्हीं में सब देवता प्रतिष्ठित हैं । जो उन परमेश्वर भगवान् नृसिंह को नहीं जानता, उसे ऋग्वेद पढ़ने से कोई लाभ नहीं । जो पुरुष भगवान् नृसिंह और उनके महाचक्र का ज्ञाता है, वह परब्रह्म में स्थित होता है । इस महाचक्र को यदि कोई बालक अथवा युवा भी जान लेता है, वह महान् हो जाता

है और सब का गुरु होता है। मन्त्रराज अनुष्टुप् से ही पूजन और हवन करे। यह महाचक्र राक्षसों के डर से बचाने वाला है, यही मृत्यु से पार लगाने वाला है। गुरु से इसे यन्त्र रूप में लेकर कण्ठ, शिखा या भुजा में बाँधे। जो गुरु इस मन्त्र का उपदेश दे, उसे दक्षिणा में समूची पृथिवी भी दे दी जाय तो वह न्यून है। श्रद्धा के अनुसार जितना हो सके भू-भाग दान करे, वही सर्वश्रेष्ठ दक्षिणा है ॥२॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराज नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वपूतो भवति ॥ ३

देवताओं ने प्रजापति से पुनः पूछा—भगवन्! आनुष्टुभ मन्त्रराज का फल हमें कृपापूर्वक बताइये।'

प्रजापति बोले—'इस मन्त्रराज का दैनिक जप करने वाला पुरुष अग्नि में तपा कर शुद्ध किये सुवर्ण के समान हो जाता है। वह वायु, सूर्य और चन्द्रमा द्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। वह सत्य तथा लोक के द्वारा और ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा वेद के द्वारा शुद्ध हो जाता है ॥३॥

॥ नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

———

नृसिंहषट्चक्रोपनिषत्

ॐ देवा ह: वै सत्यं लोकमायंस्तं प्रजापतिमपृच्छन्नार-सिंहचक्रन्नो ब्रूहीति । तान्प्रजापमिनरिसिंहचक्रमवोचत् । षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति । यत् प्रथमं तच्चतुररं यद्द्वितीयं तच्चतुररं यत्तृतीयं तदष्टारं यच्चतुर्थं तत्पञ्चारं यत्पञ्चमं तत्पञ्चारं यत् षष्ठं तदष्टारं तदेताति षडेव नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति ॥

अथ कानि नामानि भवन्ति । यत् प्रथमं तदाचक्रं यद्-द्वितीयं तत्सुचक्रं यत्तृतीयं तन्महाचक्रं यच्चतुर्थं यत्सकललोक-रक्षणचक्रं यत्पञ्चमं तद्द्यूतचक्रं यद्वै षष्ठं तदसुरान्तकचक्रं तदेतानि षडेव नारसिंहचक्रनामानि भवन्ति ॥

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति । यत्प्रथमं तदान्तर-वलयं भवति । यद्द्वितीयं तन्मध्यमवलयं भवति । यत् तृतीयं तद्बाह्यं वलयं भवति । तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति । यदा तद्वै तद्बीजं यन्मध्यम तां नारसिंहगायत्रीं यद्बाह्यं तन्मन्त्रः ॥

अथ किमान्तरं वलयम् । षड्वान्तराणि वलयानि भवन्ति । यन्नारसिंह तत्प्रथमस्य यन्माहालक्ष्म्यं तद्द्वितीयस्य यत्सारस्वतं तत्तृतीयस्य यस्य यत्कामं देवं तच्चतुर्थस्य यत् प्रणवं तत्पञ्चमस्य तत्क्रोधदैवतं तत् षष्ठस्य । तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षडा-न्तराणि वलयानि भवन्ति ॥

ॐ देवताओं ने सत्य स्वरूप व्यापक लोकपिता प्रजापति से कहा हमें नारसिंह चक्र का उपदेश करो । तब उन्हें प्रजापति ने नारसिंह चक्र का उपदेश दिया, जो इस प्रकार है कि नारसिंह चक्र छः हैं । पहला चक्र चार 'अर' वाला (तांगे आदि के पहियों में जो गोलाकार रूप से

कई बारीक-बारीक डण्डे जुड़े रहते हैं उसे अर कहते हैं) दूसरा भी चार ही अर वाला, तीसरा आठ, चौथा पांच, पांचवां भी पांच अर वाला छठा आठ अर वाला है । सो इस प्रकार छः ही नारसिंह चक्र होते हैं । यह पूछे जाने पर कि उनके नाम क्या हैं ? प्रजापति ने उत्तर दिया—पहला आचक्र, दूसरा सुचक्र, तीसरा महाचक्र, चौथा सकल लोक रक्षण, पांचवां द्यूतचक्र एवं छठा असुरान्तचक्र के नाम प्रसिद्ध है । तो ये छः नारसिंह चक्रों के नाम हैं । ये पूछने पर कि उसके तीन वलय (वेष्टन) कौन-कौन हैं ? प्रजापति ने उत्तर दिया पहला आन्तर, दूसरा मध्यम, तीसरा बाह्य । ये तीन ही वलय हैं । इनमें जो मध्यम बीज है वह नारसिंह गायत्री एवं जो बाह्य है वह मन्त्र है ।

आन्तर वलय कितने हैं ? यह पूछे जाने पर उन्होंने कहा—आनन्तर वलयों की सख्या छः है । नारसिंहम् पहले का, महालक्ष्म्यं का, सारस्वत तीसरे का, जिसका जो नष्ट देव हो वह चौथे का, प्रणव (ओंकार) पाँचवे का, क्रोध दैवत छठे का नाम है । सो ये छः नारसिंह चक्रों के छः आन्तर वलय हुआ करते हैं ।

अथ किं मध्यम वलयम् । षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति । यन्नारसिंहाय तत्प्रथमस्य यद्विद्महे तद्द्वितीयस्य यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य यद्धीमहि तच्चतुर्थस्य यत्तन्नस्तत्पंचमस्य यत्सिंहः प्रचोदयादिति तत् षष्ठस्य । तदेतानि षण्णां नारसिंह चक्राणां षण्मध्यमानि वलयानि भवन्ति ॥

अथ किं बाह्यं वलयम् । षड्वै बाह्यानि वलयानि भवन्ति । यदाचक्रं यादात्मा तत्प्रथमस्य यत्सुचक्रं यत्प्रियात्मा तद्द्वितीयस्य यन्महाचक्रं यज्ज्योतिरात्मा तत्तृतीयस्य यत्सकल-लोकरक्षणचक्रं यन्मायात्मा तच्चतुर्थस्य यदाचक्रं यद्योगात्मा तत्पञ्चमस्य यदसुरान्तकचक्रं यत्सत्यात्मा तत् षष्ठस्य । तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षट् बाह्यानि वलयानि भवन्ति ॥

मध्यम वलयों की कितनी संख्या है ? यह जब पूछा तो प्रजापति ने उत्तर दिया—मध्यम वलयों की संख्या भी छः ही है। 'नारसिंहाय' प्रथम का 'विद्महे' दूसरे का 'वज्रनखाय' तीसरे का 'धीमहि' चौथे का 'तन्नः' पांचवे का 'सिंहः प्रचोदयात्' छठे का नाम है। सो ये छः नारसिंह चक्रों के छः वलय होते हैं। बाह्य वलय कितने तथा क्या है ! इसका उत्तर दिया कि बाह्य वलय भी छः ही होते हैं। जो आचक्र तथा आत्मा है वह पहले का, जो सुचक्र तथा प्रियात्मा है वह दूसरे का, जो महाचक्र तथा ज्योतिरात्मा वह तीसरे का, जो सकल लोक रक्षण चक्र तथा मायात्मा है वह चौथे का, जो आचक्र तथा योगात्मा है वह पांचवें का, जो असुरान्त चक्र तथा सत्यात्मा है वह छटे का नाम है। सो ये छः नारसिंह चक्रों के छः बाह्य वलय है।

क्वैतानि न्यस्यानि। यत्प्रथमं तद्धृदये यद्द्वितीयं तच्छिरसि यत्तृतीयं तच्छिखायां यच्चतुर्थं तत्सर्वेष्वङ्गेषु यत्पंचमं तत्सर्वेषु [!] यत् षष्ठं तत्सर्वेषु देशेषु। य एतानि नारसिंहानि चक्राण्येतेष्वङ्गेषु बिभृयात् तस्यानुष्टुप् सिध्यति। तं भगवान् नृसिंहः प्रसीदति। तस्य कैवल्यं सिध्यति। तस्य सर्वे लोकाः सिध्यन्ति। तस्य सर्वे जनाः सिध्यन्ति। तस्मादेतानि षण्णां नारसिंहचक्राण्यङ्गेषु न्यस्यानि भवन्ति। पवित्रं एतत्तस्य न्यसनम्। न्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति। कर्मण्यो भवति। ब्रह्मण्यो भवति। अन्यसानान्न नृसिंहानन्दी भवति। न कर्मण्यो भवति। तस्मादेतत्पवित्रं तस्य न्यसनम्॥

यो वा एतं नरसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति। स सर्वत्र शुद्धो भवति। स सर्वरक्षो भवति। भूतपिशाचशाकिनीप्रेतवन्ताकनाशको भवति। तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयात्तदेतन्नाश्रद्दधाय प्रब्रूयादिति॥

ये कहाँ रखने चाहिये इनका न्यास कहाँ करना चाहिये ? यह पूछने पर उत्तर दिया कि—जो पहला है वह हृदय में, जो दूसरा है वह शिर में, जो तीसरा है वह शिखा में, जो चौथा है वह सभी अङ्गों में, जो पाँचवाँ वह सभी (१) जो छठा वह सभी देशों में धारण करने चाहिये। जो इन नारसिंह चक्रों को इन-इन अङ्गों में धारण करता है, उसे अनुष्टुप सिद्धि हो जाती है। उसके ऊपर भगवान् नृसिंह प्रसन्न होते हैं। उसे मोक्ष प्राप्त होती है। उसे सभी लोक सिद्ध होते हैं (प्राप्त होते हैं) सभी लोग उसे सिद्ध होते हैं (उसके वश में हो जाते हैं।) सो ये छः नारसिंह चक्रों के अङ्गों में न्यास के स्थान हैं। इनका न्यास अत्यन्त पवित्र हैं इनके न्यास से मनुष्य नृसिंह को आनन्द देने वाला, कर्मण्य, ब्रह्मज्ञाता हो जाता है। इसके बिना न्यास के नृसिंह आनन्दित नहीं होते और मनुष्य कर्मण्य ही हो सकता है, सो यह अत्यन्त पवित्र हैं इनका न्यास ही अत्यन्त पवित्र है। जो इस नारसिंह चक्र का अध्ययन करता है वह सभी वेदों का अध्ययनकर्ता समझा जाता है। वह सभी यज्ञों का कर्त्ता समझा जाता है अर्थात् वह सभी यज्ञ कर चुका यह माना जाता है। उसने सभी तीर्थों में स्नान भी कर लिया। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। वह सभी जगह शुद्ध हो जाता है। वह सबकी रक्षा करने वाला होता है। भूत, पिशाच, शाकिन, प्रेत तथा वेताल आदि भया वह योनियों का नाश करने वाला भी वह होता है (उसके पास ये सब फटक नहीं सकते।) वह निर्भय हो जाता है। इस नारसिंह चक्र का उपदेश श्रद्धाहीन को किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए।

॥ नृसिंहषट्चक्रोपनिषत् समाप्त ॥

—:०:—

दक्षिणामूर्त्युपनिषत

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों एक साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीरवटमूले महासत्राय समेता महर्षयः शौनकादयस्त ह समित्पाणयस्तत्त्वजिज्ञासवो मार्कण्डेयं चिरञ्जीविनमुपसमेत्य पप्रच्छुः केन त्वं चिरं जीवसि केन वाऽऽनन्दमनुभवसीति ॥ १ ॥

परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानेनेति स होवाच ॥ २ ॥

किं तत् परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् । तत्र को देवः । के मन्त्राः । का निष्ठा । किं तज्ज्ञानसाधनम् । कः परिकरः । को बलिः कः कालः । किं तत्स्थानमिति ॥ ३ ॥

स होवाच । येन दक्षिणामुखः शिवोऽपरोक्षीकृतो भवति तत् परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् ॥ ४ ॥

यः सर्वोपरमे काले सर्वानात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते वा स देवः ॥ ५ ॥

ब्रह्मावर्त में महाभाण्डीर नामक बरगद के नीचे बड़े भारी दीर्घकालीन यज्ञ करने के लिये शौनकादि महाऋषि एकत्रित हुए तथा तत्व-ज्ञान की जिज्ञासा से हाथों में समिधायें लेकर (कुशहस्त होकर) चिरञ्जीवी मार्कण्डेय के पास आकर पूछा—महाराज ! आप कैसे

चिरकाल से जीवित रह रहे हो ? तथा कैसे आप अपार आनन्द का अनुभव करते रहते हो ? । २ । तब उन्होंने उत्तर दिया कि परम गुप्त जो शिव-तत्व का ज्ञान है वही मेरे चिरजीवी होने में कारण है । २ । तब शौनकादि, ऋषि बोले—वह परम गुप्त शिवतत्व ज्ञान क्या वस्तु है ? उसका आराध्य कौन देवता है ? मन्त्र कौन से हैं ? आस्था क्या है ? उस ज्ञान के साधन कौन से हैं ? (क्या सामग्री चाहिये) क्या वलि उसमें अपेक्षित है ? क्या काल है ? उसकी प्राप्ति का स्थान कौन-सा है ? । ३ । मार्कण्डेय बोले—जिससे दक्षिणा मुख नामक शिव दृष्टिगोचर होते हैं वही परम गुप्त शिवतत्व ज्ञान है । ४ । जो सकल विश्व के समाप्ति के समय सारे चराचर को अपने अन्दर लीन करके अपने आप आत्मानन्द के सुख में प्रसन्न रहते हैं (अर्थात् आत्माराम हो जाते हैं) तथा स्वयं प्रकाशित होते हैं वही इस तत्वज्ञान के देव हैं । ५ ।

अत्रैते मन्त्र रहस्यश्लोका भवन्ति अस्य श्रीमेधादक्षिणामूर्तिमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । देवता दक्षिणाऽऽस्यः । मन्त्रेणाङ्गन्यासः ॥ ६ ॥

ॐ आदौ नम उच्चार्य ततो भगवते पदम् ।
दक्षिणेति पदं पश्चान्मूर्तये पदमुद्धरेत् ॥७
अस्मच्छब्दं चतुर्थ्यन्तं मेधां प्रज्ञां पदं वदेत् ।
समुच्चार्य ततो वायुबीजं च्छं च ततः पठेत् ॥
अग्निजायां ततस्त्वेष चतुर्विंशाक्षरो मनुः ॥७
ध्यानम् स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे ।
दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥८
मन्त्रेण न्यासः—
आदौ वेदादिमुच्चार्य स्वराद्यं सविसर्गकम् ।

पञ्चार्णं तत उद्धृत्य अतरं सविसर्गकम् ।
अन्ते समुद्धरेत्तारं मनुरेष नवाक्षरः ॥६
मुद्रां भद्रार्थदात्रीं सपरशुहरिणं बाहुभिर्बाहुमेकं
जान्वासक्तं दधानो भुजग विलसमाबद्धकक्ष्यो वटाधः ।
आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटिजटाक्षीरगौरस्त्रिनेत्रो
दद्यादाद्यः शुकाद्यैर्मुनिभिरभिवृतो भावशुद्धिं भवो नः ।१०

इस विषय में मन्त्रों के रहस्य को प्रकट करने वाले श्लोक इस प्रकार हैं—इस-मेधादक्षिणामूर्ति मन्त्र का ऋषि ब्रह्मा है, छन्द गायत्री है, तथा देवता दक्षिणामुख है। ६। (मन्त्र के द्वारा अङ्गन्यास)

(नीचे दिये गये श्लोकों से मन्त्र निकलता है।)

प्रारम्भ में 'ॐ नमः' उच्चारण करके तब 'भगवते' इस पद को पुनः 'दक्षिणा' यह शब्द फिर 'मूर्तये' यह पद तत्पश्चात अस्मद् शब्द का चतुर्थी का एक वचन अर्थात् "मह्यं" पद एवं 'मेधां प्रज्ञां' इन पदों का उच्चारण करना चाहिये। 'प्र' उच्चारण कर तब वायु का बीज मन्त्र 'य' और उसके बाद 'च्छ' शब्द को पढ़े उसके बाद अग्निदेव की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' बोले—यही चौबीस अक्षर वाल मनु मन्त्र है।

भावार्थ यह हुआ कि 'ॐ नमो भगवते दक्षिण मूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा' यह मन्त्र पढ़ना चाहिए। ७। (ध्यान) मैं ऐसी दक्षिणामूर्ति की स्तुति करता हूँ जो कि स्फटिक मणि तथा चाँदी के समान गोरे वर्ण वाली है तथा जिसके हाथ में ज्ञान की मुद्रा स्वरूप तथा अमृततत्वदात्री विद्या स्वरूपिणी मोतियों की माला है। एवं जिसके शरीर पर साँप घूम रहे हैं और जिसके सिर पर चन्द्रमा है तथा जिसकी तीन आँखें हैं तथा जो अनेकों वेषों की धारणा किये हुए है। ८।

मन्त्र द्वारा न्यास—

प्रारम्भ में विसर्ग सहित स्वरों के आदि अक्षरों को एवं वेद के आदि अक्षर को अर्थात् 'ॐ' (अः उ म्) (ओ अः मं) को- पुनः पंचार्ण

अर्थात् 'दक्षिणामूर्तिः' शब्द को तत्पश्चात् विसर्ग सहित अतर शब्द को अर्थात् 'अतरः' को और अन्त में तार अर्थात् 'ॐ' का उच्चारण करे। यह नवाक्षर मनु-मन्त्र कहलाता है। ९। (ध्यान) ऐसे आद्य भगवान् शंकर हमें भावबुद्धि प्रदान करें जो कि शुकदेव आदि मुनियों से घिरे रहते हैं तथा जिनका एक हाथ कल्याणमय अभयदान की मुद्रा में है तथा अन्य दो हाथों में जिन्होंने फरसा तथा (हिरण) हरिण धारण कर रखा है। एवं जिनका एक हाथ जाँघ पर रक्खा है तथा जो बरगद के नीचे बैठे हैं जिनके शरीर पर बड़े-बड़े साँप घूम रहे हैं। साथ ही दूज के चाँद से जिनकी जटा सुशोभित है एवं जो कि दूध के समान गोरे रङ्ग के हैं तथा जिनकी तीन आँखें हैं। १०।

मन्त्रेण न्यासः—

तारं ब्लूं नम उच्चार्य मायां वाग्भवमेव च।
दक्षिणापदमुच्चार्य ततः स्यान्मूर्तये पदम् ॥११
ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्वह्निजायां ततो न्यसेत्।
मनुरष्टादशार्णोऽयं सर्वमन्त्रेषु गोपितः ॥१२
भस्मव्यापाण्डुराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला-
वीणापुस्तकैर्विराजत्कमलधरो योगपट्टाभिरामः।
व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः
सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः ॥१३

मन्त्रेण न्यासः—
तारं परां रमाबीजं वदेत् साम्बशिवाय च।
तुभ्यं चानलजायां तु मनुर्द्वादशवर्णकः ॥१४
वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां बिभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम्।
फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः सेव्यं वटाधः कृत-
नीडमीडे ॥ १५ ॥

प्रथम तारं अर्थात् 'ॐ' 'ब्लूं नमः' उच्चारण करके माया अर्थात् ह्रीं वाग्भव अर्थात् ऐं तथा दक्षिणा पद को कहकर पुनः 'मूर्तये' तथा 'ज्ञानंदेहि' और अन्त में 'अग्नि की स्त्री' अर्थात् 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करें अर्थात् 'ॐ' ब्लूं नमो ह्रीं ऐं दक्षिणा मूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा' इस अठारह अक्षर वाले मनु मन्त्र का उच्चारण करे। यह सब मन्त्रों में अत्यन्त गोपनीय है। ११—१२। (ध्यान) भस्म से जिनका सारा शरीर सफेद हो रहा है तथा जो कि चन्द्रमा के टुकड़े को धारण किये हैं एवं जो करकमल में ज्ञानमुद्रा (अभयदान की मुद्रा) रुद्राक्ष माला, वीणा एवं पुस्तक को धारण किये हैं तथा जो कि योगियों के पास रहने वाले पट्ट से (लकड़ी का बना हुआ भुजा टेकने का) सुशोभित हैं। एवं जो कि व्यास पीठ पर विराजमान हैं तथा श्रेष्ठ श्रेष्ठ मुनिजन जिनकी सेवा सुश्रूषा में लगे हैं और जो प्रसन्न मुख सर्पों से शोभित तथा व्याघ्र चर्म को धारण किये हैं ऐसे दक्षिणामूर्ति भगवान हमारी निरन्तर रक्षा करें। १३। (मन्त्र द्वारा न्यास) प्रथम ओं, ह्रीं, श्रीं, कहे पुनः 'साम्ब शिवाय' पुनः 'तुभ्यं' अन्त में स्वाहा—यह बारह अक्षर वाला मनुमन्त्र है। १४। ध्यानः—जिन्होंने हाथों में वीणा, पुस्तक तथा रुद्राक्ष माला धारण कर रक्खी है एवं (एक हाथ अभदान की मुद्रा में हमेशा ही रहता है) तथा जिसके गले की शोभा काले घने बादल के समान है। और जो श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ हैं सर्प जिनके शरीर पर लपलपा रहे हैं एवं जो शुकदेव आदि मुनियों द्वारा सेवित किये जा रहे हैं और जो कि बरगद के नीचे (वास किये) विराजमान हैं ऐसे भगवान की मैं स्तुति करता हूँ। १५।

विष्णु ऋषिरनुष्टुप् छन्दः। देवता दक्षिणाऽऽस्यः। मन्त्रेणन्यासः।

तारं नमो भगवते तुभ्यं वटपदं ततः।
मूलेति पदमुच्चार्य वासिने पद मुद्धरेत् ॥१६
वागीशाय पदं पश्चान्महाज्ञानपदं ततः।

दायिने पदमुच्चार्य मायिने नम उद्धरेत् ॥१७
आनुष्टुभो मन्त्र राजः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥१८
मुद्रापुस्तकवह्निनागविलसद्बाहुं प्रसन्नाननं
मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम् ।
अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं
न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये ॥१९

प्रथम 'ओं नमो भगवते तुभ्यं' पुन 'वट' शब्द तब 'मूल' शब्द फिर 'वासिने' शब्द कहकर 'वागीशाय' पुनः 'महाज्ञान' एवं 'दयिने' और 'मायिने' का उच्चारण कर अन्त में नमः शब्द का उच्चारण करे। अर्थात् 'ओं नमो भागवते तुभ्यं' वट मूल वासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः'। यह आनुष्टुभ मंत्रराज है जो कि सभी श्रेष्ठ मन्त्रों में उत्तम है। १६–१७–१८। (ध्यान)—अभय ज्ञान मुद्रा, पुस्तक तथा भयानक सर्पों से जिनके हाथ सुशोभित हैं और जो कि प्रसन्नमुख हैं। मोतियों के हार जिनकी शोभा बढ़ा रहे हैं और चन्द्रमा की कला से चमकने वाले मुकुट से जो अधिक शोभायमान लग रहे हैं। साथ ही जो अज्ञान को नाश करने वाले हैं और जो कि आदि पुरुष हैं और वाणी के जो विषय नहीं हैं (यत्र वाचो निवर्तको) ऐसे पार्वती के पति जो कि सबके गुरु हैं और बरगद के पेड़ के नीचे रहने वाले हैं, उनका मैं अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये ध्यान करता हूँ।१९।

सोऽहमिति यावदास्थितिः सा निष्ठा भवतिः ॥२०
तदभेदेन मन्त्राम्रेडनं ज्ञानसाधनम् ॥२१
चित्ते तदेकतानता परिकरः ॥२२
अङ्गचेष्टार्पणं बलिः ॥२३
त्रीणि धामानि कालः ॥२४
द्वादशान्तपदं स्थानमिति ॥२५

शरीर के नष्ट होने तक 'सोऽहं' मैं वही परब्रह्म हूँ, यही ब्रह्म-निष्ठा है।२०। उस परब्रह्म से अभिन्न मानकर पूर्ण कहे गये मनुमन्त्रों का बार-बार निरन्तर उच्चारण ही ज्ञान का साधन है। २१। चित्त से उस परमतत्व में एकता लगाकर ध्यान करना ही परिकर 'उपकरण' सामग्री है। २२। अंगों की चेष्टाओं का अर्पण ही बलि है अर्थात् हाथ पांव आदि चलाना (भगवत्कार्य में) ही उसकी पूजा है। २३। स्वअविद्यापद, स्थूल तथा सूक्ष्म बीजरूप तीन धाम ही काल हैं। २४। द्वादशांत पद अर्थात् हृदय किंवा सहस्रार (सहस्रदलकमल) ही परमात्मा की प्राप्ति का स्थान होने के कारण स्थान है। २५।

ते ह पुनः श्रद्दधानास्तं प्रत्यूचुः—कथं वाऽस्तोदयः। किं स्वरूपम्। को वाऽस्योपासक इति ॥ २६ ॥

स होवाच—

वैराग्यतैलसंपूर्णे भक्तिवर्तिसमन्विते।
प्रबोधपूर्णपात्रे तु ज्ञप्तिदीपं विलोकयेत् ॥२७
मोहान्धकारे निःसारे उदेति स्वयमेव हि।
वैराग्यमरणिं कृत्वा ज्ञानं कृत्वा तु चित्रगुम् ॥२८
गाढतामिस्रसंशान्त्यै गूढमर्थं निवेदयेत्।
मोहभानुजसंक्रान्तं विवेकाख्यं मृकण्डुजम् ॥२९
तत्त्वाविचारपाशेन बद्धं द्वैतभयातुरम्।
उज्जीवयन्निजानन्दे स्वस्वरूपेण संस्थित ॥३०
शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः ॥३१

सर्गादिकाले भगवान् विरञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य। तुतोष चित्ते वांछितार्थांश्च लब्ध्वा सोऽस्योपासको भवति धाता।३२।

य इमां परमरहस्यशिवतत्त्वविद्यामधीते स सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति। य एवं वेद स कैवल्यमनुभवतीत्युपनिषत् ॥ ३३ ॥

श्रद्धा से युक्त उन ऋषियों ने पुनः मार्कण्डेय से पूछा—इसका उदय कैसे होता है ? क्या इसका स्वरूप है ? और कौन इसका उपासक है ? । २६ (वह बोले) वैराग्यरूपी तेल से लबालब भरे हुये भक्ति रूपी बत्ती से युक्त प्रबोध के (ज्ञान के) पूर्ण मात्र में (वर्तन में) ज्ञप्ति रूपी (अपने अन्दर तथा चराचर में व्याप्त ईश्वर को अपनी आत्मा मानना) दीप का दर्शन होता है । २७ । अर्थात् वैराग्य भक्ति तथा ज्ञान से ही ईश्वर दर्शन होता है) सारहीन अपनी अज्ञता से कल्पित महान् अज्ञान रूपी अंधकार में वह दीप स्वयं ही उदित होता है । वैराग्य को अरणी बनाकर तथा अपने ज्ञान को ही मथने का डण्डा बनाकर गहन अज्ञान रूपी घने अन्धकार की समाप्ति के लिये गुप्त अर्थ को (परम तत्व को) जानना चाहिये । (अर्थात् निरन्तर वैराग्य तथा ज्ञान के परिशीलन से ही उस परम तत्व का दर्शन सम्भव है) तथा परमतत्व को विचार न करना रूपी जो पाश उससे बंधे हुए, द्वैतवाद के भय से व्याकुल एवं मोहरूपी शनि या मृत्यु के मुख में पड़े हुये विवेकरूपी मृकंडु के पुत्र (मार्कण्डेय) को (अपने अज्ञान से) पुनः उज्जीवित करते हुए आत्माराम रूपी परमानन्द में अपने स्वरूप से स्थित हो जाता है । । २८—२९—३० । तथा तत्वज्ञानरूपिणी ब्रह्म प्रकाशिका बुद्धि ही जिसमें दक्षिणा है और वही जिस परमतत्व के अभीक्षण में अर्थात् साक्षात्कार में मुख अर्थात् द्वार है वह ब्रह्मवादियों द्वारा दक्षिणामुख नामक शिव

कहे गये हैं । ३१ । सृष्टि (संसार) की रचना के प्रारम्भ में भगवान् ब्रह्मा, इनकी उपासना करके सृष्टि निर्माण की शक्ति को पाकर तथा अपने मनोरथ का लाभ करके हृदय में प्रसन्न हुये अतः वही इनके उपासक हैं । ३२ । जो इस अत्यन्त गुप्त शिवतत्व विद्या को पढ़ता है वह सभी पापों से मुक्त होता है, और जो इसको भली भांति जानता है, इसका मनन करता है गुह कैवल्यपद का (मोक्ष का) अनुभव करता है । ३३ ।

॥ दक्षिणामूर्त्युपनिषत् समाप्त ॥

शरभोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसतनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वति नो बृहस्पतिर्दधातु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है, उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अथ हैनं पैप्पलादो ब्रह्माणमुवाच भो भगवन्ब्रह्मविष्णुरुद्राणां मध्ये को वा अधिकतरो ध्येयः स्यात्तत्त्वमेव नो ब्रूहीति। तस्मै स होवाच पितामहश्च हे पैप्पलाद शृणु वाक्यमेतत्। बहूनि पुण्यानि कृतानि येन तेनैव लभ्यः परमेश्वरोऽसौ। यस्याङ्गजोऽहं हरिरिन्द्रमुख्याः मोहान्न जानन्ति सुरेन्द्रमुख्याः ॥१॥ प्रभुं वरेण्यं पितरं महेशं यो ब्रह्माणं विदधाति तस्मै। वेदांश्च सर्वान्प्रहिणोति चाग्र्यं तं वै प्रभुं पितरं देवतनाम् ॥२॥ ममापि विष्णोर्जनकं देवमीड्यं योऽन्तकाले सर्वलोकान्संजहार ॥ ३ ॥ स एकः श्रेष्ठश्च सर्वशास्ता स एव वरिष्ठश्च। यो घोरं वेषमास्थाय शरभाख्यं महेश्वरः। नृसिंह लोकहन्तारं संजघान महा-

बलः ॥ ४ ॥ हरिं हरन्तं पादाभ्यामनुयान्ति सुरेश्वराः । माधवोः पुरुषं विष्णुं विक्रमस्व महानसि ॥ ५ ॥ कृपया भगवान्विष्णु विददार नखैः खरैः । चर्माम्बरो महावीरो वीरभद्रो बभूव ह ॥ ६ ॥

एक समय पैप्पलाद ऋषि ने ब्रह्माजी से कहा—"हे भगवन् ! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन तीनों में से अधिकतर ध्यान के योग्य कौन है, यह आप ही बतलाइये ? ॥ १ ॥ पितामह ब्रह्मा ने कहा—"हे पैप्पलाद ! मेरे कथन को सुनो कि जिस परमेश्वर के अङ्ग से मैं उत्पन्न हुआ हूँ वह किसी बहुत पुण्यशाली को ही प्राप्त होता है, मुख्य विष्णु, इन्द्र और सुरेन्द्र भी मोहवश उसे नहीं जान पाते ॥१॥ वह सबका प्रभु है, श्रेष्ठ है, पिता है, परमेश्वर है, वही ब्रह्मा को धारण करता है, वही वेदों का पहले निर्णय करता है वही सबका प्रभु और देवताओं का पिता है ॥२॥ वह मेरा और विष्णु का भी पिता है, उसको नमस्कार है, वही अन्तकाल में समस्त विश्व का संहार करता है ॥ ३ ॥ वही एक मात्र सबसे श्रेष्ठ, सबका नियामक और वरिष्ठ है । उसी महाबलशाली ने शरभ का घोर रूप धारण करके नृसिंह को मार दिया ॥ ४ ॥ जब रुद्र विष्णु को पैर पकड़कर ले जा रहे थे तब सब देवताओं ने उनके पीछे-पीछे जाकर उनकी प्रार्थना की "दया करके पुरुषोत्तम विष्णु का वध मत कीजिये आप महान् हैं, आपकी जय हो ।" तब रुद्र ने तीक्ष्ण नखों से विष्णु को विदीर्ण किया और वे चर्माम्बर वाले रुद्र महावीर और वीरभद्र के नाम से कहे जाने लगे ॥ ५—६ ॥

स एको रुद्रो ध्येयः सर्वेषां सर्वसिद्धये । यो ब्रह्मणः पंचम-वक्त्रहन्ता तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ७ ॥ यो विस्फुलिङ्गेन ललाटजेन सर्वं जगद्भस्मसात्संकरोति । पुनश्च सृष्ट्वा पुनरप्य-रक्षदेवं स्वतन्त्रं प्रकटीकरोति ॥ तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ८ ॥ यो वामपादेन जघान कालं घोरं पपेऽथो हालहलं दहन्तम् ।

तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ९ ॥ यो वामपादार्चितविष्णुनेत्रस्तस्मै ददौ चक्रमतीव हृष्टः । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १० ॥

ऐसा एक भद्र ही सब सिद्धियों का दाता और सबका पूजनीय है। जिसने ब्रह्मा का पाँचवाँ मुख नष्ट कर दिया उसको नमस्कार ॥७॥ जो अपने मस्तक के अग्नि द्वारा समस्त जगत को भस्म कर देता है और फिर से उत्पन्न करके उसका पालन भी करता है, उस रुद्र को नमस्कार है ॥ ८ ॥ जिसने काल को अपने बाँये पैर से मार दिया और जलते हुये हलाहल विष को पी लिया, उस रुद्र को नमस्कार है ॥ ९ ॥ विष्णु ने जिसके बाँये पैर पर अपनी आँख निकाल कर चढ़ाई और इससे संतुष्ट होकर जिसने चक्र दे दिया, उस रुद्र को नमस्कार है ॥ १० ॥

यो द्रक्षयज्ञं सुरसङ्घान्विजित्य विष्णुं बबन्धोरगपाशेन वीरः। तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ११ ॥ यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह विष्णुं कविं सोमसूर्याग्निनेत्रः । सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात्पशुपतिर्बभूव । तस्मै रुद्रात नमो अस्तु ॥ १२ ॥ यो मत्स्यकूर्मादिवराहसिंहान्विष्णुं अवतार क्रमन्तं वामनमादिविष्णुम् । विविक्लवं पीड्यमानं सुरेशं भस्मीचकार मन्मथं यमं च। तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १३ ॥ एवंप्रकारेण बहुधा प्रतुष्ट्वा क्षमापयानासुर्नीलकण्ठं महेश्वरम् । तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्युजरादिभिः । नानाविधानि दुःखानि जहार परमेश्वरः ॥ १४ ॥ एवं मन्त्रैः प्रार्थ्यमान आत्मा वै सर्वदेहिनाम् । शङ्करो भगवानाद्यो ररक्ष सकलाः प्रजाः ॥ १५ ॥

दक्ष के यज्ञ में सब देवताओं को पराजित कर जिसने विष्णु को भी नागपाश में बाँध लिया उस महावीर रुद्र को नमस्कार है ॥ ११ ॥ जिसने लीलामात्र से त्रिपुर को दग्ध कर दिया, जिसके सूर्य, चन्द्र और अग्नि तीन नेत्र हैं, सब देवता जिसके सम्मुख पशुता (अधीनता) को प्राप्त हो गये और इससे जो पशुपति कहलाया, उस रुद्र को नमस्कार

है ॥ १२ ॥ जो मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन आदि विष्णु के अवतारों को भी श्रमिक करता है, जिसने कामदेव और यम को भस्म कर दिया, उस रुद्र को नमस्कार है ॥ १३ ॥ देवों ने इस प्रकार विविध भाँति से स्तुति करके नीलकण्ठ महेश्वर से क्षमा प्रार्थना की, तब उस परमेश्वर ने तीनों प्रकार के तापों और जन्म, मृत्यु, जरा आदि तथा अन्य तरह-तरह के दुःखों का नाश किया ॥ १४ ॥ इस प्रकार विविध प्रकार के मन्त्रों से प्रार्थना किये जाने पर उस आदि भगवान् शंकर ने आत्मरूप से सब प्रजा की रक्षा की ॥ १५ ॥

यत्पादाम्भोरुहद्वन्द्वं मृग्यते विष्णुना सह। स्तुत्वा स्तुत्यं महेशानमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १६ ॥ भक्त्या नम्रनतोर्विष्णोः प्रसादमकरोद्विभुः। यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कदाचनेति ॥ १७ ॥ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥१८॥ वसिष्ठवैयासकिवामदेवविरिञ्चिमुख्यैर्हृदि भाव्यमानः। सनत्सुजातादिसनातनाद्यै रीड्यो महेशो भगवानादिदेवः ॥१९॥ सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी महेशो नित्यानन्दो निर्विकल्पो निराख्यः। अचिन्त्यशक्तिर्भगवान्गिरीशः स्वाविद्यया कल्पितमानभूमिः ॥ २० ॥

वाणी और मन से भी जो अगोचर हैं और सब प्रकार की स्तुतियों के योग्य हैं, विष्णु जिनके चरण कमलों को प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं ऐसे भगवान महेश्वर भक्तिपूर्वक नमस्कार करने वाले विष्णु पर प्रसन्न हुये। जिसको प्राप्त न करके वाणी मन के साथ लौट जाती है, उस ब्रह्मानन्द का ज्ञाता कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता ॥ १६—१७ ॥ यह आत्मा छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है और सब प्राणियों के भीतर हृदय रूपी गुफा में निवास करता है। उस

द्रष्टारूप महान ईश्वर को शोक से रहित व्यक्ति भगवान् के प्रसाद से ही देखता है ॥ १८ ॥ वसिष्ठ, शुकदेव और वामदेव जैसे ऋषि तथा ब्रह्मादि सब देवता भी जिसका सदैव ध्यान करते हैं और सनत, सनातन आदि जिनकी स्तुति करते रहते हैं, ऐसे आदि भगवान महेश्वर देव हैं ॥ १९ ॥ वे महेश्वर, सत्य, नित्य, सर्वसाक्षी, नित्यआनन्द रूप, निर्विकल्प और कथन न कर सकने योग्य हैं। उनकी शक्ति की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, अज्ञानता से ही हम उनके स्थान आदि की कल्पना करते रहते हैं ॥ २० ॥

अतिमोहकरी माया मम विष्णोश्च सुव्रत। तस्य पादाम्बुजध्यानाद्दुस्तरा सुतरा भवेत् ॥ २१ ॥ विष्णुर्विश्वजगद्योनिः स्वांशभूतैः स्वकैः सह। ममांशसंभवो भूत्वा पालयत्यखिलं जगत् ॥ २२ ॥ विनाशं कालतो याति ततोऽन्यत्सकलं मृषा। ॐ तस्मै महाग्रासाय महादेवाय शूलिने। महेश्वराय मृडाय तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ २३ ॥ एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः। त्रील्लोकान्व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥ २४ ॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥ २५ ॥

हे सुव्रत ! मेरे (ब्रह्मा) और विष्णु के लिये भी उसकी माया अत्यन्त मोहग्रस्त करने वाली है। यद्यपि उसे पार कर सकना अत्यन्त कठिन है तो भी उनके चरण कमलों का ध्यान करने से उसे सुगमता पूर्वक पार किया जा सकता है ॥ २१ ॥ समस्त सृष्टि के उत्पन्न करने वाले विष्णु हैं, वे अपने अंश रूप जीवों के साथ मेरे ही अंश से होते हैं और विश्व का पालन करते हैं ॥ २२ ॥ कालक्रम से सब कुछ नष्ट हो जाता है और इसलिए यह मिथ्या है। इससे सबका महाग्रास करने वाले उस शूलधारी, महादेव, महेश्वर और कृपा करने वाले रुद्र को नमस्कार है ॥ २३ ॥ सब प्रकार की सृष्टि में विष्णु सबसे भिन्न और महान् हैं।

से यद्यपि सब भूतों में व्याप्त होकर सब प्रकार के भोगों को भोगते हैं फिर भी अव्यय रहते हैं ॥ २४ ॥ जिन विष्णु भगवान को चार, चार दो और पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, वे विष्णु मुझ पर प्रसन्न हों ॥२५॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २६ ॥ शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति नित्यं हरिः स्वयम् । ब्रह्मैव शरभः साक्षान्मोक्षदोऽयं महामुने ॥ २७ ॥ मायावशादेव देवा मोहिता ममतादिभिः । तस्य माहात्म्यलेशांश वक्तुं केनाप्यशक्यते ॥ २८ ॥ परात्परतरं ब्रह्म यत्परात्परो हरिः । परात्परतरो ह्मीशस्तस्मात्तुल्योऽधिको न हि ॥ २९ ॥ एक एव शिवो नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा । तस्मात्सर्वान्परित्यज्य ध्येयान्विष्ण्वादिकान्सुरान् ॥ ३० ॥ शिव एव सदा ध्येयः सर्वसंसारमोचकः । तस्मै महाग्रासाय महेश्वराय नमः ॥ ३१ ॥

अर्पण हवि ब्रह्म है, उसे ब्रह्म रूप कर्ता द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में हवन किया जाता है, यह भी ब्रह्म ही है । इसलिए समाधिस्थ योगी के लिए ब्रह्म ही प्राप्त करने योग्य है ॥ २६ ॥ जीव ही 'शर' है जिसके अङ्ग में स्वयं भगवान नित्य प्रकाशित होते हैं । इस प्रकार ब्रह्म ही 'शरभ' है, जो साक्षात् मोक्ष के प्रदान करने वाले हैं ॥ २७ ॥ जिसकी माया से देवगण भी मोहित रहते हैं. उसकी महिमा एक अल्प अंश भी कोई नहीं कह सकता ॥ २८ ॥ पर से परब्रह्म है, उससे पर विष्णु है, उससे भी पर से पर ईश हैं । उनसे बड़ा या उनके बराबर कोई भी नहीं है ॥ २९ ॥ एक मात्र शिव ही नित्य है और अन्य सब मिथ्या है इसलिये विष्णु आदि समस्त देवों का त्याग कर संसार-बन्धन से छुड़ाने वाले एक मात्र उनका ही ध्यान करना चाहिए । सबका संहार करने वाले उस महेश को नमस्कार है ॥ ३०—३१ ॥

पैप्पलादं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित् । नास्तिकाय

कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥ ३२ ॥ दाम्भिकाय नृशंसाय शठायानृतभाषिणे । सुव्रताय सुभक्ताय सुवृत्ताय सुशीलिने ॥३३॥ गुरुभक्ताय दान्ताय शान्ताय ऋजुचेतसे । शिवभक्ताय दातव्यं ब्रह्मकर्मोक्तधीमते ॥ ३४ ॥ स्वभक्ताय दातव्यमकृतघ्नाय सुव्रत । न दातव्यं सदा गोप्यं यत्नेनैव द्विजोत्तम ॥ ३५ ॥ एतत्पैप्पलादं महाशास्त्रं योऽधीते श्रावयेद्द्विजः स जन्ममरणेभ्यो मुक्तो भवति । यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । गर्भवासाद्विमुक्तो भवति । सुरापानात्पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति । गुरुतल्पगमनात्पूतो भवति । स सर्वान्वेदानधीतो भवति । स सर्वान्देवान्ध्यातो भवति । स समस्तमहापातकोपपातकात्पूतो भवति । तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति । स सततं शिवप्रियो भवति । स शिव सायुज्यमेति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते । इत्याह भगवान ब्रह्मेत्युपनिषत् ।

इस पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुये महाशास्त्र को चाहे जिस किसी को न देना चाहिये । नास्तिक, कृतघ्न, दुर्वृत्त, दुरात्मा, दाम्भिक, नृशंस, शठ, असत्यभाषी को इसे कदापि न दे । जो सुव्रतधारी, सम्यभक्त, शुद्धवृत्तिवाला, सुशील, गुरुभक्त, शम दम वाला, धर्म बुद्धिवाला, शिवभक्त ब्रह्म कर्म में चित्त लगाने वाला हो और अपने में भक्ति रखता हो कृतघ्न न हो उसी को इसे देना चाहिए । यदि ऐसा न मिले तो किसी को न देकर इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ३२—३५ ॥ पैप्पलाद के इस महाशास्त्र को जो स्वयं पढ़ता है तथा अन्य ब्राह्मणों को सुनाता है, वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है । जो इसे जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है, गर्भवास से छुटकारा पा जाता है । सुरापान, स्वर्ण की चोरी ब्रह्महत्या गुरुस्त्री गमन जैसे महा पापों से भी वह छूट जाता है । वह सब वेदों का अध्ययन करने वाला हो जाता है । उसे सब देवों के ध्यान

करने का फल मिल जाता है। वह समस्त महापातक और उपपातकों से छुटकारा पाकर पवित्र हो जाता है। इस प्रकार मुक्त होकर शिवजी का प्रिय होता है और शिव सायुज्य को प्राप्त करता है। उसका पुनरागमन नहीं होता—उसका पुनरागमन नहीं होता वह ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्माजी ने कहा, ऐसा यह उपनिषद् है ॥ ३६ ॥

॥ शरभोपनिषद् समाप्त ॥

रुद्रोपनिषत

विश्वमयो ब्राह्मणः शिवं व्रजति । ब्राह्मणः पञ्चाक्षरमनुभवति । ब्राह्मणः शिवपूजारताः । शिवभक्तिविहीनश्चेत् स चण्डालं उपचाण्डालः । चतुर्वेदज्ञोऽपि शिवभक्त्यान्तर्भवतीति स एव ब्राह्मणः । अयमश्चाण्डालोऽपि शिवभक्तोऽपि ब्राह्मणच्छ्रेष्ठतरः । ब्राह्मणस्त्रिपुण्ड्रवृतः । अत एव ब्राह्मणः । शिवभक्तेरेव ब्राह्मणः । शिवलिङ्गार्चनयुतश्चाण्डालोऽपि स एव ब्राह्मणाधिको वर्ति । अग्निहोत्रभसिताच्छिवभक्तचाण्डालहस्तविभूतिः शुद्धा । कपिशा वा श्वेतजापि धूम्रवर्णा वा । विरक्तानां तपस्विनां शुद्धा । गृहस्थानां निर्मलविभूतिः । तपस्विभिः सर्वभस्म धार्यम् । यद्वा शिवभक्तिसंपुष्टं सदापि तद्भसितं देवताधार्यम् ।

विश्वमय ब्राह्मण शिव के पास जाता है। वह पञ्चाक्षर का अनुभव करता है (नमः शिवाय का) ब्राह्मण वही है जो शिव की पूजा में लगा रहे । यदि वह शिव भक्ति से रहित होगा तो वह चाण्डाल अथवा उपचाण्डाल समझा जायेगा । चारों वेदों का ज्ञाता शिवभक्ति से अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला हो जाता है तथा वही प्रस्तुतः ब्राह्मण है। नीच चाण्डाल भी शिवभक्ति से युक्त होने पर ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण त्रिपुण्ड (तीन रेखा वाला तिलक) धारण करने वाला होना चाहिये । इसी में उसका ब्राह्मणत्व है । शिव भक्ति से ही वह ब्राह्मण कहलायेगा । शिवलिङ्ग की पूजा करने वाला चाण्डाल भी ब्राह्मण से अधिक श्रेष्ठ है । यज्ञ की भस्म से भी शिवभक्त चाण्डाल के हाथ की भस्म (राख) शुद्ध होती है । ये भस्म कुछ ताम्रवर्ण, सफेद, अथवा

मटमैली धुएँ के समान तीन तरह की होती है। विरक्त तपस्वियों के लिए शुद्ध गृहस्थियों के लिये स्वच्छ भस्म ठीक हुआ करती है। तपस्वियों को सभी भस्म करनी चाहिये अथवा शिवभक्ति से युक्त जिस भस्म में शिवभक्ति का ज्ञान—भावना कर लिया जाय उसे धारण करना चाहिए, वही देवताओं द्वारा भी धारण करने योग्य है।

ॐ अग्निरिति भस्म। वायुरिति भस्म। स्थलमिति भस्म। जलमिति भस्म। व्योमेति भस्म। इत्याद्युपनिषत्कारंणात् तत् कार्यम्। अन्यत्र "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वस्पात्। सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः।" तस्मात्प्राणलिङ्गी शिवः। शिव एव प्राणलिङ्गी। जटाभस्मधारोऽपि प्राणलिङ्गी हि श्रेष्ठः। प्राणलिङ्गी शिवरूपः। शिवरूपः प्राणलिङ्गी। जङ्गमरूपः शिवः। शिव एव जङ्गमरूपः। प्राणलिङ्गिनां शुद्धसिद्धिर्न भवति। प्राणलिंगिनां जङ्गमपूज्यानां पूज्यतपस्विनामधिकश्चण्डालोऽपि प्राणलिङ्गी। तस्मात्प्राणलिंगी विशेष इत्याह। य एवं वेद स शिवः। रुद्र पव रुद्रः प्राणलिङ्गी नान्यो भवति।

अग्नि, वायु, जल, स्थल, आकाश सभी भस्ममय हैं ऐसा समझ कर इसे धारण करना चाहिये। वह ईश्वर अन्यत्र 'चारों तरफ आँख वाला, चारों तरफ मुँह वाला, चारों ओर हाथ वाला, चारों ओर पैर वाला' बतलाया गया है। वह एक मात्र देव पृथ्वी आकाश को हाथों द्वारा उत्पन्न करता है। वह सभी द्वारा प्रणाम करने योग्य है। सभी (जल, थल, आकाशचारी) उसे प्रणाम करते हैं। अतः प्राणलिङ्गी ही शिव है। शिव ही प्राणलिङ्गी है। जटा तथा भस्म को धारण करने वाला प्राणलिङ्ग श्रेष्ठ है। प्राणलिङ्गी शिवरूप तथा शिव रूप प्राणलिङ्गी है। जङ्गम रूप शिव तथा शिव ही जङ्गमस्वरूप है। प्राण

लिंगियों की शुद्ध सिद्धि नहीं हुआ करती। प्राणलिंगियों में जंगम श्रेष्ठों में पूज्य, तपस्वियों में शिवभक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठ प्राणलिङ्गी है। इसलिये प्राणलिङ्गी श्रेष्ठ कहा जाता है, जो इस तथ्य को जानता है वह शिव ही है, जो रुद्र है, प्राणलिङ्गी है दूसरा कोई नहीं।

ॐ आत्मा परिशिवब्रह्मयो गुरुः शिवः। गुरूणां सर्वविश्वमिदं विश्वमन्त्रेण धार्यम्। दैवाधीन जगदिदम्। तद्दैवं तन्मन्त्रात् तनुते। तन्मे दैवं गुरुरिति। गुरूणां सर्वज्ञानिनां गुरुणा दत्तमेतदन्नं परब्रह्म। ब्रह्म स्वानुभूतिः। गुरुः शिवो देवः। गुरुः शिव एव लिङ्गम्। उभयोर्मिश्रप्रकाशत्वात्। प्राणतत्त्वात् महेश्वरत्वाच्च शिवस्तदेव गुरुः। यत्र गुरुस्तत्र शिवः। शिवगुरुस्वरूपो महेश्वरः। भ्रमरकीटकार्येण दीक्षिताः शिवयोगिनः शिवपूजापथे गुरुपूजाविधौ च महेश्वरपूजनान्मुक्ताः। लिङ्गाभिषेकं निर्माल्यं गुरोरभिषेकतीर्थं महेश्वरपादोदकं जन्ममालिन्यं क्षालयन्ति। तेषां प्रीतिः शिवप्रीतिः। तेषां तृप्तिः शिवतृप्तिः। तैश्च पावनो वासः। तेष निरसनं शिवनिरसनम्। आनन्दपरायणः। तस्माच्छिवं व्रजन्तु। गुरुं व्रजन्तु। इत्येव पावनम्।

ये आत्मा ब्रह्म तथा शिवमय हैं, गुरु हैं, शिवरूप है। गुरुओं को ये सारा विश्व विश्वमन्त्र से धारण करना चाहिये (मन्त्रों के प्रचार प्रसार से विश्व की स्थिति ठीक रखनी चाहिए) ये संसार दैवाधीन है। वह दैव उन मन्त्रों से प्रसारित होता है। वह दैव ही मेरा गुरु है। गुरुओं तथा सर्वज्ञों के गुरु द्वारा किया यह अन्न परब्रह्म रूप है(उपदेश) ब्रह्म अपने ही अनुभव से जाना जा सकता है। देव शिव ही गुरु है। गुरु शिव ही लिङ्ग रूप है। (निराकार ब्रह्म के चिन्ह हैं) दोनों के सम्मिलित प्रकाशित होने के कारण प्राणवान तथा महेश्वर होने के कारण शिव ही परम गुरु हैं। जहां गुरु है वहां शिव है शिव तथा गुरु स्वरूप ही वह महेश्वर है। भ्रमर-कीट सिद्धान्त के द्वारा (प्रसिद्ध है कि

भृङ्गी नामक कीड़ा अन्य कीड़ों को पकड़कर जब अपने घर में बन्द कर देता है तब वह कीड़ा य के कारण निरन्तर उस भृङ्गी को ध्यान करने के कारण भृङ्गी जैसा ही बन जाता है)। ठीक इसी प्रकार निरंतर शिव का ध्यान करने वाले शिवयोगी शिव पूजा के मार्ग में तथा गुरु पूजा की विधि में निरंतर एक चित्त होने के कारण महेश्वर के पूजन से मुक्त हो जाते हैं। शिव लिङ्ग का अभिषेक करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। गुरु के अभिषेक से तथा महेश्वर के चरणामृत से जन्मों के पाप धुल जाया करते हैं। इन सब में प्रेम करना ही शिव से प्रेम करना है। इसकी तृप्ति ही शिवतृप्ति है, इनके समीप रहना ही (चिन्तनादि के द्वारा भी) परम पवित्र वास है। उनका निरसन शिव निरसन ही है। इस प्रकार का ज्ञानी हमेशा आनंदयुक्त रहा करता है। अतः शिव की शरण लेनी चाहिए। गुरु की शरण] लेनी चाहिए।

॥ रुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

—:—

कालाग्निरुद्रोपनिषत

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्ति ।

अथ कालाग्निरुद्रोपनिषत् संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रोप देवता श्रीकालाग्निरुद्रप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।१

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ अधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रविधिं सतत्त्वं किं द्रव्यं कियत् स्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मन्त्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्त्ता किं फलमिति च ॥२॥

तं होवाच भगवान् कालाग्निरुद्रः । यद्द्रव्यं तदाग्नेयं भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म खमिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोके तनय इति समुद्धृत्य मा नो महान्तमिति जलेन संसृज्य त्रियायुषं जमदग्नेरिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेषु त्रियायुषैस्त्र्यम्बकैस्त्रिशक्तिभिस्तिर्यक् तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति तस्मात् समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय ॥३॥

ॐ किसी समय सनत्कुमार ने भगवान् ने कालाग्निरुद्रा से पूछा—"हे भगवन् ! त्रिपुण्ड की विधि तत्व सहित मुझे समझाइये कि वह क्या है, उसका स्थान कौन-सा है, उसका प्रमाण (आकार) कितना है, कितनी रेखाएँ हैं, कौन-सा मन्त्र है, उसकी शक्ति क्या है, कौन देवता है, कौन कर्ता है और उसका फल क्या होता है ?" यह सुनकर कालाग्नि रुद्र कहने लगे—त्रिपुण्ड का द्रव्य अग्निहोत्र की भस्म ही है, इस भस्म को, 'सद्यो जातादि' पाँच मन्त्र पढ़कर ग्रहण करना चाहिये—अर्थात् 'अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलामिति भस्म, स्थलमिति भस्म' व्योमेति भस्म' इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करे, 'मान-स्तोक' मन्त्र से अँगुली पर ले और 'मा नो महान्' मन्त्र से जल लेकर 'त्रियायुष' इस मन्त्र से शिर ललाट, वक्ष और कन्धे पर और त्रियायुष तथा त्र्यंबक मन्त्र से तीन रेखाएँ करना। इसका नाम शाम्भव व्रत कहा गया है। इस व्रत का कथन वेदवेत्ताओं ने सर्व देवताओं में किया है। जो मुमुक्ष यह इच्छा रखते हैं कि उनको पुनर्जन्म ग्रहण न करना पड़े वे इसे धारण करें।। १—३ ।।

अथ सनत्कुमारः प्रमाणस्य पप्रच्छ त्रिपुण्ड्राधारणस्य ।४।

त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोरामूर्ध्नोराभ्रुवोर्मध्यतश्च ।५।

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजः स्वात्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः प्रातः सवनं महेश्वरो देवतेति ।६।

याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरात्मा केच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यदिनं सवनं सदाशिवो देवतेति ।७।

याऽस्य तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकार स्तमः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ।८।

त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु

तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वान् वेदानधीतो भवति स सर्वान् देवान् ज्ञातो भवति स सततं सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति स सकलभोगान् भुङ्क्ते देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यमेति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान् कालाग्निरुद्रः।८।

यस्त्वेतद्वाऽधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ।१०।

इतना सुनकर सनत्कुमार ने प्रश्न किया कि त्रिपुण्ड की तीन रेखायें करने का क्या कारण है ? उत्तर मिला कि 'तीन रेखाओं में से प्रथम रेखा तो गार्हपत्य, अग्निरूप 'अ' कार रूप, रजोगुणरूप, भूलोक रूप, स्वात्मकरूप, क्रियाशक्तिरूप ऋग्वेदरूप, प्रातः सवनरूप और महेश्वर देव के रूप की है। दूसरी रेखा दक्षिणाग्निरूप, 'उ'कार रूप, स्वत्वरूप, अन्तरिक्ष रूप, अन्तरात्मारूप, इच्छाशक्तिरूप, यजुर्वेदरूप, माध्यंदिन सवनरूप और सदाशिव के रूप की है। तीसरी रेखा आहवनीयरूप, 'म'काररूप, तमरूप, द्यौ लोकरूप, परमात्मारूप, ज्ञानशक्ति रूप, सामवेद रूप तृतीय सवनरूप और महादेवरूप की है। इस प्रकार की त्रिपुण्ड की विधि से जो कोई ब्रह्मचारी गृहस्थ, वनप्रस्थी अथवा संन्यासी भस्म को धारण करता है तो वह महापातकों और उपपातकों से छूट जाता है। वह सब तीर्थों में स्नान करने के समान पवित्र हो जाता है, उसको समस्त वेदों का अध्ययन हो जाता है। सब देवताओं का वह ज्ञाता हो जाता है और सब रुद्र मन्त्रों के जाप के फल को प्राप्त करने वाला होता है। वह सब प्रकार के भोगों को भोगकर शिवलोक को प्राप्त होता है। वह फिर जन्म नहीं लेता। इस प्रकार भगवान कालाग्नि रुद्र ने कहा। जो इसका अध्ययन करता है वह भी उसी के समान हो जाता है ऐसा यह उपनिषद् है ॥४-१०॥

॥ कालाग्निरुद्रोपनिषत् समाप्त ॥

नीलरुद्रोपनिषत्

प्रथमः खण्डः

अपश्य त्वावरोहन्तं दिदितः पृथिवीमवः ।
अपश्यं युद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डिनम् ।।
दिव उग्रोऽवारुक्षत् प्रत्यस्थाद्भूम्यामधि ।
जनासः पश्यतेमं नीलग्रीवं विलोहितम् ।।
एष एत्यवीरहा रुद्रो जलासभेषजीः ।
वित्तेऽक्षेममनीनशद्वातीकारोऽप्येतु ते ।।
नमस्ते भवभामाय नमस्ते भवमन्यवे ।
नमस्ते अस्तु बाहुभ्यामुतो त इषवे नमः ।।
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिँसीः पुरुषं जगत् ।।
शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।।
या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः ।
शिवा शरव्या या तब तया नो मृड जीवसे ।।
या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशत् ।।
असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुर्विलोहितः ।
ये चेमे रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशाऽवैषांहेड ईमहे ।।१

हे नीलकण्ठ ! अपने दिव्य धाम से भूमण्डल पर अवतीर्ण होते हुए हमने आप को देखा । अपने उग्र रुद्र रूप से मोरपंख के समान

आकाश को अपना मुकुट बनाये हुए आप पृथिवी पर अविर्भूत होकर पृथिवी में ही प्रतिष्ठित होते हुए दुष्टों का संहार करते हुए हम आपको देखते हैं।

मनुष्यो ! इन भगवान् नीलकण्ठ का अत्यन्त रक्तवर्ण है, इनका दर्शन करो। यही भगवान् रुद्र हैं जो जल में उत्पन्न औषधियों में निहित होकर रोग रूप पापों को नष्ट करते हैं। यह प्राणियों के लिए प्राण रूप हैं। अमङ्गल को नष्ट करने के लिए और अप्राप्त कामनाओं को पूर्ण के लिए वे तुम्हारे निकट पधारें।

हे भगवान् रुद्र ! आपके क्रोध रूप को हमारा नमस्कार ! हे भगवान् भव ! आपके क्रोधावेश रूप को नमस्कार। हे भगवान् नील-कण्ठ ! आपकी दोनों भुजाओं और उनमें ग्रहण किए हुए बाणों को भी नमस्कार। हे कैलाश निवासी शिव ! आप पर्वत पर निवास करते हुए भी सबका कल्याण करते हो। आपने अपने जिस बाण का, दुष्टों को लक्ष्य बनाने के लिए संधान किया है, उस बाण को हमारे लिए कल्याण करने वाला कीजिए। उसके द्वारा हमारे जनों का संहार मत करना।

हे कैलाशवासी शिव ! हम अपनी मङ्गलमयी वाणी के द्वारा आपके अत्यन्त निर्मल यश का गान करते हैं। क्योंकि ऐसा करने से यह सम्पूर्ण विश्व हमारे अनुकूल होकर दुःख से शून्य हो जायगा। आपके बाण कल्याणकारी हैं। आपका धनुष और उसकी प्रत्यञ्चा भी कल्याण के करने वाली है। हे कल्याणस्वरूप ! अपने इन आयुधों के द्वारा आप हमें जीवन देते हैं।

हे भगवान् रुद्र ! आप पर्वत पर निवास करते हुए भी सबका मङ्गल करते हैं। आपका जो पापनाशक स्वरूप है, उसके द्वारा हमें सब ओर से प्रकाश दीजिए। आपके लाल, अत्यन्त लाल, भूरा तथा ताम्रवर्ण वाले विभिन्न स्वरूप हैं, उन सबकी स्तुति के लिए हम अभिलाषा करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीयः खण्डः

अपश्यं त्वावरोहन्तं नीलग्रीवं विलोहितम् ।
उत त्वा गोपा अदृशन्नुत त्वोदहार्यः ॥
उत त्वा विश्वा भूतानि तस्मै दृष्टाय ते नमः ।
नमो अस्तु नीलशिखण्डाय सहस्राक्षाय वाजिने ॥

अथो ये अस्य सत्वानस्तेभ्योऽहमकरं नमः ।
नमांसि त आयुधायानातताय धृष्णवे ॥
उभाभ्यामकरं नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ।
प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरात्नियोर्ज्याम् ॥

या श्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ।
अवतत्य धनुस्त्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे ॥
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः शंभुराभर ।
विज्य धनुः शिखण्डिनो विशल्यो बाणवाꣳ उत ॥

अनेशन्नस्येषव आभुरस्य निषङ्गथिः ।
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ॥
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्निधेहि तम् ।
या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ॥

तया त्वं विश्वतो अस्मानयक्ष्मया परिब्भुज ।
नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ॥
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ।
ये वाभिरोचने दिवि ये च सूर्यस्य रश्मिषु ॥

येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ।
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीनाम् ।
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥२

हे अधिक लाल वर्ण वाले नीलकण्ठेश्वर ! हमने आपको पृथिवी पर अवतीर्ण होते हुए देखा है। आपकी उस अवतार रूप अवस्था के देखने वाले गोप और गोपियाँ हैं। आपका स्वरूप गोपियों के लिए भी दिखाई देना कठिन है, परन्तु उसके अवतीर्ण होने पर विश्व के सभी प्राणियों ने दर्शन किये। आपके उस कृष्णस्वरूप को हमारा नमस्कार। हे मोरमुकुट धारी प्रभो ! हम आपको नमस्कार करते हैं। आप ही महान् शक्ति वाले इन्द्र हैं। अपने भक्तों के समक्ष आप सहस्राक्ष विराट् रूप में भी दर्शन देते हैं। आपके इस रूप के जो सहचर, बाल-गोपाल गोपिकाऐं आदि हैं, वे भी हमारे नमस्कार के पात्र हैं।

हे प्रभो ! आपके अत्यन्त शक्तिशाली उन आयुधों को भी अनेकानेक नमस्कार हैं, जो इस समय शान्त रूप में स्थित हैं। मैं आपके धनुष को करबद्ध प्रणाम करता हूँ। अब आप अपने धनुष की प्रत्यंचा को शत्रु के लिए भी प्रयुक्त मत कीजिये। आप अपने बाण को हाथ से उतार कर तूणीरस्थ करके अपने परम कल्याणमय एवं सौम्य शिव रूप का मुझे दर्शन करावें।

हे सहस्राक्ष ! आप सौ-सौ बाणों का एक साथ संधान करने वाले हैं। आप अपने बाणों के मुखों को तीक्षण कर हमारे कल्याणार्थ उन्हें धनुष पर चढ़ावें। शत्रु-नाश के पश्चात् आपके धनुष से प्रत्यंचार उतर जाय और आपके बाण संताप देना त्याग कर शान्तिपूर्वक तूणीर में निवास करें। वे पर्वतों को चूर्ण कर देने वाले बाण कल्याणकारी हो जाँय। आपका शर-संधान हमारी चारों ओर से रक्षा करें। रक्षा करने के पश्चात् उस बाण को आप तूणीर में स्थित कर दें। हे कृपा-वर्षक प्रभो ! आप अपने अमोघ बाण और धनुष के द्वारा चारों ओर से हमारे रक्षक हों।

जो सर्प पृथिवी पर वास करते हैं, उन्हें हमारा नमस्कार। आकाश और स्वर्ग में रहने वाले सर्पो को भी नमस्कार सूर्य की रश्मियों, प्रकाश-

मय लोकों और जलों में निवास करने वाले सब सर्पों को नमस्कार। जो सर्प राक्षसों के बाण रूप हैं, गड्ढों में रहते हैं तथा वनस्पतियों में निवास करते हैं, उन सर्पों को नमस्कार ॥ २ ॥

तृतीयः खण्डः

यः स्वजनान्नीलग्रीवो यः स्वजनान्हरिः ।
कल्माषपुच्छमोषधे जम्भयोताश्वरुन्धति ॥
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च नीलग्रीवश्च यः शिवः ।
शर्वेण नीलकण्ठेन भवेन मरुतां पिता ॥
विरूपाक्षेण बभ्रुणा वाचं वदिष्यतो हतः ।
शर्व नीलशिखण्ड वीर कर्मणि कर्मणि ॥

इमामस्य प्राशं जहि येनेदं विभजामहे । नमो भवाय । नमश्शर्वाय । नमः कुमाराय शत्रवे । नमः सभाप्रपादिने । यस्याश्वतरौ द्विसरौ गर्दभावभितस्सरौ । तस्मै नीलशिखण्डाय नमः । नीलशिखण्डाय नमः ॥ ३ ॥

हे औषधियो ! जो भगवान् शिव विश्व के कल्याण के लिए विष-पान कर नीलकण्ठ हो जाते हैं, तथा जो अपने भक्तों का मङ्गल करने के लिए हरि रूप धारण करते हैं, उन काली पूँछ वाले केदारेश्वर प्रभु के लिए अमोघ शक्ति वाली होकर उन्हें सन्तुष्ट करो।

भगवान् शिव पिंगलवर्ण देह और कानों वाले हैं, वही नीलकण्ठ वाले सर्व स्वरूप और सर्व व्यापक हैं। उन्हीं विरूपाक्ष भव के द्वारा वाणी के जनक और देवताओं का ही नहीं सम्पूर्ण प्राणियों के पिता ब्रह्माजी का संहार हुआ। प्रत्येक कर्म में उन्हें ही व्यापक रूप से देखो और उनके सम्बन्ध में शङ्का का परित्याग करो। इस विश्व को जिस शङ्का द्वारा हम उनसे पृथक् मान लेते हैं, वह शंका सर्वथा त्याज्य है।

संसार के कारण भव को नमस्कार, संहार करने वाले रुद्र को नमस्कार, संसार के संहारक भगवान् शंकर को नमस्कार, नीलमुकुट धारी और काले सींग वाले केदारेश्वर को नमस्कार। दक्ष के यहां मण्डप को सुशोभित करने वाले कुमार रूप शिव को नमस्कार।

जिन नीलशिखण्डधारी से अश्व, खच्चर, गर्दभ आदि-आदि की उत्पत्ति हुई, उनको नमस्कार। सभा मण्डप को सुशोभित करने वाले शिव रूप ईश्वर को बारम्बार नमस्कार॥ ३॥

॥ नीलरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

—:o:—

रुद्रहृदयोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें। ॐ शांति, शांति, शांति ।

हरि ॐ हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्ष गण दर्शनम् ।
तारसारं महावाक्यं पञ्च ब्रह्माग्निहोत्रकम् ॥
प्रणम्य शिरसा पादौ शुको व्यासमुवाच ह ।
को देवः सर्वदेवेषु कस्मिन् देवाश्च सर्वशः ॥१
कस्य शुश्रूषणान्नित्यं प्रीता देवा भवन्ति मे ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पिता शुकम् ॥२
सर्वदेवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः ।
रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविर्ब्रह्मा त्रयोऽग्नयः ॥३
वामपार्श्वे उमादेवी विष्णुः सोमोऽपि ते त्रयः ।
या उमा सा स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स हि चन्द्रमाः ॥४
ये नमस्यन्ति गोविन्दं ते नमस्यन्ति शंकरम् ।
येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चयन्ति वृषध्वजम् ॥५

प्रणव के मूल तत्व को कहने वाले रुद्रहृदय, योग-कुण्डली, भस्म जाबाल, रुद्राक्ष जाबाल और गणपति यह पांच उपनिषद् हैं । इन्हें ब्रह्म-

ज्ञान से सम्बन्धित अग्निहोत्र के पञ्च महामन्त्र कहा गया है तथा यही श्रुति के पंच महावाक्य माने गए हैं।

एक बार श्री शुकदेवजी ने अपने पिता महाज्ञानी व्यासजी महाराज के चरणों में शीश झुकाकर निवेदन किया—'प्रभो! सब वेदों ने किस देव का प्रतिपादन किया है और समस्त देवताओं का वास किस देव में है, यह कृपा कर मेरे प्रति कहिये और यह भी बताइये किस देवता की उपासना करने से सभी देवता मुझ पर प्रसन्न होंगे?' ऐसा प्रश्न सुनकर तत्वज्ञानी व्यासजी ने कहा—हे पुत्र! भगवान् रुद्र में सब देवता निवास करते हैं। रुद्र भगवान् के दक्षिण पार्श्व में सूर्य, ब्रह्मा एवं गार्हपत्य, दक्षिणादि तीनों अग्नियों की स्थिति है। वाम पार्श्व में उमा, विष्णु और सोम स्थित हैं। इन तीनों में भी कोई भेद नहीं है। क्योंकि उमा ही विष्णु भगवान् हैं और विष्णु ही सोम हैं। जो गोविन्द को नमस्कार करते हैं, उनका नमस्कार भगवान् शंकर को स्वयं ही पहुँच जाता है। जो भक्त भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं वे मानों वृषभध्वज की ही पूजा करते हैं ॥ १—५ ॥

ये द्विपन्ति विरूपाक्षं ते द्विपन्ति जनार्दनम्।
ये रुद्रं नाभिजानन्ति ते न जानन्ति केशवम् ॥६
रुद्रात् प्रवर्तते बीजं बीजयोनिर्जनार्दनः।
यो रुद्रः स स्वयं ब्रह्म यो ब्रह्मा स हुताशनः ॥७
ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र अग्नीषोमात्मकं जगत्।
पुंलिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं भगवत्युमा ॥८
उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजङ्गमाः।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम् ॥९
उमाशंकरयोर्योगः य योगो विष्णुरुच्यते।
यस्तु तस्मै नमस्कारं कुर्याद्भक्तिसमन्वितः ॥१०

जो भगवान् आशुतोष से द्वेष करने वाले है, वे जनार्दन प्रभु के प्रिय कभी नहीं हो सकते। जो रुद्र के ज्ञाता नहीं हैं, वे केशव के भी ज्ञाता नहीं हो सकते। क्योंकि रुद्र ही जीव के उत्पन्नकर्त्ता हैं और बीज की योनि रूप भगवान् विष्णु है। रुद्र ही ब्रह्मा है, ब्रह्मा ही अग्नि हैं। रुद्र ही ब्रह्मा और विष्णु रूप हैं। यह अग्नि और सोम से सम्बन्धित विश्व भी रुद्र ही है। सृष्टि में जितने प्राणी पुल्लिग रूप से हैं, वे सभी रुद्र हैं तथा स्त्रीलिंगात्मक समस्त देहधारी हैं वे उमा हैं। इस प्रकार जङ्गम रूप यह सम्पूर्ण सृष्टि रुद्र और उमा रूप है। अव्यक्त ससार रुद्र का रूप और व्यक्त ससार भगवती का उमा रूप है। उमा और शङ्कर दोनों के मिलने से विष्णु कहे जाते हैं। जो विष्णु को नमस्कार करते हैं वे त्रिविधात्मा के ज्ञाता होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाते है ॥६-१०॥

आत्मानं परमात्मानमन्तरात्मानमेव च ।
ज्ञाता त्रिविधमात्मानं परमात्मानमाश्रयेत् ॥११
अन्तरात्मा भवेद्ब्रह्मा परमात्मा महेश्वरः ।
सर्वेषामेव भूतानां विष्णुरात्मा सनातनः ॥१२
अस्य त्रैलोक्यवृक्षस्य भूमौ विटपशाखिनः ।
अग्रं मध्यं तथा मूलं विष्णुब्रह्ममहेश्वराः ॥१३
कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।
प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा कृता ॥१४
धर्मो रुद्रो जगद्विष्णुः सर्वज्ञानं पितामहः ॥१५
श्रीरुद्र रुद्र रुद्रेति यस्तं ब्रूयाद्विचक्षणः ।
कीर्तनात् सर्वदेवस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६

सब प्राणियों के आत्मा विष्णु हैं, अन्तरात्मा ब्रह्मा और परमात्मा भद्र हैं। इस लोकत्रय रूप वृक्ष की शाखायें पृथ्वी पर फैली हुई हैं, इसके अग्र भाग विष्णु, क्रिया रूप ब्रह्मा और मूल भाग रुद्र हैं।

कार्य रूप विष्णु, क्रिया रूप ब्रह्मा और कारण रूप रुद्र हैं। इस प्रकार भगवान् रुद्र ने ही प्रयोजन के अनुसार अपने तीन रूप धारण किए हैं। संसार विष्णुरूप, ज्ञान ब्रह्मारूप और धर्म रुद्ररूप हैं। जो ज्ञानी पुरुष रुद्र के नाम का जप करता है, वह इससे सभी देवताओं के नाम-जप का फल पाकर सब पापों से छूट जाता है ॥११-१६॥

रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः ॥१७
रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी तस्मै नमो नमः।
रुद्रो विष्णुरुमा लक्ष्मीस्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥१८
रुद्रः सूर्य उमा छाया तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रः सोम उमा तारा तस्मै तस्यै नमो नमः ॥१९
रुद्रो दिवा उमा रात्रि तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो यज्ञ उमा वेदिस्तस्यै तस्मै नमो नमः ॥२०
रुद्रो वह्निरुमा स्वाहा तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो वेद उमा शास्त्रं तस्यै नमो नमः ॥२१
रुद्रो वृक्ष उमा वल्ली तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो गन्ध उमा पुष्पं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥२२
रुद्रोऽर्थं अक्षरः सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो लिङ्गमुमा पीठं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥२३
सर्वदेवात्मकं रुद्रं नमस्कुर्यात् पृथकपृथक्।
एभिर्मन्त्रपदैरेव नमस्यामीशपार्वती ॥२४
यत्र यत्र भवेत् सार्धमिमं मन्त्रमुदीरयेत्।
ब्रह्महा जलमध्ये तु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२५

रुद्ररूप पुरुष और उमा रूप स्त्री, इस प्रकार के रूप द्वय में भगवान् शङ्कर और भगवती उमा को नमस्कार है। रुद्र ब्रह्मा स्वरूप

और उमा वाणी स्वरूप हैं। इन दोनों रूप में उमा महेश्वर को नमस्कार है। रुद्र रूप विष्णु और उमा रूप लक्ष्मी को नमस्कार है। सूर्य रुद्र हैं छाया उमा है, उनके इन दोनों रूपों को नमस्कार है। चन्द्रमा और तारा रूप रुद्र-उमा को नमस्कार है। दिवस-रात्रि रूप शंकर-उमा को नमस्कार है। यज्ञ और वेदी रूप शिव और उमा को नमस्कार है। वेद-शास्त्र रूप शकर और उमा को नमस्कार है। वृक्ष और लता रूप शंकर-उमा को नमस्कार है। अर्थ और अक्षर रूप शिव-उमा को नमस्कार है। लिंग और पीठ रूप शकर-उमा को नमस्कार है। इस प्रकार इन वेदात्मक रुद्र और उमा को पृथक्-पृथक् नमस्कार करना चाहिए। मैं भी इन मन्त्रों द्वारा शिव-उमा को नमस्कार किया करता हूँ। जहाँ भी, जिस स्थिति में रहना हो, वहीं इस अर्घालीयुक्त मन्त्र का जप करता रहे। जिसने ब्रह्म-हत्या की हो वह भी यदि जल में प्रविष्ट होकर इस मन्त्र को जपे तो सभी पापों से छट जाता है ॥१७-२५॥

सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
सच्चिदानन्दरूपं तदवाङ्मनसगोचरम् ॥२६
तस्मिन् सुविदिते सर्वं विज्ञातं स्यादिदं शुक।
तदात्मकत्वात् सर्वस्य तस्माद्भिन्नं न हि क्वचित् ॥२७
द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापरा च ते।
तत्रापरा तु विद्यैषा ऋग्वेदो यजुरेव च ॥२८
सामवेदस्तथाऽथर्ववेद शिक्षा मुनीश्वर।
कल्पो व्याकरणं चैव निरुक्तं छन्द एव च ॥२९
ज्योतिषं च तथाऽनात्मविषया अपि बुद्धयः।
अथैषा परमा विद्या ययाऽऽत्मा परमाक्षरम् ॥३०
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम्।
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा ॥३१

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ।
तद्भूतयोनि पश्यन्ति धीरा नात्मानमात्मनि ॥३२

हे शुक ! जो सनातन परम ब्रह्म सबका अधिष्ठान, मन और वाणी से अगोचर और सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, उसे जो भले प्रकार जान लेता है वह इस सम्पूर्ण रहस्य का ज्ञाता हो जाता है। क्योंकि उस ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। यह सब उसी का स्वरूप है। परा और अपरा नाम की दो विद्यायें हैं वे साधक के लिये ज्ञातव्य हैं। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, यह चारों वेद, शिक्षा, कल्प, छन्द, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष यह अपरा है। इसमें आत्म-विषय के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार का बौद्धिक ज्ञान भरा हुआ है। परन्तु जिसके द्वारा आत्म-ज्ञान होता है वह परा विद्या है। वही परम अविनाशी आत्मतत्व है। वह दिखाई नहीं पड़ता, न ग्रहण किया जा सकता है। उसका नाम, रूप, व गोत्रादि कुछ नहीं है। उसके न नेत्र हैं, न कान हैं, हाथ-पाँव भी नहीं हैं। वह विषयों से परे, नित्य, विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से सर्वगत और निर्विकार है। वह सब भूतों का आश्रय स्थान है। ज्ञानी पुरुष उस परमात्मा का अपने ही आत्मा में दर्शन करते हैं ॥२६-३२॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादत्रान्नरूपेण जायते जगदावलि ॥३३
सत्यवद्भाति तत् सर्वं रज्जुसर्पवदास्थितम् ।
तदेतदक्षरं सत्यं तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥३४
ज्ञानादेव हि संसारविनाशो नैव कर्मणा ।
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वगुरुं गच्छेद्यथाविधि ॥३५
गुरुस्तमै परां विद्यां दद्यद्ब्रह्मात्मबोधिनीम् ।
गुहायां निहितं साक्षादक्षरं वेद चेन्नरः ॥३६
छित्वाऽविद्यामहाग्रन्थि शिवं गच्छेत् सनातनम् ।
तदेतदमृतं सत्यं तद्बोद्धव्यं मुमुक्षुभिः ॥३७

ब्रह्म से ही भोक्ता एवं अन्य-रूप युक्त यह विश्व प्रकट होता है। वह ब्रह्म सर्वज्ञ एवं सब विद्याओं का आश्रयस्थान है। उसका तप ज्ञान ही है। सत्य के समान दिखाई पड़ने वाला यह विश्व रस्सी में सर्प के आभास के समान ही ब्रह्म में स्थित है। यह विश्व असत्य है, परन्तु ब्रह्म अविनाशी एवं सत्य है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। कर्म से संसार की पाश नहीं कटती, वह तो ज्ञान से ही छिन्न-भिन्न होती है। इसलिए मुक्ति-काम्य पुरुष को अपने ब्रह्मनिष्ठ एवं श्रोत्रिय गुरु की शरण लेनी चाहिए। वह गुरु उसे आत्मा और ब्रह्म के एक होने का ज्ञान कराने वाली परिविद्या सिखावे। गुहा में अलक्षित उस अविनाशी ब्रह्म से जो पुरुष साक्षात् कर लेता है, उसके अविद्या रूपी बन्धन तो कट जाते हैं और फिर वह पुराण पुरुष शिव के समीप जाता है। अमृतरूप सत्य मोक्ष की कामना वाले साधकों के लिए ज्ञातव्य है।

धनुस्तारं शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥३८
लक्ष्यं सर्वगतं चैव शरः सर्वगतो मुखः।
वेद्धा सर्वगतश्चैव शिवलक्ष्यं न संशयः ॥३८

न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति तावाः सकला देवताश्च।
स एष देवः कृतभावभूतः रूपं विशुद्धो विरजाः प्रकाशते ॥४०

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यो सह स्थितौ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥४१

केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः।
प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥४२

घटाकाशमठाकाशौ यथाऽऽकाशप्रभेदतः ।
कल्पितौ परमो जीव शिव रूपेण कल्पितौ ॥४३
तत्त्वतश्च शिवः साक्षाच्चिज्जीवश्च स्वतः सदा ।
चिच्चिदाकारतो भिन्ना न भिन्ना चित्त्वहानितः ॥४४
चितश्चिन्न चिदाकाराद्भिद्यते जडरूपतः ।
भिद्यते केज्जडो भेदश्चिदेका सर्वदा खलु ॥४५
तर्कतश्च प्रमाणाच्च चिदेकत्वव्यवस्थितेः ।
चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति ।
अद्वैत परमानन्द शिवं याति तु केवलम् ॥४६
अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम् ।
अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोकौ भवेन्मुनि ॥४७
स्वशरीरे स्वयं ज्योतिस्स्वरूपं सर्वसाक्षिणम् ।
क्षीणादोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे मायया़ऽऽवृताः ॥४८
एवंरूपपरिज्ञान यस्यास्ति परयोगिनः ।
कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य पूर्णस्वरूपिणः ॥४९
आकाशमेकं सम्पूर्णं कुत्र चिन्नैव गच्छति ।
तद्वत्स्वात्म परिज्ञानी कुत्र चिन्नैव गच्छति ॥५०
स तो ह वै तत्परमंब्रह्मयो वेदं वै मुनिः ।
ब्रह्मैव भवति स्वस्थः सच्चिदानन्दमातृकः ॥५१

ब्रह्म रूप लक्ष्य के लिए प्रणव धनुष रूप और आत्मा बाण के समान है । उसे बींधने के लिए आलस्य का त्याग आवश्यकीय कार्य है । उस ब्रह्म में उसी प्रकार तन्मय हो जाना चाहिए जैसे लक्ष्य को बींधने के लिए बाण क्रियारत होता है । ब्रह्म रूप लक्ष्य सर्वगत है, आत्मा सर्वतोमुख है, परन्तु यदि साधक भी सर्वगत हो तो शिवःरूप लक्ष्य की प्राप्ति निःसन्देह होती है । जिन परमात्मा के परमधाम में चन्द्र-सूर्य नहीं होते, जहाँ वायु तथा अन्य देवगण भी पहुँच नहीं पाते, वहीं पर-

भात्मा साधक द्वारा चिंतन किये जाने पर अपने निर्मल और निर्गुण रूप से प्रकाशमान होते हैं। यह शरीर रूपी वृक्ष जीव और ईश्वर रूप दो पक्षियों को निवास देने वाला है। इनमें जीवरूप पक्षी स्वीकृत कर्मों का फल भोगता है। परन्तु ईश्वर उसके कर्म-फल भोग के शाक्षी स्वरूप प्रकाशित रहता है, वह कर्म का फल नहीं भोगता। माया के द्वारा ही जीव और ईश्वर के भेद की कल्पना हुई है। यथार्थ में तो चिन्मय जीव स्वयं ही साक्षात् ईश्वर है। जीव और ईश्वर में चित् रूप उपाधि सम्बन्धी आकार भेद के कारण यह विभक्ति परिलक्षित होती है। वास्तव में उनमें कोई भिन्नता नहीं है। यदि यथार्थ में ही भेद हो तो दोनों का चित् स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। चित् से चित् का भेद कल्पित किया जाना जड़ रूप उपाधि से ही हुआ है। चिदाकारता से कोई भेद नहीं हो सकता। भेद-दृष्टि ही जड़ता से उत्पन्न होती है। चित्त की एकता युक्ति और प्रमाण दोनों के द्वारा ही परिपुष्ट है। अतः चित् की एकता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य मोह और शोक से मुक्त हो जाता है और अद्वैत परमानन्द रूप शिवत्व की उसे प्राप्ति होती है। वह चिद्घन स्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का परम आश्रय है। ऋषि-गण परमात्मा मैं ही हूं' ऐसा मानकर शोक से छूट जाते हैं। जिन मनुष्यों के दोष नष्ट हो गये हैं, वे ही उस सर्वसाक्षी और स्वयंज्योति रूप परब्रह्म के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। माया के जाल में फँसे हुए जीव उसे नहीं देख सकते। जो सिद्ध पुरुष आत्मा के स्वरूप का ऐसा ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे पूर्णता को प्राप्त पुरुष कहीं आते-जाते नहीं। जैसे परिपूर्ण आकाश कहीं जाता नहीं, वैसे ही आत्म-तत्व का ज्ञाता महात्मा भी कहीं नहीं जाता। जो उस परमब्रह्म का ज्ञाता है, वह सच्चिदानन्द रूप में स्थित होकर स्वयं ब्रह्म हो जाता है ॥ ३८-५१ ॥

॥ रुद्रहृदयोपनिषत् समाप्त ॥

गरुडोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिःशृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुः वांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

हरिः ॐ गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मा विद्यां नारदाय प्रोवाच नारदो बृहत्सेनाय बृहत्सेन इन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाजो जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत् । अस्याः श्रीमहागरुडब्रह्मविद्याया ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । श्रीभगवान्महागरुडो देवता । श्रीमहागरुडप्रीत्यर्थे मम सकलविषविनाशनार्थे जपे विनियोगः । ॐ नमो भगवते अंगुष्ठाभ्यां नमः । श्रीमहागरुडाय तर्जनीभ्यां स्वाहा । पक्षीन्द्राय मध्यमाभ्यां वषट् । श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम् । त्रैलोक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । उग्रभयंकरकालनलरूपाय

करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् । एवं हृदयादिन्यासः । भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः ।

हरि ॐ । गरुड़ सम्बन्धी ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जाता है, जिस विद्या को ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने बृहत्सेन को, बृहत्सेन ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने जीवत्काम शिष्यों को कहा (उन्हें प्रदान किया) नीचे लिखे विनियोग से जल छोड़ना चाहिये—'अस्या श्री महागरुड़ ब्रह्मविद्याया— — ...विषविनाशार्थे विनियोगः ।

अब नीचे लिखे मन्त्रों से अङ्गन्यास करना चाहिये:—

ॐ नमो— — ...अगुष्ठाभ्यां नमः ।
श्री महागरुडाय— ...तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
पक्षीन्द्राय... ... —मध्यमाभ्यां वषट् ।
श्री विष्णुवल्लभाय... ...अनामिकाभ्यांहुम् ।
त्रैलोक्य परिपूजिताय... ...कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
उग्रभयङ्कर— — ...करतल पृष्ठाभ्यां फट् ।

इसी प्रकार हृदय शिरशिखा कवच नेत्रादि न्यास करके वौषट् करना चाहिये । "भूर्भुवः स्वरोम्" इससे दिग्बन्धन करना चाहिये ।

ध्यानम् । स्वस्तिको दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम् । प्राञ्जलीकृतदोर्युग्मं गरुड हरिवल्लभम् ॥ १ ॥ अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकिः । तक्षकाः कटिसूत्रं तु हारः कार्कोट उच्यते ॥ २ ॥ पद्मो दक्षिणकर्णे तु महापद्मस्तु पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां चामराभ्यां सुवीजितम् । एलपुत्रकनागाद्यैः सेव्यमानं मुदान्वितम् ॥ ४ ॥ कपिलाक्षं गरुमन्तं सुवर्णसदृशप्रभम् । दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नादाभरणभूषितम् ॥५॥

आजानुतः सुवर्णाभमाकट्योस्तुहिनप्रभम् । कुंकुमारुणमाकण्ठं शतचन्द्रनिभाननम् ॥ ६ ॥ नीलाग्रनासिकावक्रं सुमहच्चारुकुण्डलम् । दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम् ॥ ७ ॥ कुंकुमारुणसर्वाङ्गं कुन्देन्दुधवलाननम् । विष्णुवाह नमस्तुभ्यं क्षेमं कुरु सदा मम ॥ ८ ॥

निम्न श्लोकों से ध्यान कराना चाहिये:—

स्वस्तिको दक्षिणं पादं ··· ···हरिवल्लभम् । १ ।

अनन्तो वामकटको··· ···कार्कोट उच्यते । २ ।

पद्मो दक्षिणकर्णे··· ···भुजान्तरे । ३ ।

पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां··· ···मुदान्वितम् । ४ ।

कपिलाक्षं··· ··· ···नागाभरणभूषितम् । ५ ।

आजानुतः··· ··· ···शतचन्द्रनिभाननम् । ६ ।

नीलाग्रनासिकावक्रं··· ···किरीट मुकुटोज्ज्वलम् । ७ ।

कुङ्कुमारुणसर्वाङ्गं··· ···कुरु सदा मम् । ८ ।

इन सब श्लोकों को गरुड़ का ध्यान करते हुए भली-भाँति श्रद्धापूर्वक पढ़ाना चाहिये ।

एवं ध्यायेत्त्रिसंध्यासु गरुडं नागभूषणम् । विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः ॥ ९ ॥ ओमीमों नमो भगवते श्रीमहागरुडाय पक्षीन्द्राय विष्णुवल्लभाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय उग्रभयंकरकालानलरूपाय वज्रनखाय वज्रतुण्डाय वज्रदन्ताय वज्रदंष्ट्राय वज्रपुच्छाय वज्रपक्षालक्षितशरीराय ओमीकेह्येहि श्रीमहागरुडाप्रतिशासनास्मिन्नाविशाविश दुष्टानां विषं दूषयदूषय स्पृष्टानां नाशयनाशय दन्दशूकानां विषं दारय दारय प्रलीनं विषं प्रणाशयप्रणाशय सर्वविषं नाशय नाशय हनहन दहदह पचपच भस्मीकुरुभस्मीकुरु हुं

फट् स्वाहा ।। चन्द्रमण्डलसंकाश सूर्यमण्डलमुष्टिक । पृथ्वी-मण्डलमुद्राङ्ग श्रीमहागरुडायविषं हरहर हुं फट् स्वाहा ।। ॐ क्षिप स्वाहा ।। ओमीं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारो विषाणां च विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्त प्रलीन विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ।। ॐ नमो भगवते महागरुडाय विष्णुवाहनाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय वज्रन-खवज्रतुण्डाय वज्रपक्षालङ्कृतशरीराय एह्येहि महागरुड विषं छिन्धिच्छिन्धि आवेशयावेशय हुं फट् स्वाहा ।। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्र चक्षुः स्तोम आत्मा साम ते तनूर्वाम-देव्यं बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञियं पुच्छ छन्दांस्यङ्गानि धिष्णिया शफा यजूंषि नाम ।। सुपर्णोसि गरुत्मान्दिव गच्च सुवः पत ओमीं ब्रह्मविद्याममावास्यायां पौर्णमास्यां पुरोवाच सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषघ्नहिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं नष्टं विषं प्रनष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ।। तस्यम् '?) ।

इस प्रकार तीनों सन्ध्याओं के समय नागभूषण गरुड़ का ध्यान करना चाहिये । इनके ध्यान से विष ऐसे समाप्त हो जाता है जैसे आग द्वारा रुई का ढेर । ६ ।

अब अधोलिखित मन्त्रों का उच्चारण विषनाश करने के लिये करना चाहिये और उस स्थान को झाड़ना चाहिये । इन्हीं मन्त्रों से होम भी सिद्धि प्राप्ति के निमित्त करना चाहियेः—

ॐ मी मों नमोः भगवते ... .भस्मी कुरु भस्मी कुरु हुं फट् स्वाहा । १ ।

चन्द्रमण्डलसंकाश... ... ...विषं हर हर हुं फट् स्वाहा ॐ क्षिप स्वाहा । २ ।

ओमीं सचरति··· ··· ···वज्रेण स्वाहा । ३ ।

ॐ नमो भगवते··· ···आवेशयावेशय हुँ फट् स्वाहा । ४ ।

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्··· ···विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा । ५ ।

यद्यनन्तकदूतोऽसि यदि वानन्तकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा । यदि वासुकिदूतोऽसि वा वासुकिः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा यदि वा तक्षकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि कर्कोटकदूतोऽसि यदि वा कर्कोटकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि पद्मकदूतोऽसि यदि वा पद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि महापद्मकदूतोऽसि यदि वा महापद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि शङ्खकदूतोऽसि यदि वा शङ्खकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥

यदि गुलिकदूतोऽसि यदि वा गुलिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विपनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हृतं विषं नष्टं विषं हृतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हृतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि यदि वा पौण्ड्रकालिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विपदूषिणी विपहारिणी हृत विषं नष्टं विषं हृतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हृतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि नागकदूतोऽसि यदि वा नागकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हृतं विषं नष्टं विषं हृतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हृतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ तदि लूतानां प्रलूतानां यदि वृश्चिकानां यदि घोटकानां यदि स्थावरजङ्गमानां सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हृतं विषं नष्टं विषं हृतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हृतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा । अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मक महापद्मकशङ्खकगुलिकपौण्ड्रकालिकनागक इत्येषां दिव्यानां महानागानां महानागादिरूपाणां विषतुण्डानां विषदन्तानां विषदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विश्वचाराणां वृश्चिकानां लूतानां प्रलूतानां मूषिकाणां गृहगौलिकानां गृहगोधिकानां घ्रणासानां गृहगिरिगह्वरकालानलवल्मीकोद्भूतानां तार्णानां पार्णानां काष्ठदारुवृक्षकोटरस्थानां मूलत्वग्दारुनिर्यासपत्रपुष्पफलोद्भूतानां दुष्टकीटकपिश्वानमार्जारजम्बुकव्याघ्रवराहाणां जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानां शस्त्रवाणक्षतस्फोटव्रणमहाव्रणकृतानां कृत्रिमाणामन्येषां भूतवेतालकूष्माण्डपिशाचप्रेतराक्षसयक्षभयप्रदानां विषतुण्डदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विषाणां विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषिणी विषनाशिनी विपहारिणी हृतं विषं

नष्टं विषमन्त:प्रलीतं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विष-
मिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ।

यद्यनन्तक दूतोऽसि··· — ···ब्रह्मणा··· —

वज्रेण स्वाहा । ६ ।

यदि वासुकिदूतोऽसि··· — ···इन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ।७।
यदि वा तक्षक स्वयं··· ··· ···वज्रेण स्वाहा ।
यदि कर्कोटक दूतोऽसि ·· ···वज्रेण स्वाहा ।
यदि पद्मक दूतोऽसि··· ··· ···वज्रेण स्वाहा ।
यदि महापद्मक दूतोऽसि··· ···वज्रेण स्वाहा ।
यदि शंखक दूतोऽसि··· ··· —वज्रेण स्वाहा ।
यदि गुलिक दूतोऽसि··· ···वज्रेण स्वाहा ।
यदि पौंड्रकालिक दूतोऽसि··· ···वज्रेण स्वाहा ।
यदि नागक दूतोऽसि··· — ···वज्रेण स्वाहा ।
यदि लूतानां प्रलूतानां··· ···वज्रेण स्वाहा ।

अनन्त वासुकितक्षक··· — ···विषं हतं ते ब्रह्मणा विष-

मिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ।

इ इमां ब्रह्मविद्याममावास्यायां पठेच्छृणुयाद्वा यावज्जीवं न हिंसन्ति सर्पाः । अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वा तृणेन मोचयेत् । शतं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा चक्षुषा मोचयेत् । सहस्रं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा मनसा मोचयेत् । सर्पाञ्जले न मुञ्चन्ति । तृणे न मुञ्चन्ति । काष्ठेन मुञ्चन्ती त्याह भगवान्ब्रह्मेत्युपनिषत् ॥
॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

जो इस ब्रह्म विद्या का अमावस्या के दिन अध्ययन करता है उसे सारे जीवन भर साँप नहीं काटते आठ ब्राह्मणों को ग्रहण करवा कर तिनके से, सौ ब्राह्मणों को बतलाकर आँख से, हजार ब्राह्मणों को बतला कर मन से ही विष को मुक्त किया जा सकता है। सर्पकुण्डली तिनके तथा काठ पर स्थित होने से विषमुक्त नहीं होता।

॥ गरुडोपनिषद् समाप्त ॥

—०—०—

लांगूलोपनिषत्

ॐ अस्य श्रीअनन्तघोरप्रलयज्वालाग्निरौद्रस्य वीरहनुमत्साध्यसाधना घोरमूलमन्त्रस्य ईश्वर ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीरामलक्ष्मणौ देवता । सौं बीजम् । अञ्जनासूनुरिति शक्तिः । वायुपुत्र इति कीलकम् । श्रीहनुमत्प्रसादासिद्ध्यर्थं भूर्भुवस्स्वर्लोकसमासीनतत्त्वंपदशोधनार्थं जपे विनियोगः ।

ॐ भूः नमो भगवते दावानलकालाग्निहनुमते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । हृदयाय नमः । ॐ भुवः नमो भगवते चण्डप्रतापहनुमते तर्जनीभ्यां नमः । शिरसे स्वाहा । ॐ स्वः नमो भगवते चिन्तामणिहनुमते मध्यमाभ्यां नमः । शिखायै वषट् । ॐ महः नमो भगवते पातालगरुडहनुमते अनामिकाभ्यां नमः । कवचाय हुम् । ॐ जनः नमो भगवते कालाग्निरुद्रहनुमते कनिष्ठिकाभ्यां नमः । नेत्रत्रयाय वौषट् । ॐ तपः सत्यं नमो भगवते भद्रजातिविकटरुद्रवीरहनुमते करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । अस्त्राय फट् । पाशुपतेन दिग्बन्धः । अथ ध्यानम्—

वज्राङ्गं पिङ्गनेत्रं कनकमयलसत्कुण्डलाक्रान्तगण्डं
दम्भोलिस्तम्भसारप्रहणविवशीभूतरक्षोऽधिनाथम् ।
उद्यल्लाङ्गूलघर्षप्रचलजलनिधिं भीमरूपं कपीन्द्रं
ध्यायन्तं रामचन्द्रं प्लवगपरिवृढं सत्त्वसारं प्रसन्नम् ॥

नीचे दिए संकल्प से जल छोड़ना चाहिए :—

ॐ अस्य··· ··· ··· ···जपे विनियोगः ।

अब नीचे दिये क्रम के अनुसार अङ्गन्यास करना चाहिए—(तत्तद् स्थानों को छूना चाहिए)।

ॐ भूः नमो··· ···अगुष्ठाभ्यां नमः हृदयाय नमः।
ॐ भुवः नमो··· ···तर्जनीभ्यां नमः शिरसे स्वाहा।
ॐ स्वः नमो··· ···मध्यमाभ्यां नमः शिखायै वषट्।
ॐ महः··· ····अनामिकाभ्यां नमः। कवचाय हुम्।
ॐ जनः··· ···कनिष्ठिकाभ्यां नमः नेत्र त्रयाय वषट्।
ॐ तपः··· ···करतल पृष्ठाभ्यां नमः अस्त्राय फट्।

पशुपत के द्वारा दिग्बन्धन करना चाहिये। नीचे दिये श्लोक से ध्यान करना चाहिये। (हाथ जोड़कर आँखें बन्दकर)।

वज्राङ्ग पिङ्गनेत्र··· ··· ···सत्वसारं प्रसन्नम्।

इति मानसोपचारैः सम्पूज्य, ॐ नमो भगवते दावासलकालाग्निहनुमते (जयश्रियो जयजीविताय)धवलीकृतजगत्त्रय वज्रदेह वज्रपुच्छ वज्रकाय वज्रतुण्ड वज्रमुख वज्रनख वज्रबाहो वज्ररोम वज्रनेत्र वज्रदन्त वज्रशरीर सकलात्मकाय भीमकर पिङ्गलाक्ष उग्र प्रलयकालरौद्र वीरभद्रावतार शरभसालुवभैरव-दोर्दण्ड लङ्कापुरीदाहन उदधिलङ्घन दशग्रीवकृतान्त सीता-विश्वास ईश्वरपुत्र अञ्जनागर्भसम्भूत उदयभास्करबिम्बानलग्रासक देवदानवऋषिमुनिवन्द्य पाशुपतास्त्रब्रह्मास्त्रबैलनारायणास्त्र-कालशक्तिकास्त्रदण्डकास्त्रपाशाघोरास्त्रनिवारण पाशुपतास्त्रब्रह्मा-स्त्रबैलवाब्रनारायणास्त्रमृड सर्वशक्तिग्रसन ममात्मरक्षाकर परविद्यानिवारण आत्मविद्यासंरक्षक अग्निदीप्त अथर्वणवेदसिद्ध-स्थिरकालाग्निनिराहारक वायुवेग मनोवेग श्रीरामतारकपरब्रह्म-विश्वरूपदर्शन लक्ष्मणप्राणप्रतिष्ठानन्दकर स्थलजलाग्निमर्मभेदिन्

सर्वशत्रून् छिन्धि छिन्धि मम वैरिणः खादय खादय मम सञ्जीवन-पर्वतोत्पाटन डाकिनीविध्वंसन सुग्रीवसख्यकरण निष्कलङ्क कुमारब्रह्मचारिन् दिगम्बर सर्वपाप सर्वग्रह कुमारग्रह सर्व छेदय छेदय भेदय भेदय भिन्धि भिन्धि खादय खादय टङ्क टङ्क ताडय ताडय मारय मारय शोषय शोषय ज्वालय ज्वालय हारय हार देवदत्तं नाशय नाशय अतिशोषय अतिशोषय मम सर्वं च हनुमन् रक्ष रक्ष ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ नमो भगवते चण्डप्रतापहनुमते महावीराय सर्वदुःख-विनाशनाय ग्रहमण्डलभूतमण्डल प्रेतपिशाचमण्डलसर्वोच्चाटनय अतिभयङ्करज्वरमाहेश्वरज्वर--विष्णुज्वर--ब्रह्मज्वर---वेतालब्रह्म-राक्षसज्वर--पित्तज्वर-श्लेष्मसान्निपातिकज्वर--विषमज्वर--शीत ज्वर--एकाहिकज्वर--द्व्याहिकज्वर--त्र्यंहिकज्वर--चातुर्थिकज्वर--अर्धमासिकज्वर--मासिकज्वर--षान्मासिकज्वर--सांवत्सरिकज्वर-अस्थ्यन्तर्गतज्वर -महापस्मार--भ्रमिकापस्मारांश्च भेदय भेदय खादय खादय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ नमो भगवते चिन्तामणिहनुमते अङ्गशल-अक्षिशूल-शिरश्शूल-गुल्मशूल- उदरशूल-कर्णशूल--नेत्रशूल-गुदशूल--कटिशूल जानुशूल-जघ्ड़ाशूल-हस्तशूल— पादशूल-गुल्फशूल--वातशूल-पित्त-शूल-पायुशूल— स्तनशूल-परिणामशूल-परिधामशूल--परिबाणशूल-दन्तशूल-कुक्षिशूल-सुमनश्शूल-सर्वशूलानि निर्मूलय निर्मूलय दैत्यदानवकामिनीवेतालब्रह्मराक्षसकोलाहलनागपाशनन्तवासुकि-तक्षकार्को--टकलिङ्गपद्मककुमुदज्वलरोगपाशमहामारीन् कालपा-शविषं निर्विषं कुरु कुरु ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ग्लां ग्लीं ग्लूं ॐ नमो भगवते पाताल-गरुडहनुमते भैरववनगतगजसिंहेन्द्राक्षीपाशवन्धं छेदय छेदयं

प्रलयमारुत कालाग्निहनुमन् शृंखलाबन्धं विमोक्षय विमोक्षय सर्वग्रहं छेदय छेदय मम सर्वकार्याणि साधय साधय मम प्रसादं कुरु कुरु मम प्रसन्न श्रीरामसेवकसिंह भैरवस्वरूप मां रक्ष रक्ष ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं क्ष्मौं भ्रैं श्रां श्रीं क्लां क्लीं क्रां क्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्रां ह्रीं हुं ख ख जय जय मारण मोहन घूर्ण घूर्ण दम दम मारय मारय वारय वारय खे खे ह्रां ह्रीं ह्रूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ नमो भगवते कालाग्निरौद्रहनुमते भ्रामय भ्रामय लव लव कुरु कुरु जय जय हस हस मादय मादय प्रज्वलय मृडय मृडय त्रासय त्रासय साहय साहय वशय वशय शामय शामय अस्त्रत्रिशूलडमरुखङ्गकालमृत्युकपालखट्वांगधर अभयशाश्वत हुँ हुँ अवतारय अवतारय हुँ हुँ अनन्तभूषण परमन्त्र-परयन्त्र शतसहस्र कोटितेज पुञ्जं भेदय भेदय अग्नि बन्धय लन्धय वायुं बन्धय बन्धय सर्वग्रह बन्धय बन्धय अनन्तापिदुष्टनागानां द्वादशकुलवृश्चिकानामेकानशलूतानां विषं हन हन सर्वविषं बन्धय बन्धय बन्धय वज्रतुण्ड उच्चाटय मारणमोहनवशीकरणस्तम्भनजृम्भणाकर्षणोच्चाटनमिलनविद्वेषणयुद्धतर्कमर्माणि बन्धय बन्धय ॐ कुमारीपदत्रिहारबाणोग्रमूर्तये ग्रामवासिने अतिपूर्वशक्ताय सर्वायुधधराय स्वाहा अक्षयाय घे घे घे घे ॐ लं लं लं घ्रां घ्रौं स्वाहा ॐ ह्लां ह्लीं ह्लूं हुँ फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐश्रां श्रीं श्रूं श्रैं श्रौं श्रः ॐनमो भगवते भवगते भद्रजानिकट-रुद्रवीरहनुमते टं टं टं लं लं लं देवदत्तदिगम्बरराष्टमहाशक्त्यष्टाङ्गधर अष्टमहाभैरवनवब्रह्मस्वरूप दशविष्णुरूप एकदशरुद्रावतार द्वादशार्कतेजः त्रयोदशसोममुख वीरहनुमन् स्तम्भिनीमोहनीवशीकरिणीतन्त्रैकसावयव नगरराजमुखबन्धन बलमुखमकरमुखसिंह-

मुखजिह्वामुखानि वन्धय वन्धय स्तम्भय स्तम्भय व्याघ्रमुखसर्व-वृश्चिकाग्निज्वालाविषं निर्गमय निर्गमय सर्वजनवैरिमुखं वन्धय वन्धय पापहर वीर हनुमन् ईश्वरावतार वायुनन्दन अञ्जनासुत वन्धय वन्धय श्रीरामचन्द्रसेवक ॐ ह्रां ह्रां ह्रां आसय त्रासय ह्रीं ह्लां ग्रीं क्रीं यं भें म्रं म्रः हट् हट् खट् खट् सर्वजन-विश्वजन-शत्रुजन-वश्यजन-सर्वजनस्य दृशं लं लां श्रीं ह्रां ह्रीं मनः स्तम्भय स्तम्भय भञ्जय भञ्जय अद्रि ह्रीं व हीं हीं मे सर्वं हीं हीं सागरहीं हीं वं वं सर्वमन्त्रार्थाथर्वणवेदसिद्धि कुरु कुरु स्वाहा । श्रीरामचन्द्र उवाच । श्रीमहादेव उवाच । श्रीवीरभद्रस्तौ उवाच । त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः ।

इस प्रकार मानसिक पूजा करके अधोलिखित मन्त्रों का उच्चा-करना चाहिये । इनसे हवन (होम) करना है ।

ॐ नमो भगवते दावानल कालाग्नि हनुमते ... ...हनुमन् रक्ष-रक्ष ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥१॥

ॐ नमो भगवते चण्डप्रताप हनुमते ... ...खादय खादय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥२॥

ॐ नमो भगवते चिन्तामणि हनुमते ... ...निर्विषं कुरु कुरु घे घे स्वाहा ॥३॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ग्लां ग्लीं ग्लूं ॐ नमो भगवते पाताल गरुड हनुमते ... ...वारय वारय ... ...घे घे स्वाहा ॥४॥

ॐ नमो भगवते कालाग्निरौद्र हनुमते ... ...भ्रां भ्रों स्वाहा हुं फट् घे घे स्वाहा ॥५॥

ॐ भ्रां भ्रीं घ्रूं घ्रें भ्रौं भ्रः ॐ नमो भगवते भद्रजातिरुद्र-

वीर हनुमते··· ··· ···ह्रौं ह्रीं सागर ह्रौं ह्रीं वं वं सर्वं, मन्त्रार्थाथर्वण वेदसिद्धि कुरु कुरु स्वाहा ॥६॥

इस प्रकार श्री रामचन्द्र तथा शिवने वीरभद्र को तथा वीरभद्र ने उन दोनों को कहा। इस सारे विधि विधान को पूछा समझा आदि।

इसे जो तीनों प्रात: मध्याह्न एवं सायं सन्ध्या के समय पढ़ता है उसको वे सभी वस्तुयें प्राप्त हो जाया करती हैं जो कि ऊपर लिखे मन्त्रों में निर्दिष्ट हैं।

॥ लांगूलोपनिषद् समाप्त ॥

—:—

गायत्री रहस्योपनिषत्

ॐ स्वस्ति सिद्धम् । ॐ नमो ब्रह्मणे । ॐ नमस्कृत्य याज्ञवल्क्यः ऋषिः स्वयंभुवं परिपृच्छति । हे ब्रह्मन् गायत्र्या उत्पत्ति श्रोतुमिच्छामि । अथातो वसिष्ठ स्वयंभुवं परिपृच्छति । यो ब्रह्मा स ब्रह्मोवाच । ब्रह्मज्ञानोत्पत्तेः प्रकृति व्याख्यास्यामः । को नाम स्वयंभू पुरुष इति । तेनाङ्गुलीमथ्यमानात् सलिलमभवत् । सलिलात् फेनमभवत् । फेनाद्बुद्बुदमभवत् । बुद्बुदादण्डमभवत् । अण्डाद्ब्रह्माभवत् । ब्रह्मणो वायुरभवत् । वायोरग्निरभवत् । अग्नेरोङ्कारोऽभवत् । ओंकाराद्व्याहृतिरभवत् । व्याहृत्याः गायत्र्यभवत् । गायत्र्याः सावित्र्यभवत् । सावित्र्याः सरस्वत्यभवत् । सरस्वत्याः सर्वे वेदा अभवन् । सर्वेभ्यो वेदेभ्यः सर्वे लोका अभवन् । सर्वेभ्यो लोकेभ्यः सर्वे प्राणिनोऽभवन् ।

ॐ स्वस्ति (कल्याण हो) सबको सिद्धि प्राप्त हो । ब्रह्म को नमस्कार हो । इस प्रकार प्रमाण कर याज्ञवल्क्य स्वयंभुव से पूछते हैं—गायत्री की उत्पत्ति किस प्रकार है ? वह बोले--ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति की प्रकृति के आदि कारण की व्याख्या की जाती है । कौन स्वयम्भू है ? वही पुराण पुरुष । उसने अंगुली का मन्थन करते हुए जल को उत्पन्न किया (उससे जल उत्पन्न) हुआ। जल से फेन, फेन से बुद्बुद् बुद्बुद से अण्डा, अण्डे से ब्रह्मा, ब्रह्मा से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से ॐकार, ॐकार से व्याहृति, व्याहृति से गायत्री, गायत्री, से सावित्री, सावित्री से सरस्वती, सरस्वती, से सभी वेद, स। वेदों से सारे लोक और अन्त में सब लोकों से सारे प्राणी उत्पन्न हुए ।

अथातो गायत्री व्याहृतयश्च प्रवर्तन्ते। का च गायत्री काश्च व्याहृतयः। किं भूः किं भुवः किं सुवः किं महः किं जनः किं तपः किं सत्यं किं तत् किं सवितुः किं वरेण्यं किं भर्गः किं देवस्य किं धीमहि किं धियः किं यः किं नः किं प्रचोदयात्। ॐ भूरिति भुवो लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षलोकः। स्वरिति स्वर्गलोकः। मह इति महर्लोक। जन इति जनोलोकः। तप इति तपोलोकः। सत्यमिति सत्यलोकः। तदिति तदसौ तेजोमयं तेजोऽग्निर्देवता। सवितुरिति सविता सविता सावित्रमादित्यो वै। वरेण्यमित्यत्र प्रजापतिः। भर्ग इत्यापो वै भर्गः। देवस्य इतीन्द्रो देवो द्योतत इति स इन्द्रस्तस्मात् सर्वपुरुषो नाम रुद्रः। धीमहीयत्नन्तरात्मा। धिय इत्यन्तरात्मा परः। य इति सदाशिव-पुरुषः। नो इत्यस्माकं स्वधर्मे। प्रचोदयादिति प्रचोदितकाम इमान् लोकाम् प्रत्याश्रयते यः परो धर्म इत्येषा गायत्री।

सो यहाँ से गायत्री तथा व्याहृतियाँ प्रवर्तित होती हैं।

गायत्री कौन है ? व्याहृतियाँ कौन हैं ? तथा भू भुवः, स्वः, महः जनः, तपः, सत्यं, तत्, सवितु वरेण्यं, भर्गः, देवस्य धीमहि, धियः, यः नः तथा प्रचोदयात् क्या हैं, किं स्वरूप हैं ?

उत्तर—ॐ। भूः ये भूलोक का वाचक है, भुवः आकाश का, स्वः स्वर्गलोक का, महः महर्लोक का, जनः जनलोक का, तपः तपोलोक का, सत्यम् सत्यलोक का, तत् तेजस्वी अग्नि देव का, सवितुः ये सूर्य का, वरेण्यम् यह प्रजापति (ब्रह्मा) का, भर्गः जल का, देवस्य यह तेजस्वी इन्द्र का (जो परम ऐश्वर्य का द्योतक सर्वपुरुष नामक रुद्र से प्रसिद्ध है उसका) धीमहि यह अन्तरात्मा का, धियः ये दूसरी अन्तरात्मा (ब्रह्म) का, यः यह उस सदाशिव पुरुष का, नः यह अपने स्वरूप का (हमारे इस अर्थ का वाचक), इस प्रकार सभी यथोक्तक्रम से तत्तत् स्वरूप के बोधक हैं। प्रचोदयात् यह प्रेरणा की इच्छा का द्योतक है। इन सभी लोकों का आश्रयण जो धर्म करादे वही गायत्री है।

सा च किंगोत्रा कत्यक्षरा कतिपादा। कति कुक्षयः। कानि शीर्षाणि। सांख्यानगोत्रा सा चतुर्विशत्यक्षरा गायत्री त्रिपादा चतुष्पादा। पुनस्तस्याश्चत्वारः पादाः षट् कुक्षिकाः पञ्च शीर्षाणि भवन्ति। के च पादाः काश्च कुक्षयः कानि शीर्षाणि। ऋग्वेदोऽस्याः प्रथमः पादो भवति। यजुर्वेदो द्वितीयः पादः। सामवेदस्तृतीयः पाद। अथर्ववेदश्चतुर्थः पादः। पूर्वा दिक् प्रथमा कुक्षिर्भवति। दक्षिणा द्वितीया कुक्षिर्भवति। पश्चिमा तृतीया कुक्षिर्भवति। उत्तरा चतुर्थी कुक्षिर्भवति। ऊर्ध्व पञ्चमी कुक्षिर्भवति। अधः षष्ठी कुक्षिर्भवति। व्याकरणोऽस्याः प्रथमः शीर्षो भवति। शिक्षा द्वितीयः। कल्पस्तृतीयः। निरुक्तश्चतुर्थः। ज्योतिषामयनमिति पञ्चमः। का दिक् को वर्णः किमायतनं कः स्वरः किं लक्षणं कान्यक्षरदैवतानि क ऋषयः कानि छन्दांसि काः शक्तयः कानि तत्त्वानि के चावयवाः। पूर्वाह्ने भवतु गायत्री। मध्यमायां भवतु सावित्री। पश्चिमायां भवतु सरस्वती। रक्ता गायत्री। श्वेता सावित्री। कृष्णा सरस्वती। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरायतनानि।

वह किस गोत्र वाली, कितने अक्षर वाली, कितने पाद वाली, कितनी कुक्षि वाली है तथा उसके शीर्ष मूर्वादिस्थान कौन हैं?

उत्त — वह सांख्यायन गोत्र वाली, चौबीस अक्षर वाली गायत्री तीन पाद तथा चार पाद की है। फिर उसके चार पाद, छः कुक्षियाँ तथा पाँच शिर हैं।

कौन पाद हैं? कुक्षियाँ कौन हैं? शिर कौन हैं?

ऋग्वेद इसका प्रथम पाद है। यजुर्वेद दूसरा, सामवेद तीसरा तथा अथर्ववेद चौथा पाद है। पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि, दक्षिण दिशा दूसरी कुक्षि, पश्चिम तीसरी तथा उत्तर दिशा चौथी कुक्षि है। ऊर्ध्व देश (आकाश) पाँचवीं कुक्षि तथा नीचे की भूमियाँ छठी कुक्षि हैं।

व्याकरण इसका पहला शिर, शिक्षा दूसरा, कल्प तीसरा, निरुक्ति चौथा तथा ज्योतिष पांचवां शिर है।

किस दिशा में, किस रङ्ग की अधिष्ठात्री देवियाँ स्थित हैं ? उनका विस्तार क्या है ? स्वर, लक्षण क्या है ? किन अक्षरों की वह अधिष्ठातृ देवियाँ है ? कौन उनके ऋषि है ? कौन छन्द हैं ? कौन शक्तियाँ है ? कौन तत्व है तथा कौन अवयव है ?

पूर्व में गायत्री जिसका रंग लाल है, मध्यम में (दक्षिण में) सावित्री, जिसका रंग सफेद है, पश्चिम में सरस्वती, जिसका वर्ण काला है, स्थित हैं। ध्यान करने योग्य है।

पृथिवी, आकाश तथा स्वर्ग इनके विस्तार स्थल निवास-स्थान हैं।

अकारोकारमकाररूपोदात्तादिस्वरात्मिका। सर्वा सन्ध्या हंसवाहिनी ब्राह्मी। मध्यमा वृषभवाहिनी माहेश्वरी। पश्चिमा गरुड़वाहिनी वैष्णवी। पूर्वाह्णकालिका सन्ध्या गायत्री कुमारी। रक्ता रक्ताङ्गी रक्तवासिनी रक्तगन्धमाल्यानुलेपनी पाशांकुशाक्ष-मालाकमण्डलुवरहस्ता हंसारूढा ब्रह्मदैवत्या ऋग्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भूमण्डलवासिनी। मध्याह्नकालिका सन्ध्या सावित्री युवती श्वेताङ्गी श्वेतवासिनी श्वेतगन्धमाल्यानुलेपनी त्रिशूलडमरुहस्ता वृषभारूढा रुद्रदैवत्या यजुर्वेदसहिता आदित्य-पथगामिनी भुवोलोके व्यवस्थिता। सायं सन्ध्या सरस्वती वृद्धा कृष्णाङ्गी कृष्णवासिनी कृष्णगन्धमाल्यानुलेपनी शङ्खचक्रगदाभय-हस्ता गरुडारूढा विष्णुदैवत्या सामवेदसहिता आदित्यपथगामिनी स्वर्गलोकव्यवस्थिता।

ये तीनों अकार, उकार तथा मकार रूप उदात्तादि स्व-रात्मक हैं।

प्रातःकालीन जो सन्ध्या है, वह हंस पर बैठने वाली ब्रह्मा के

स्वरूप के समान, मध्यमा सन्ध्या बैल पर आरूढ़ शंकर स्वरूपिणी तथा अन्तिम सायंकालीन गरुड़ के ऊपर स्थित तथा विष्णु स्वरूप चतुर्भुजा शङ्खादिवरा हैं।

पूर्वाह्णकाल वाली सन्ध्या गायत्री. कुमारी लाल वर्ण, लाल वस्त्र वाली, लाल चन्दन, लाल मालाओं को धारण करने वाली, पाश, अंकुश, अक्षमाला कमण्डलु आदियों से शोभित हाथ वाली, हंस में बैठी, ब्रह्माधि-देवता, ब्रह्मस्वरूपिणी ऋग्वेद सहित, सूर्य के मार्ग में विचरण करने वाली तथा पृथिवी पर निवास करने वाली है।

मध्याह्न काल वाली जो सन्ध्या है वह युवती, स्वच्छ सफेद वर्ण वाली, सफेद वस्त्रों को धारण करने वाली, सफेद चन्दन तथा मालायें धारण करने वाली, त्रिशूल तथा डमरू धारण किए, बैल पर बैठी, रुद्राधिदेवता, यजुर्वेद युक्त (यजुर्वेद जिसके एक हाथ में पुस्तक रूप में विराजमान है) सूर्य मार्ग में सञ्चरण करने वाली, आकाश में स्थित रहने वाली है।

सायंकालीन सन्ध्या सरस्वती है। वह बूढ़ी काले रङ्ग की, काले वस्त्रों को धारण करने वाली, काले गन्ध तथा माला का अनुलेपन करने वाली, शङ्ख, चक्र तथा गदा लिए गरुड़ पर स्थित विष्णु अधिदैवत्य (विष्णु जिसका अधिदेवता है) सामवेद युक्त सूर्य मार्गगामी तथा स्वर्ग लोक में निवास करने वाली है।

अग्निवायुसूर्यरूपाऽऽहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निरूपा ऋग्यजुः-सामरूपाभूर्भुवःस्वरितिव्याहृतिरूपाप्रातर्मध्याह्नतृतीयसवनात्मिका सत्वरजस्तमोगुणात्मिका जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तरूपा वसुरुद्रादित्यरूपा गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीरूपा ब्रह्मशङ्करविष्णुरूपेच्छाज्ञानक्रियाशक्ति-रूपा स्वराड्विराड्वषड्ब्रह्मरूपेति। प्रथममाग्नेयं द्वितीयं प्राजा-पत्यं तृतीय सौम्यं चतुर्थमीशानं पञ्चममादित्यं षष्ठंगार्हपत्यं सप्तमं

मैत्रमष्टमं भगदैवतं नवममार्यमणं दशमं सावित्रमेकादशं त्वाष्ट्रं द्वादशं पौष्णं त्रयोदशमैन्द्राग्नं चतुर्दशं वायव्यं पञ्चदशं वामदेव षोडशं मैत्रावरुणं सप्तदशं भ्रातृव्यमष्टादशं वैष्णवमेकोनविंशं वामनं विंशं वैश्वदेवमेकविंशं रौद्रं द्वाविंश कौबेरं त्रयोविंशमाश्विनं चतुर्विंशं ब्राह्ममिति प्रत्यक्षरदैवतानि। प्रथम वासिष्ठ द्वितीयं भारद्वाजं तृतीयं गार्ग्यं चतुर्थमौपमन्यवं पञ्चमं भार्गवं षष्ठं शाण्डिल्यम् सप्तमम् लौहितमष्टमं वैष्णवम् नवमम् शातातपम् दशमम् सनत्कुमारमेकादशम् वेदव्यासम् द्वादशम् शुकम त्रयोदशम् पाराशर्यम् चतुर्दशम् पौण्ड्रकम् पञ्चदशम् क्रतुम् षोडशम् दाक्षाम् सप्तदशम् काश्यपमष्टादशमात्रेयमेकोनविंशमगस्त्यं विंशमौद्दालकमेकविंशमांगिरसम् द्वाविंशम् नामिकेतुं त्रयोविंशम् मौद्गल्यम् चतुर्विंशमाङ्गिरसं वैश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति।

ये गायत्री अग्नि वायु सूर्यरूप. आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि वह्निरूप, ऋक् यजु तथा सामवेद स्वरूप, भूः, भुवः तथा स्व व्याहृति रूप, प्रातः मध्याह्न तथा सायंकालीन यजु की आत्मस्वरूप. सत्व, रज तथा तम गुण वाली, जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति का प्रतीक, वसु, रुद्र तथा आदित्यात्मक गायत्री, त्रिष्टुप् जगती जो छन्द तन्मयी, ब्रह्म, शंकर एवं विष्णु के स्वरूप वाला, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप जो शक्ति तत्स्वरूप स्वराट्, विराट् तथा वषट् रूप जो ब्रह्म तन्मया है।

इसका प्रथम अक्षर अग्नि दैवत्य, दूसरा प्रजापति दैवत्य, तीसरा चन्द्र दैवत्य, चौथा ईशान, (शिव), पाँचवाँ आदित्य, छठा गार्हपत्य (अग्नि विशेष), सातवाँ मैत्र, आठवाँ भग दैवत्य, नौवाँ अर्यमा दैवत्य, दसवाँ सविताधि दैवत्य, ग्यारहवाँ त्वष्टा, बारहवाँ पूषा, तेरहवाँ इन्द्राग्नि, चौदहवाँ वायु, पन्द्रहवाँ वामदेव, सोलहवाँ मैत्रावरुण, सत्रहवाँ भ्रातृव्य, अठारहवाँ विष्णु दैवत्य, उन्नीसवाँ वामन, बीसवाँ वैश्वदेव,

इक्कीसवां रुद्र दैवत्य, बाईसवां कुबेर दैवत्य, तेईसवां अश्विनी कुमार दैवत्य तथा चौबीसवां अक्षर ब्रह्माधिदैवत्य है।

पहले अक्षर का ऋषि वशिष्ठ. दूसरे का भारद्वाज, तीसरे का गर्ग, चौथे का उपमन्यु, पाँचवें का भृगु (भार्गव), छठे का शांडिल्य, सातवें का लोहित, आठवें का विष्णु, नौवें का शातातप, दसवें का सनत्कुमार, ग्यारहवें का वेद व्यास, बारहवें का शुकदेव, तेरहवें का पाराशर्य, चौदहवें का पौंड्रकर्म, पन्द्रहवें का क्रतु, सोलहवें का दक्ष, सत्रहवें का कश्यप, अठारहवें का अत्रि, उन्नीसवें का अगस्त्य, बीसवें का उद्दालक, इक्कीसवें का आङ्गिरस, बाईसवें का नामिकेतु, तेईसवें का मुद्गल, चौबीसवें का अङ्गिरागोत्रज विश्वामित्र ये क्रमशः ऋषि हैं। (अर्थात् गायत्री के जो चौबीस अक्षर उनके द्रष्टा ये चौबीस ऋषि हैं।)

गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्तिर्बृहत्युष्णिगदितिरिति त्रिरावृत्तेन छन्दांसि प्रतिपाद्यन्ते। प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरूपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति चतुर्विंशतिशक्तयो निगद्यन्ते। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दवाक्यानि पादपायूपस्थत्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तज्ञानानीति प्रत्यक्षराणां तत्वानि प्रतीयन्ते। चम्पकातसीकुंकुमपिङ्गलेन्द्रनीलाग्निप्रभोद्यत्सूर्यविद्युत्तारकसरोजगौरमरकतशुक्लकुन्देन्दुशङ्खपाण्डुनेत्रनीलोत्पलचन्दनागुरुकस्तूरीगोरोचनघनसारसन्निभम् प्रत्यक्षरमनुस्मृत्य समस्तपातकोपपातकमहापातकागम्यागमनगोहत्याब्रह्महत्याभ्रूणहत्या वीरहत्यापुरुषहत्याऽऽजन्मकृतहत्यास्त्रीहत्यागुरुहत्यापितृहत्याप्राणहत्याचराचरहत्याऽभक्ष्यभक्षणप्रतिग्रहस्वकर्मविच्छेदनस्वाम्यार्तिहीनकर्मकरणपरधनापहरणशूद्रान्नभोजनशत्रुमारणचण्डालीगमनादिसमस्तपापहरणार्थम् संस्मरेत्।

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती अनुष्टुप्, पक्ति, बृहती, उष्णिक् ये त्रिरावृत (तीन आवृत्ति युक्त) छन्द गिनाये जाते हैं।

इसकी चौबीस शक्तियाँ इस प्रकार है—प्रह्लादिनी, प्रजा, विश्वभद्र, विलासिनी प्रभा, शान्ता, मा, कान्ति, स्पर्धा, दुर्गा, सरस्वती, विरूपा, विशालाक्षी, शालिनी, व्यापिनी, विमला, तमोऽपहारिणी, सूक्ष्मावयवा, पद्मलया, विरजा, विश्वरूपा, भद्रा, कृपा तथा सर्वतोमुखी।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, वाक्य, पैर, मल मूत्रेन्द्रियाँ, त्वचा, आँख, कान, जीभ, नाक, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त तथा ज्ञान ये गायत्री के प्रत्येक अक्षर के तत्व हैं।

चम्पा, अतसी, (एक नीला फूल) कुंकुम, पिंगल, इन्द्र, नील, अग्निप्रभा, उद्यत्सूर्य, विद्युत्तारक, सरोज, गौर मरकत, शुक्ल, कुन्द, इन्दु, शङ्ख, पांडु नेत्र नील कमल चन्दन अगुरु, कस्तूरी, गोरोचना, कपूर के समान इन प्रत्येक अक्षरों का आश्रय सभी पाप उपपातक, महापातक, अगम्यागमन (जिनसे योनि सम्बन्ध नहीं होना चाहिये उनसे योनि सम्बन्ध करना आदि), गोहत्या, ब्रह्म हत्या, भ्रूण (गर्भपात) हत्या, वीर हत्या, पुरुष हत्या, सारे जन्मों में की हुई हत्यायें, स्त्री हत्या, गुरु हत्या, पितृ हत्या, आत्मघात, चराचर जीवों की हत्या, जो खाने लायक नहीं उन्हें खाने से होने वाली हत्या, दान व अपने कर्म का त्याग, स्वामी की सेवा से पराङ्गमुख कर्म करने वाला दूसरे के धन को चुराने से होने वाले पाप, शूद्र के अन्न को खाने, शत्रु घात, चाण्डाली से योनि सम्बन्ध रखना आदि सारे पापों के हरण के लिए याद करना चाहिये।

मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो विष्णुर्ललाट रुद्रश्चक्षुषी चन्द्रादित्यौ कर्णौ शुक्रबृहस्पती नासापुटे अश्विनौ दन्तोष्ठावुभे सन्ध्ये मुखं मरुत: स्तनौ वस्वादयौ हृदयं पर्जन्य उदरमाकाशो नाभिरग्नि: कटिरिन्द्राग्नी जघनं प्राजापत्यमूरू कैलासमूलं जानुनी विश्वेदेवौ

जङ्घे शिशिरः गुल्फानि पृथिवीवनिस्पत्यादीनि नखानि महती अस्थीनि नवग्रहा असृक्के तुर्मासमृतुसन्धयः कालद्वमास्फालनं संवत्सरोनिमेषोऽहोरात्र मिति वाग्देवीं गायत्रीं शरणमहं प्रपद्ये।

य इदं गायत्रीरहस्यमधीते तेन क्रतुसहस्रमिष्ट भवति। य इदं गायत्रीरहस्यमधीते दिवसकृत पापं नाशयति। प्रातर्मध्याह्नयोः षण्मासकृतानि पापानि नाशयति। सायं प्रातधीयानो जन्मकृतं पापं नाशयति। य इदं गायत्रीरहस्य ब्राह्मणः पठेत् तेन गायत्र्याः षष्टिसहस्रलक्षाणि जप्तानि भवन्ति। सर्वान् वेदानधीतो भवति। सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। अपेयपानात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। वृषलीगमनात् पूतो भवति। अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी भवति। पङ्क्तिषु सहस्रपानात् पूतो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति। इत्याह भगवान् ब्रह्मा।

मैं ऐसी वाणी की अधिष्ठात्री देवी गायत्री का आश्रय लेता हूँ कि शिर ब्रह्ममय, शिखान्त भाग विष्णु, ललाट (मस्तक) रुद्र, आँखें सूर्य तथा चन्द्रमा कान, शुक्राचार्य तथा बृहस्पति नाक के रन्ध्र अश्विनीकुमार दाँतों के होठ दोनों संध्यायें मुख मरुत् (वायु) स्तन वसु आदि, हृदय बादल, पेट आकाश, नाभि अग्नि, कमर इन्द्र तथा अग्नि जाँघ प्राजापत्य उरुद्वय कैलाश के मूलस्थल, घुटने विश्वेदेव, जाङ्घायें शिशिर, गुल्फ (पृथ्वी की वनस्पति आदि) नख महान् तत्व हड्डियाँ नवग्रह, अन्तड़ियाँ केतु, माँस ऋतु सन्धियाँ, दोनों कालों का (गमन) बोधक, वर्ष तथा निमेष दिन एवं रात हैं।

जो इस गायत्री का अध्ययन करता है उसने तो मानो हजारों यज्ञ कर लिए। जो इस गायत्री रहस्य को पढ़ाता है वह दिन में किए पापों को नष्ट कर देता है।

जो सुबह एवं मध्याह्न में इसे पढ़ता है, वह अपने छः महीने के पापों से मुक्त हो जाता है। जो प्रतिदिन प्रातः सायं इसका अध्ययन

करे, वह सारे जन्म के पापों को नष्ट कर देता है। जो ब्राह्मण इस गायत्री रहस्य को पढ़े तो उसने मानों गायत्री मन्त्र को साठ हजार लाख बार जप लिया है।

उसने सारे वेदों का अध्ययन कर लिया। सभी तीर्थों में उसने स्नान कर लिया। न पीने लायक (शराब आदि) को पीने से जो पाप होता है उससे भी मुक्त हो जाता है। न खाने लायक को खाने से हुए पाप से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्मचारी न भी हो तो ब्रह्मचारी के समान तेजस्वी हो जाता है। पंक्तियों में हजार बार (अपेय) पान कर पवित्र हो जाता है। तथा आठ ब्राह्मणों को इसका ग्रहण करवाकर, बताकर समझाकर ब्रह्मलोक को चला जाता है। ये सब भगवान् (प्रजापति) ब्रह्मा ने इस प्रकार उत्तर देकर समझाया।

॥ गायत्री रहस्योपनिषद् समाप्त ॥

—:o:—

सावित्र्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो वलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषद् माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों; वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों । सब उपनिषद् ब्रह्मरूप हैं । मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे । ऐसे ब्रह्मरत रहते हुये मुझको उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म की प्राप्ति हो । ॐ शान्ति, शान्तिः शान्तिः ।

कः सविता का सावित्री ? अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री स यत्राग्निस्तत् पृथिवी यत्र वा पृथिवी तत्राग्निस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥१॥ कः सविता का सावित्री ? वरुण एव सविताऽऽपः सावित्री स यत्र वरुणस्तदापो यत्र वा आपस्तद्वरुणस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥२॥ कः कविता काः सावित्री ? वायुरेव सविताऽऽकाशः सावित्री स यत्र वायुस्तदाकाशो यत्र वा आकाशस्तद्वायुस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ३ ॥ कः सविता का सावित्री ? यज्ञ एव सविता छन्दांसि सावित्री स यत्र यज्ञस्तच्छन्दांसि यत्र वा छन्दांसि स यज्ञस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥४॥ कः सविता का सावित्री ? स्तनयित्नुरेव सविता विद्युत् सावित्री

स यत्र स्तनयित्नुस्तद्विद्युत् यत्र वा विद्युत्त स्तनयित्नुस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ५ ॥ कः सविता का सावित्री ? आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री स यत्रादित्यस्यद्द्यौर्यत्र वा द्यौस्तदादित्यस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ६ ॥ कः सविता का सावित्री ? चन्द्र एव सविता नक्षत्राणि सावित्री स यत्र चन्द्रस्तन्नक्षत्राणि यत्र वा नक्षत्राणि स चन्द्रमास्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ७ ॥ कः सविता का सावित्री ? मन एव सविता वाक् सावित्री स यत्र वा मनस्तद्वाक् यत्र वा वाक् तन्मनस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ८ ॥ कः सविता का सावित्री ? पुरुष एव सविता स्त्री सावित्री स यत्र पुरुषस्तत् स्त्री यत्र वा स्त्री तत् पुरुषस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ९ ॥

सविता किसे कहते और सावित्री किसे ? अग्नि सविता और पृथिवी सावित्री हैं। जहाँ अग्नि हैं वहीं पृथिवी हैं और जहाँ पृथिवी हैं वहाँ अग्नि है। वे दोनों योनि अर्थात् संसार के जन्मदाता हैं, वे दोनों एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? वरुण देव ही सविता है और जल ही सावित्री, जहाँ वरुण देवता हैं वहीं जल है और जहाँ जल है वहीं वरुण देवता है। दोनों योनि अर्थात् संसार के उत्पत्ति-कर्ता हैं। वे दोनों एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? वायु सविता हैं और आकाश सावित्री। जहाँ वायु देव हैं वहीं आकाश है। जहाँ आकाश है वहीं वायु देव है। ये दोनों योनि हैं, एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? यज्ञ देव सविता हैं और छन्द सावित्री। जहां यज्ञ देव हैं वहीं छन्द है। जहाँ छन्द हैं वहीं यज्ञ देव हैं। वे दोनों योनि हैं एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? गरजन करने वाले बादल सविता है और विद्युत सावित्री। जहाँ गरजन करने वाले बादल हैं, वहीं विद्युत हैं। जहां

विद्युत हैं वहीं गरजन करने वाले बादल हैं। वे दोनों एक योनि हैं, एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? सूर्य को सविता कहते हैं और द्युलोक को सावित्री। जहाँ सूर्यदेव हैं वहीं द्युलोक हैं, जहाँ द्युलोक हैं, वहीं सूर्यदेव हैं। वे दोनों योनि हैं, एक युग्म हैं। सविता किसे कहते और सावित्री किसे ? चन्द्रदेव को ही सविता कहते हैं और नक्षत्र को सावित्री। जहाँ चन्द्रदेव हैं वहीं नक्षत्र हैं। जहाँ नक्षत्र है वहीं चन्द्रदेव हैं। वे दोनों एक योनि हैं, एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? मन को ही सविता कहा गया है और वाणी को सावित्री, जहाँ मन है वहीं वाणी है, जहाँ वाणी है वहीं मन है। वे दोनों एक योनि हैं, एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? पुरुष को ही सविता कहा गया है और स्त्री को सावित्री। जहाँ पुरुष है वहीं स्त्री है, जहाँ स्त्री है वहीं पुरुष है। वे दोनों एक योनि हैं। एक युग्म हैं ॥ १—६ ॥

तस्या एव (ष) प्रथमः पादो भूस्तत्सवितुर्वरेण्यमित्यग्निर्वै वरेण्यमापो वरेण्यं चन्द्रमा वरेण्यम् ॥ १० ॥ तस्या एव (ष)-द्वितीयः पादो भर्गमयो भुवो भर्गो देवस्य धीमहीत्यग्निर्वै भर्ग आदित्यो वै भर्गश्चन्द्रमा वै भर्गः ॥ ११ ॥ तस्या एष तृतीयः पादः स्वर्धियो यो नः प्रचोदयादिति स्त्री चैव पुरुषश्च प्रजयनतः ॥ १२ ॥

यो वा एतां सावित्रीमेवं वेद स पुनर्मृत्युं जयति ॥ १३ ॥

सावित्री का पहला पाद—'भूः—तत्सवितुर्वरेण्यम' है। अग्नि, जल व चन्द्रमा देवता ही वरेण्य हैं। सावित्री का दूसरा पाद है 'भुवः—भर्गो देवस्य धीमहि' वह तेजोमय है। अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा देवता ही वह भर्ग तेज हैं। सावित्री का तीसरा पाद है 'धियो योनः प्रचोदयात्।'

इस सावित्री देवी को जो स्त्री और पुरुष गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए समझते हैं वे मृत्यु से छूट जाते है अर्थात् पुनः जन्म नहीं लेते ॥ १०—१३ ॥

बलातिबलयोर्विराट् पुरुष ऋषिः । गायत्री छन्द । गायत्री देवता । अकारोकारमकारा बीजाद्याः । क्षुधाऽऽदिनिरसने विनि-योगः । क्लामित्यादि षडङ्गम् । ध्यानम्—

अमृतकरतलाग्रौ सर्वसञ्जीवनाढ्या-
वघहरणसुदक्षो वेदसारे मयूखे ।
प्रणवमयविकारौ भास्कराकारदेहौ
सततमनुभवेऽहं तौ बलातिबलान्तौ ॥

ओ३म् ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विधपुरु-षार्थसिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्त वर-दात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुच्छ्रमोपनाशिनी धीमहि धियो यो नर्जाते प्रचुर्या या प्रचोदयात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहाः ॥ १४ ॥

एवं विद्वान् कृतकृत्यो भवति सावित्र्या एव सलोकतां जयतीत्युपनिषत् ॥ १५ ॥

बलि अतिबलि नाम की दो विद्याओं के ऋषि विराट पुरुष हैं और उनका छन्द और देवता गायत्री हैं। उसका 'अ'कार बीज है और 'उ'कार शक्ति। उनका 'म'कार कीलक है। भूख की निवृत्ति के लिए इसका विनियोग है। क्लीं के माध्यम से इनका षडङ्गन्यास करना चाहिए। ॐ क्लीं हृदयाय नमः, ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा, ॐ क्लीं शिखायै वषट्, ॐ क्लीं कवचाय हुम, ॐ क्लीं नेत्रयाय वौषट्, ॐ क्लीं अस्त्राय फट्।' अब ध्यान का वर्णन किया जाता है। मैं उन बला अतिबला

विद्याओं के देवताओं को सदैव अनुभव करता हूँ जो सूर्य के समान चमकते हुए शरीर वाले, प्रणव स्वरूप, किरणात्मक, वेदों के साररूप, पापों को समाप्त करने में दक्ष, सब तरह की सञ्जीवनी शक्तियों से अधिष्ठित हैं और जिनके हाथ अमृत से भरे हुए हैं। बलि और अतिबलि दोनों विद्याओं के देवताओं का मन्त्र इस प्रकार है:—

ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्लीं महाबले क्लीं चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्लीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुत्भ्रमोपनाशिनि धीमहिधियो या नो जाते प्रचुर्य या प्रचोदयायत्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा।

इस तरह इन विद्याओं को जानने वाला धन्य हो जाता है। वह सावित्री देवी के लोक में पहुँचने की सामर्थ्य रखता है। यह उपनिषद् है ॥ १४ ॥

॥ सावित्र्युपनिषद् समाप्त ॥

सरस्वतीरहस्योपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतितिष्ठता मनो मे वाचि प्रतिष्ठतमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम। अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शान्तिपाठ—ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयं प्रकाश आत्मा! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिये मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ। मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ऋषयो ह वै भगवन्तमाश्वलायनं संपूज्य पप्रच्छुः—
केनोपायेन तज्ज्ञानं तत्पदार्थविभासकम्।
यदुपासनया तत्त्वं जानासि भगवन् वद ॥१

सरस्वतीदशश्लोक्या सऋचा बीजमिश्रया।
स्तुत्वा जप्त्वा परां सिद्धमलभं मुनिपुंगवाः ॥२

ऋषय ऊचुः—

कथं सारस्वतप्राप्तिः केन ध्यानेन सुव्रत।
महासरस्वती येन तुष्टा भगवती वद ॥३

स होवाचाश्वलायनः—

अस्य श्रीसरस्वतीदशश्लोकमहामन्त्रस्य—अहमाश्वलायन ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। श्रीवागीश्वरी देवता। यद्वागिति बीजम्। देवीं वाचमिति शक्तिः। प्रणो देवीति कीलकम्। विनियोगस्तत्प्रीत्यर्थे। श्रद्धा मेधा प्रज्ञा धारणा वाग्देवता महासरस्वतीत्येतैरंगन्यासः॥ ४॥

एक समय की बात है भगवान् आश्वलायन के निकट ऋषिगण गये और उनकी विधिवत् पूजा कर प्रश्न किया 'भगवन्! जिस ज्ञान के द्वारा 'तद्' पदात्मक परमेश्वर का स्पष्ट बोध होता है, उस ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार हो? आपको जिस देवता की उपासना द्वारा तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति हुई है, इसके सम्बन्ध में बताने की कृपा करिये।'

भगवान् आश्वलायन ने कहा—'ऋषियो! मैंने बीज मन्त्र सहित दस ऋषियों वाली सरस्वती दशश्लोकी के द्वारा उपासना करते हुए परासिद्धि को प्राप्त किया है।'

ऋषियों ने पुनः प्रश्न किया—'हे श्रेष्ठव्रती महर्षे? उस सारस्वत मन्त्र की उपलब्धि आपको किस ध्यान के द्वारा किस प्रकार हुई, जिससे आप पर भगवती महासरस्वतीजी का अनुग्रह हुआ है। हमारे प्रति भी उस उपाय को कहने की कृपा करें।'

इस पर उन प्रसिद्ध आश्वलायन ने कहा—'इस श्री सरस्वती दशश्लोकी महामन्त्र का ऋषि मैं ही हूँ। इसका छन्द अनुष्टुप, देवता वागीश्वरी और बीज यद्वाग् है। शक्ति 'देवीं वाचं' कीलक 'प्रणो देवी' है। इसका विनियोग श्री वागीश्वरी देवता के प्रीत्यर्थ है। अंगन्यास श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा, वाग्देवता और महासरस्वती इन नाम-मन्त्रों से किया जाता है॥ १—४॥

नीहारहारघनसारसुधाकराभां

कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम् ।
उत्तुंगपीनकुचकुम्भमनोहरांगीं
वाणीं नमामि मनसा वचसां विभूत्यै ॥५

प्रणो देवीत्यस्य मन्त्रस्य—भरद्वाज ऋषिः। गायत्री छंदः। श्रीसरस्वती देवता। प्रणवेन बीज । शक्तिकीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः। मन्त्रेण न्यासः ॥ ६ ॥

या वेदांतार्थतत्त्वैकस्वरूपा परमेश्वरी।
नामरूपात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥७

ॐ प्रणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
धीनामवित्र्यवतु ॥८

आ नो दिव इति मन्त्रस्य—अत्रिर्ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। ह्रीमिति बीजशक्तिकीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः। मन्त्रेण न्यास ॥ ९ ॥

या संगोपांगवेदेषु चतुर्ष्वेकेव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती ॥१०

ह्रीं आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा
सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्।
हवं देवी जुजुषाणा घृताची
शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु ॥११

पावका न इति मन्त्रस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः। सरस्वती देवता। श्रीमिति बीजशक्तिकीलकम्। इष्टार्थे विनियोग: मन्त्रेण न्यास ॥ १२ ॥

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्तते ।
अनादिनिधनाऽनन्ता सा मां पातु सरस्वती ॥१३

श्रीं पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥१४

चोदयित्रीति मन्त्रस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । सरस्वती देवता । ब्लूमिति बीजशक्तिकीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ १५ ॥

ध्यान इस प्रकार करना चाहिए—'कल्याण प्रदायिनी, हिम, कपूर, मुक्ता अथवा चन्द्रप्रभा के समान शुभ्र कान्तिवती, सुवर्ण के समान पीले चम्पक पुष्पों की माला से अलंकृत, उन्नत सुपुष्ट वक्ष सहित सुन्दर अंगवाली वागेश्वरी को मन और वाणी द्वारा विभूति की सिद्धि के निमित्त नमस्कार करता हूँ ।'

'ॐ प्रणो देवी' मन्त्र के ऋषि भरद्वाज, छन्द गायत्री और देवता सरस्वतीजी हैं । ॐ नमः' बीज, शक्ति तो है ही, साथ ही कीलक भी हैं । अभीष्ट कार्य की सिद्धि के निमित्त इसका विनियोग और मंत्र के द्वारा अङ्गन्यास किया जाता है ।

'जिस सरस्वती का स्वरूप वेदांत का सारभूत ब्रह्मतत्व ही है और जो विभिन्न नाम रूपों में प्रकट हैं, वे सरस्वती मेरी रक्षिका हों ।' दान से सुशोभित होने वाली, स्तोताओं की रक्षिका एवं अन्नवती भगवती सरस्वती हम साधकों को अन्न से परिपूर्ण करें ।

'आ नो दिवा०' इस मंत्र के ऋषि अत्रि, छन्द त्रिष्टुप् और देवता सरस्वती हैं । 'ह्रीं बीज, शक्ति और कीलक है । इच्छित कार्य की सिद्धि के लिए इसका विनियोग तथा इसी मन्त्र द्वारा न्यास किया जाता है ।

'वेदों और उनके अङ्ग-उपाँगों में जिन एक देव की स्तुति की जाती है तथा जो परमब्रह्म की अद्वैत शक्ति हैं, वे भगवती सरस्वती हमारी रक्षिका हों ॥ ५—१० ॥

हमारे द्वारा उपासना के योग्य देवी सरस्वती ज्योतिर्मान् सुलोक से नीचे पर्वताकार मेघों के मध्य होती हुई हमारे यज्ञ में पधारें। वे देवी हमारे स्तोत्र से प्रसन्न होकर स्वेच्छा से हमारे सुख उत्पन्न करने वाले स्तोत्रों को श्रवण करें ॥ २ ॥

'पावकान:' इस मन्त्र के ऋषि मधुच्छदा, छन्द गायत्री, देवता सरस्वती हैं। बीज, शक्ति और कीलक 'श्रीं' है। इसका विनियोग कामना सिद्धि के निमित्त है तथा इसी मन्त्र द्वारा अंगन्यास करने का विधान है।

'जो वर्ण, पद, वाक्य में अर्थों सहित सर्वत्र व्याप्त है, जो आदि अन्त से परे एवं अनन्त रूप वाली हैं, वे देवी सरस्वती मेरी रक्षा करने वाली हों।'

जो देवी सरस्वती सबको पवित्र करती हैं, जो अन्न और कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले धन के प्राप्त कराने में कारणरूपिणी हैं, वे देवी हमारे यज्ञ में आने की इच्छा करें ॥ ३ ॥

'चोदयित्री०' इस मन्त्र के ऋषि मधुच्छान्दा, छन्द गायत्री देवता सरस्वती है। बीज, शक्ति और कीलक 'ब्लूं' तथा कार्य पूर्ति के लिए इसका विनियोग एवं मन्त्र द्वारा ही अंगन्यास किया जाता है ॥११-१५॥

अध्यात्ममधिदैवं च देवानां सम्यगीश्वर।
प्रत्यगास्ते वदंती या सा मां पातु सरस्वती ॥१६
ब्लूं चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥१७

महो अर्णेति मन्त्रस्य—मधुमच्छन्दा ऋषिः। गायत्री छन्दः। सरस्वती देवता। सौरिति बीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ १८ ॥

अन्तर्याम्यात्मना विश्वं त्रैलोक्यं या नियच्छति।

रुद्रादित्यादिरूपस्था सा मां पातु सरस्वती ॥१९
सौः महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥२०

'जो सरस्वती देवताओं की प्रेरणात्मिका शक्ति, अधिदैवरूपिणी एवं हमारे भीतर वाणी रूप में प्रतिष्ठित है, वे भगवती मेरी रक्षिका हों।'

'जो भगवतीसत्य एवं प्रिय वाणी बोलने की प्रेरणा देती हैं तथा श्रेष्ठ बुद्धि वाले कर्मशील पुरुषों को उनके कर्त्तव्य का ज्ञान कराती हैं, उन्हीं देवी सरस्वती ने हमारे इस यज्ञ को धारण किया है।

'महो अर्णः; इस मन्त्र के ऋषि मधुच्छन्दा, छन्द गायत्री, और देवता सरस्वती हैं। बीज, शक्ति और कीलक 'सौः है। इसमें मन्त्र के द्वारा ही न्यास किया जाता है।

'जो सरस्वती अन्तर्यामी रूपसे लोकत्रय का नियंत्रण करने वाली हैं तथा जो रुद्र-आदित्य आदि अनेक देवताओं के रूप में अवस्थित हैं, वे हमारी रक्षिका हों।

'नदी रूप में आविर्भूत सरस्वती अपने प्रवाह रूप कर्म के द्वारा अपने में निहित अगाध जल राशि का परिचय देती हैं। वे ही सरस्वती सब प्रकार की कर्त्तव्यात्मक बुद्धि का विकास करती हैं ॥१६-२०॥

चत्वारि वागिति मन्त्रस्य—उचथ्यपुत्र ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः सरस्वती देवता। ऐमिति बीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ २१ ॥

या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानाऽनुभूयते ।
व्यापिनी ज्ञप्तिरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥२२
ऐं चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।२३

यद्वाग्वदन्तीति मन्त्रस्य— भार्गव ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । क्लीमिति बीजशक्तिकीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ।। २४ ।।

नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता ।
निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ।।२५
क्लीं यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मंद्रा ।
चतस्र लर्जं दुदूहे पयांसि क लिवदस्याः परमं जगाम् ।।२६

'चत्वारि वाक्०' ऋषि उचथ्य-पुत्र दीर्घतमा, छन्द त्रिष्टुप्, देवता सरस्वती, बीज, शक्ति, कीलक 'ऐं'। मन्त्र द्वारा अङ्गन्यास किया जाता है।

जो सरस्वतीदेवी अन्तर्दृग् वाले जीवों के समक्ष विभिन्न रूपों में प्रकट होती तथा जो ज्ञप्ति रूपसे व्याप्त हैं, वे सरस्वती मेरी रक्षिका बनें।

वाणी, परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार पदों वाली है। इन पदों को ज्ञानी जन भले प्रकार जानते हैं। इनमें से प्रथम तीन तो हृदयगह्वर में स्थित होने से प्रकट नहीं होती। परन्तु वैखरी ही मनुष्यों के बोलने में प्रयुक्त होती है ।। ५ ।।

'यद्वाग्वदन्ति०' ऋषि भार्गव, छन्द त्रिष्टुप्, देवता सरस्वती है। बीज, शक्ति कीलक 'क्ली' है। मन्त्र द्वारा ही न्यास होता है।

'जो देवी सरस्वती नाम-रूप के द्वारा अष्टधा बनी हुई तथा निर्विकल्प रूप में भी प्रकट है, वे भगवती मेरी रक्षा करने वाली हों।'

दिव्य भावों को को प्रकट करने वाली और देवताओं को आनन्दित करने वाली, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करती हुई यज्ञ में विराजमान

होने वाली देवी सब दिशाओं के निमित्त अन्न-जल दुहती है। जो इस मध्यमा वाणी में श्रेष्ठ है, उसका गमन कहाँ होता है ? ॥ ६ ॥

'देवी वाच' ऋषि भार्गव, छन्द त्रिष्टुप्, देवता सरस्वती। बीज, शक्ति, कीलक 'सौः' है। मन्त्र द्वारा ही न्यास करना चाहिये।

'जिन वाणी रूपा भगवती सरस्वती का प्रकट अप्रकट वाणी वाले देवादि सम्पूर्ण जीव उच्चारण करते हैं तथा जो भगवती सभी इच्छित पदार्थों को दुग्ध रूप में प्रदान करने वाली कामधेनु हैं, वे मेरी रक्षा करें।' ॥ २१—२६ ॥

देवी वाचमिति मन्त्रस्य—भार्गव ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः सरस्वती देवता। सौरिति वीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ २७ ॥

व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे वेदाद्या व्याहरन्ति याम्।
सर्वकामदुघा धेनुः सा मां पातु सरस्वती ॥२८
सौः देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥२६

उत त्व इति मन्त्रस्य—वृहस्पतिर्ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। समिति वीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ ३० ॥

यां विदित्वाऽखिलं वन्धं निर्मथ्या खिलवर्त्मना।
योगी याति परं स्थानं सा मां पातु सरस्वती ॥३१
स उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वां विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥३२

अम्वितम इति मन्त्रस्य—गृत्समद ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। ऐमिति वीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ ३३ ॥

नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्यतां पुनः ।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥३४
ऐं अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥३५

जो प्रकाशमती वैंखरी वाणी प्राण रूप से देवताओं द्वारा उत्पन्न हुई है, उस वाणी का अनेक प्रकार के देहधारी उच्चारण करते हैं। कामधेनु के समान सुख देने वाली तथा अन्न-बल प्रदायिनी वाणी रूपिणी देवी श्रेष्ठ स्तुतियों से प्रसन्न होती हुई हमारे समीप प्रकट हों।

'उत त्व०' ऋषि बृहस्पति, छन्द त्रिष्टुप, देवता सरस्वती। बीज शक्ति और कीलक 'सं'। मन्त्र द्वारा ही न्यास करना चाहिए।

'जिन सरस्वती को ब्रह्मविद्या रूप से जान लेने पर योगीराज सभी बन्धनों को काट डालते हैं, जिससे पूर्ण मार्ग द्वारा उन्हें परमपद की प्राप्ति होती है, वे देवी मेरी रक्षा करने वाली हों।'

वाणी को देखकर भी कुछ लोग उसे नहीं देखते, सुनकर भी नहीं सुनते। परन्तु कुछ लोग तो ऐसे भाग्यशाली हैं जिनके सामने जैसे पतिकामा स्त्री अपने पति के समक्ष अनावृत्त रूप में उपस्थित होती है, वैसे ही ये वाग्देवी अपने स्वरूप को प्रकट कर देती हैं।

'अम्बित मे' ऋषि गृत्समद, छन्द अनुष्टुप् देवता, सरस्वती, बीज, शक्ति कीलक 'ऐं'। मन्त्र द्वारा न्यास करें।

जिन सरस्वती देवी में ब्रह्मतत्ववेत्ताजन नाम-रूप वाले सम्पूर्ण प्रपञ्च को आविष्ट करते हुए उनका ध्यान करते हैं, वे देवी मेरी रक्षिका हों।

हे सरस्वते! तुम देवियों में, नदियों में और माताओं में भी सर्वश्रेष्ठ हो। हम धन के अभाव से निन्दा को प्राप्त हुए के समान हो रहे हैं। तुम हमें धन रूप समृद्धि दो ॥ २७—३५ ॥

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥३६

नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनी ।
त्वामहं प्रार्थये निंयं विद्यादान च देहि मे ॥३७

अक्षसूत्राङ्कुशधरा पाश पुस्तकधारिणी ।
मुक्ताहारसमायुक्ता वाचि तिष्ठतु मे सदा ॥३८

कम्बुकण्ठी सुताम्रोष्ठी सर्वाभरणभूषिता ।
महासरस्वती देवी जिह्वाग्रे संनिवेश्यताम् ॥३९

या श्रद्धा धारणा मेधा वाग्देवी विधिवल्लभा ।
भक्तजिह्वाग्रसदना शमादिगुणदायिनी ॥४०

नमामि यामिनीनाथलेखाऽलंकृतकुन्तलाम् ।
भवानीं भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम् ॥४१

यः कवित्वं निरातङ्कं भुक्तिमुक्ती च वाञ्छति ।
सोऽभ्यर्च्यैनां दशश्लोक्या नित्यं स्तौति सरस्वतीम् ॥४२

तस्यैवं स्तुवतो नित्यं समभ्यर्च्य सरस्वतीम् ।
भक्तिश्रद्धाऽभियुक्तस्य षाण्मासात् प्रत्ययो भवेत् ॥४३

ततः प्रवर्तते वाणी स्वेच्छया ललिताक्षरा ।
गद्यपद्यात्मकः शब्दैरप्रमेयैर्विवक्षितैः ॥४४
अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः प्रायः सारस्वतः कविः ॥४५

सा होवाच सरस्वती—

आत्मविद्या मया लब्धा ब्रह्मणैव सनातनी ।
ब्रह्मत्वं मे सदा नित्यं सच्चिदानन्दरूपतः ॥४६

जो सरस्वती ब्रह्मा के मुख-कमल रूप वन में राजहंस के समान विचरण करती हैं, वे श्वेत कान्ति और अंगवाली देवी हमारे मन रूपी हृदय में नित्य रमण करें। हे काश्मीरपुर वासिनी शारदे ! मैं नित्य तुम्हारी स्तुति करता हूँ। मुझे विद्या-दान दो। तुम्हें नमस्कार है। तुम अपनी चार भुजाओं में अक्षसूत्र, अंकुश, पाश और पुस्तक धारण करने वाली हो। तुम्हारे हृदय देश पर मुक्ताहार सुशोभित रहता है। तुम सदा मेरी वाणी में निवास करो। तुम्हारी ग्रीवा शख के समान सुन्दर और लाल ओष्ठ हैं तथा तुम विभिन्न आभूषणों से अलकृत हो। तुम मेरी जिह्वा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होओ। भक्तों की जिह्वा के अग्रभाग मे निवास कर उन्हें शम दम प्रदान करने वाली वे सरस्वती श्रद्धा, धारणा और मेधा स्वरूपिणी तथा ब्रह्माजी की प्रियतमा हैं। चन्द्रकला से विभूषित केश-पाश वाली तथा संसार-बन्धन को काटने वाली अमृत जलयुक्त नदी रूपिणी भगवती सरस्वती को मैं नमस्कार करता हूँ। जो कवित्व, भोग, निर्भयता अथवा मोक्ष की इच्छा करता हो वह इन दशों मन्त्रों के द्वारा भगवती सरस्वती की भक्ति पूर्वक पूजा-स्तुति करे। भक्ति और श्रद्धा सहित विधिपूर्वक पूजा कर नित्य स्तुति करने वाला भक्त छः मास में ही उनकी कृपा को प्राप्त कर लेता है। इसके अनन्तर गद्य-पद्य से निहित सुन्दर शब्दों वाली वाणी उसके मुख से स्वय ही उद्भूत होने लगती है। सरस्वती की भक्ति करने वाला कवि दूसरों से सुने बिना ही ग्रन्थों के अर्थों का समझने वाला होता है। हे विप्रो ! भगवती सरस्वती ने ही अपनी भक्ति के इस प्रभाव को अपने श्री मुख से कहा था। ब्रह्माजी के द्वारा ही पुरातन आत्मविद्या को प्राप्त कर सका और अब मे सच्चिदानन्द रूप वाले नित्य ब्रह्मत्व से सम्पन्न हूँ ॥३६-४६॥

प्रकृतित्वं ततः स्पृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः।
सत्यामाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥४७
तेन चित्प्रतिबिम्बेन त्रिविधा भाति सा पुनः।

प्रकृत्यवच्छिन्नत या पुरुषत्वं पुनश्च ॥४८
शुद्धसत्त्वप्रधादायां मायायां बिम्बितो ह्यजः ।
सत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्मयेति प्रतिपाद्यते ॥४९
सा माया स्ववशोपाधिः सर्वज्ञस्येश्वरस्य हि ।
वंश्यमायत्वमेकत्वं सर्वज्ञत्व च तस्य तु ॥५०
सात्त्विकत्वात् समष्टित्वात् साक्षित्वाज्जगतामपि ।
जगत् कर्तुमकर्तुं वा चान्यथा कर्तुमीशते ।
यः स ईश्वर इत्युक्तः सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ॥५१
शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपा वृतिरूपकम् ।
विक्षेप शक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ॥५२
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥५३
साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गदेहेन संयुतम् ।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ॥५४
अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभास्ते ।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥५५
तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति ।
या शक्तिस्यद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥ . ६
अत्राप्यावृतिनाशे न विभाति ब्रह्मसर्गयोः ।
भेदस्तयोर्विकारः स्यात् सर्गे न वह्मणि क्वचित् ॥५७
अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूप जगद्रूपं ततो द्वयम् ।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्तत्परः ॥५८

फिर सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की समानता से प्रकृति रची गई। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वैसे ही प्रकृति में चेतन का प्रतिबिम्ब सत्य के समान लगता है। उस चेतन के प्रतिबिम्ब से प्रकृति तीन प्रकार की लगती है। प्रकृति के योग से ही तुम्हें यह देह मिला है। सत्व गुण की प्रधानता वाली प्रकृति माया कही जाती है। उस माया में प्रतिम्बिवित चेतन ही अजन्मा है। यह माया सब के जानने वाले ब्रह्म की आज्ञाकारिणी उपाधि है। माया को अपने वश में रखना, अद्वितीय और सर्वज्ञ होना यही ब्रह्म के मुख्य लक्षण हैं। यह ब्रह्म सब लोकों के साक्षी स्वरूप होने के कारण संसार की रचना करने, न करने तथा उससे भी भिन्न कार्य करने में पूर्ण समर्थ हैं। विशेप ग्रौर आवरण माया की यह दो शक्तियाँ कही गई हैं। विशेष रूप शक्ति लिंगदेह से ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी संसार की रचना करती है। आवरण शक्ति द्रष्टा और दृश्य के अन्तर को तथा ब्रह्म और सृष्टि के अन्तर को ढकने वाली है। साक्षी को वह लिंग-देह वाली प्रतीत होने से बन्धन के देने वाली है। चेतन का प्रतिबिम्ब जब कारण रूपा प्रकृति में निहित होता है तब विश्व में कार्यकारी जीव की उत्पत्ति होती है। आरोपित होने से उसका जीवत्व साक्षी रूप ब्रह्म में भी परिलक्षित होता है। आवरण-शक्ति के हट जाने पर भेद का स्पष्ट रूप से आभास होने लगता है और जीवत्व की स्थिति समाप्त हो जाती है। सृष्टि और ब्रह्म के भेद को आवृत्त करने वाली शक्ति के वशीभुत हुआ ब्रह्म विकारयुक्त प्रतीत होता है। आवरण के हटते ही ब्रह्म और सृष्टि के भेद की प्रतीति होने लगती है। परन्तु विकार की स्थिति ब्रह्म में नहीं होती, सृष्टि में ही होती है। अस्ति, भाँति, प्रिय, रूप और नाम इन पांच अंशों में से प्रथम तीन तो ब्रह्म के स्वरूप है और नाम, रूप यह दोनों ही विश्व-रूपार्थक हैं। दोनों से सम्बन्धित हो जाने पर ही ब्रह्म इस विश्व के रूप में स्थित होता है ॥४६-५८॥

समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथ वा बहिः ॥५९
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि ।
दृश्यशब्दानुभेदेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥६०
कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् ।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥६१
असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥६२
स्वानुभूतिरसावेशाद्दृश्यशब्दद्यपेक्षितुः ।
निर्विकल्पसमाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥६३
हृदि वा बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्यः सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥६४
स्तब्धीभावो रसास्वादात् तृतीयः पूर्ववन्मतः ।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत् कालं निरन्तरम् ॥६५
देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम् ॥६६
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥६७
मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न च ।
इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः ॥
इत्युपनिषत् ॥६८

साधना करने वाला पुरुष बाह्याभ्यंतरिक रूप से सदा ही समाधिरत रहे। हृदय में सविकल्प और निर्विकल्प इन दो प्रकारों की समाधि होती है। सविकल्प समाधि के भी दो रूप हैं दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध। चित्त में जो कामादि विकारों की उत्पत्ति होती है, वे सब विकार दृश्य हैं और चेतन आत्मा उनके साक्षी रूप में है। यही

दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कही गई है । शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि वह है जिसमें साधक सोचता है कि मैं अद्वैत स्वरूप हूं, सङ्ग-रहित और स्वयं प्रकाश हूं । मैं ही सच्चिदानन्द हूं । आत्म रूप में अनुभव किये जाने वाले रस के आवेश से दृश्य और शब्द की उपेक्षा वाले साधक का हृदय निर्विकल्प समाधि का अनुभव करता है । जैसे वायु-रहित स्थान में रखा हुआ दीपक अविचल रूप से प्रकाशित होता रहता है, वैसे ही साधक की स्थिति रहती है । यह हृदय के भीतर होने वाली समाधि के ही दो रूप कहे हैं । इसी प्रकार बाहर भी किसी वस्तु विशेष के प्रति चित्त में एकाग्रता होने पर समाधि लग जाती है । दृष्टा और दृश्य के विवेक से प्रथम प्रकार की समाधि लगती है और जिसमें प्रत्येक वस्तु से उसके नाम रूप का पृथक्करण होने पर उसके आश्रयभूत चेतन का चिन्तन होता है, वह द्वितीय प्रकार की समाधि कही गई है । जिसमें चैतन्य रस की अनुभूति से उत्पन्न हुए आवेश से स्तब्धता की स्थिति हो, वह तीसरे प्रकार की समाधि है । इन समाधियों में ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए । शारीरिक अभिमान नष्ट होकर परमात्म-तत्त्व का ज्ञान होने पर मन जहां-जहां पहुंचता है, वहीं वह श्रेष्ठ अमृतत्व के अनुभव द्वारा सुखी होता है । उस समय सभी संशय मिट जाते और हृदय-ग्रन्थियां खुल जाती हैं । उस कलायुक्त तथा कला-रहित ब्रह्म के साक्षात्कार से सभी कर्मों का क्षय हो जाता है । जो मनुष्य जीवत्व और ईश्वरत्व के भेद को यथार्थ नहीं मानता, वही मुक्त पुरुष है इसे सत्य समझना चाहिए ।। ५६—६८ ।।

॥ सरस्वतीरहयोपनिषद् समाप्त ॥

—:०:—

देव्युपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

शान्तिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति, शांति, शांति ।।

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः काऽसि त्वं महादेवि ।।१

साऽब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी । मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च । अहमानन्दानानन्दाः । विज्ञानाविज्ञाने-ऽहम् । ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये । इत्याहाथर्वणी श्रुतिः ।।२।।

अहम् पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि । अहमखिलं जगत् । वेदो-ऽहमवेदोऽहम् । विद्याऽहमविद्याऽहम् । अजाऽहमनजाऽहम् । अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक चाहम् ।।३।।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।

अहं मित्रावरुणावुभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ ।।४।।

अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम् ।
विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि ॥५

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।
अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ॥६
मम योनिरप्स्वन्तःसमुद्रे य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति ॥७

देवी के समीप जाकर सभी देवताओं ने निवेदन किया—'महा-देवि ! अपने सम्बन्ध में बताओ कि तुम कौन हो ?' ॥१॥

देवी ने उत्तर दिया—'मैं ब्रह्म स्वरूपिणी हूँ। यह कार्य-कारण रूप, प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्द रूपिणी तथा अ नन्द-रहित रूप वाली हूँ। मैं विज्ञानमयी और अविज्ञान रूप हूँ। मैं ज्ञातव्य ब्रह्म तथा ब्रह्म से परे भी हूँ। मैं पञ्चीकृत अथवा अपञ्चीकृत महाभूत हूँ। दिखाई पड़ने वाला यह सम्पूर्ण विश्व मैं ही हूँ। विद्या-अविद्या, वेद-अवेद, अजा और अनजा मैं ही हूँ। मैं नीचे भी हूँ, ऊपर भी हूँ, अगल-बगल में भी मैं ही हूं। मैं रुद्रों और वसुओं के रूप में संचार करने वाली हूँ। आदित्यों और विश्वेदेवों के रूप में भ्रमण करती रहती हूँ। मैं ही मित्रावरुण, इन्द्राग्नि और अश्विद्वय की पालिका हूँ। सोम, पूषा, भग और त्वष्टा को मैं ही धारण करती हूँ। तीनों लोकों को आक्रान्त करने के उद्देश्य से पदक्षेप करने वाले विष्णु ब्रह्मा और प्रजापति के धारण करने वाली हूँ। देवताओं के लिए हवि-वाहक और सोमाभिषव वाले यजमान के निमित्त हवियुक्त धनों को धारण करती हूँ। मैं उपासकों के लिए धन-दायिनी, ज्ञानवती, यज्ञों में नायिका तथा सम्पूर्ण विश्व की अधीश्वरी हूँ। विश्व के पिता रूप आकाश को परमात्मा के ऊपर मैं ही प्रकट करती हूँ। मेरा स्थान आत्मरूप की धारियित्री बुद्धि वृत्ति में है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी पुरुष दिव्य सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ २-७ ॥

ते देवा अब्रुवन्—

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥८
तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरां नाशय ये तमः ॥९
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥१०
कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्।
सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम् ॥११
महालक्ष्मीश्च विद्महे सर्वसिद्धिश्च धीमहि।
तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥१२
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्षया दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥१३
कामो योनिः कामकला वज्रपाणि—
गुहा हसा मातरिश्वाऽभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च
पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम् ॥१४

एषाऽऽत्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी पाशांकुशधनुर्वाणधरा। एषा श्रीमहाविद्या ॥ १५ ॥ य एवं वेद स शोकम् तरति ॥ १६ ॥ नमस्ते अस्तु भगवति भवति मातरस्मान् पातु सर्वतः ॥ १७ ॥

देवताओं ने कहा—'देवी को नमस्कार! महान् पुरुषों को भी अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त करने वाली कल्याणकारी महादेवी को सादर नमस्कार है। गुणों से साम्य अवस्था वाली कल्याणी को नमस्कार है। हम उन्हें विधिवत् प्रणाम करते हैं। वे अग्नि के समान तेजोमयी, ज्ञान से प्रकाशमाना, कर्मफल की प्राप्ति के लिए सेव्यमाना एवं दीप्तिमयी

भगवती दुर्गा की हम शरण ग्रहण करते हैं। हे दैत्यविनाशिनी देवि ! तुम्हें नमस्कार है। देवताओं द्वारा उत्पन्न वैखरी वाणी का अनेक प्रकार के प्राणी उच्चारण करते हैं। वे कामधेनु के समान सुख देने वाली तथा अन्न, बल दायिनी वाणी रूपा देवी हमारी उत्तम स्तुति से सन्तुष्ट होकर हमारे निकट पधारें। जो वेदों द्वारा स्तुत, काल-नाशिनी, विष्णु शक्ति, सरस्वती, स्कन्दमाता, देवमाता, अदिति अथा दक्ष-कन्या सती रूप वाली भगवती हैं, उन कल्याणमयी और पापनाशिनी भगवती को हम नमस्कार करते हैं। हम सर्वशक्ति वाली भगवती महालक्ष्मी से परिचित हैं और उनका सदा ध्यान करते हैं। वे देवी हमें अपने विषय विशेष में प्रस्तुत करें।

हे दक्ष ! आपकी कन्या अदिति के प्रसूता होने पर अमृतत्व गुण वाले देवताओं की उत्पत्ति हुई। काम, योनि, कमल, वज्री, गुहा, वर्ण, वायु, अभ्र, वज्रपाणि, गुहा, सकलरूप वर्ण एवम् माया यह सब उस जगन्माता की ब्रह्मरूपिणी मूल विद्या है। यह विश्व को विमोहित करने वाली, पाश-अंकुश-धनुष बाण धारिणी परब्रह्म की शक्ति हैं। यही श्री महाविद्या हैं। इस प्रकार जानने वाला पुरुष शोक-सन्ताप से मुक्त हो जाता है। हे जगन्माता ! तुम्हें नमस्कार है। तुम सभी प्रकार से हमारी रक्षा करने वाली बनो ॥ ८-१७ ॥

सैषाऽष्टौ वसवः। सैषैकादशरुद्रा। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतींषि कलाकाष्ठाऽऽदिकाल-रूपिणी। तामहं प्रणौमि नित्यम् ॥ १८ ॥

तापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम् ॥१९
वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।

अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ॥२०

एवमेकाक्षरम् मन्त्रम् यतयः शुद्धचेतसः ।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ॥२१

वाङ्मया ब्रह्मभूस्तस्मात् षष्ठम् वक्त्रसमन्वितम् ।
सूर्यो वामश्रोत्र बिन्दुः संयुताष्टतृतीयकम् ॥२२
नारायणेन संयुक्तो वायुश्चाधरसंयुतः ।
विच्चे नवार्ण कोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः ॥२३
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम् ।
पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम् ।
त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुघां भजे ॥२४
नमामि त्वामहं देवीं महाभयविनाशिनीम् ।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम् ॥२५

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया । यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता । यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या । यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽजा । एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एका । एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका । अत एवोच्यतेऽज्ञेयाऽनन्ताऽलक्ष्याऽजैका नैका ॥ २६ ॥

वही यह एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य और अष्ट वसु हैं । वही यह सोमपायी, विश्वदेवा हैं । वही यह यातुधान, दैत्य राक्षस, पिशाच, यक्ष और सिद्ध हैं । वही यह विष्णु और रुद्र रूप वाली तथा सत्त्व-रज-कला काष्ठादि सहित काल स्वरूपा हैं । भोग और मोक्षदायिनी पापनाशिनी, विश्व की अधिष्ठात्री, अन्त से अतीत, कल्याण-मङ्गल रूप वाली,

दोपरहित एवम् आश्रयवादी भी यही हैं। हम इन देवी को सदा नमस्कार करते है।

आकाश एवं ईकार युक्त, अग्नि सहित अर्द्धचन्द्र से विभूषित जो बीज है, वह सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। जिन साधकों का मन शुद्ध है, वे इस एकाक्षर ब्रह्म का चिन्तन करते है। वाणी, माया, काम, वक्त्र, दक्षिण कर्ण, बिन्दु, नारायण, अधर, विच्चे इनसे युक्त नवार्ण मन्त्र उपासकों को सायुज्य पदवी प्रदान करने वाला है।

हृदय-कमल में निवास करने वाली, अरुणोदय के समान प्रभा वाली, पाश-अंकुशधारिणी मनोहर रूप वाली वरदहस्त और अभय मुद्रा वाली त्रिनेत्रा, लोहितवसना, कामना पूर्ण करने वाली देवी का मैं सदा भजन करता हूं। हे महादेवि ! तुम महान् भय और महान् सङ्कट को दूर करने वाली तथा करुणामयी मूर्ति हो। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं। ब्रह्मादि भी जिनके यथार्थ रूप को नहीं जानते, इसीलिए जो अज्ञेया तथा अन्त न होने से अनन्ता कही जाती हैं, जो दिखाई न पड़ने से अलक्ष्या, जन्म रहित होने से अजा, एक ही सर्वत्र व्याप्त होने से एका तथा विश्व रूप में अकेली ही सुशोभित होने से नैका कही जाती है॥ १८-२६॥

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यनां शून्यसाक्षिणी॥२७
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।
तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम्॥२८

इदमथर्वणशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षजपफल मवाप्योति। इदमथर्वणशीर्षं ज्ञात्वा योऽर्चां स्थापयति॥२९।

शतलक्षं प्रजप्त्वाऽपि नार्चासिद्धिं च विन्दति।
शतमष्टोत्तरं चास्याः पुरश्चर्याविधिः स्मृतः॥३०

दशवारं पठेद्यस्तु सद्यः पापैः प्रमुच्यते ।
महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः ॥३१

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत् सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति । निशीथे तुरीयसंध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिर्भवति । नूतन-प्रतिमायां जप्त्वा देवतासांनिध्यं भवति । प्राणप्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति । भौमाश्विन्यां महादेवीसंनिधौ जप्त्वा महामृत्युं तरति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥३२॥

समस्त अक्षरों में मूलाक्षर रूप में रहने वाली, चिन्मयातीता, शून्यसाक्षिणी वे सर्वश्रेष्ठ दुर्गा के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन संसार सागर से तार करने वाली, दुराचार को नष्ट करने वाली दुर्गा देवी को मैं भव-सागर से भयभीत हुआ नमस्कार करता हूँ।

इस अथर्वशीर्ष का जप करने वाले को पाँचों अथर्वशीर्ष के जप का फल प्राप्त होता है। इसके बिना जाने हुए लाखों बार अर्चना करने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता। इसका दस वार जप करने से समस्त पापों से उसी समय मुक्ति हो जाती है। सायंकाल में पाठ करने से दिन भर के और प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि भर के पाप दूर हो जाते हैं। मध्य रात्रि के पाठ से वाक् सिद्धि होती है। भौमाश्विनी योग में पाठ करने से महा-मृत्यु से परित्राण होता है॥ २७-३२॥

॥ देव्युपनिषद् समाप्त ॥

बह्वृचोपनिषत

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्तिपाठ—ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूं। मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।

ॐ देवी ह्येकाऽग्र आसीत् । सैव जगदण्डमसृजत । कामकलेति विज्ञायते । शृङ्गारकलेति विज्ञायते ॥१॥

तस्या एवब्रह्माऽजीजनत् । विष्णुरजीजनत । रुद्रोऽजीजनत् । सर्वे मरुद्गणा अजीनन् । गन्धर्वाप्सरसः । किनरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन् । भोग्यमजीजनत् । सर्वमजीजनत् । सर्वं शाक्तमजीजनत् । अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत् किंचैतत् प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनन् ॥२॥

सैषा परा शक्तिः । सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्योमोमों वाचि प्रतिष्ठा ॥३॥

सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य वहिरन्तरवभासयन्ती देश-कालवस्त्वन्तरासङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥४॥

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा । अत एषा ब्रह्मसंवित्ति-र्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याऽद्वितीयाब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी वहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव विभाति । यदस्ति सन्मात्रम् । यद्भाति । चिन्मात्रम् । यत् प्रिय-मानन्दम् । तदेतत् सर्वाकार महात्रिपुरसुन्दरी । त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता । इतरत् सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी । सत्यमेकं ललिताऽऽख्य वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म ॥५॥

पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः ।
अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् ॥ इति ॥६॥

देवी ने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की और वही संसार की उत्पत्ति से पहले थीं । वह ही कामकला और शृङ्गारकला के नाम से प्रसिद्ध हैं । उन्हीं से ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र का प्रादुर्भाव हुआ । उन्हीं से सारे मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और किन्नर उत्पन्न हुए, समस्त भोग सामग्री का कारण वही हुई । सब कुछ उन्हीं से सृजन हुआ । शक्ति से ही सब कुछ बना । मनुष्य तथा समस्त स्थावर-जंगम प्राणियों (अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज) की उत्पत्ति उन्हीं से हुई, उन्हीं को अपरा शक्ति, शाम्भवी विद्या, कादि विद्या, हादि विद्या, सादि विद्या, व रहस्यरूपा कहते हैं । वे ही वह अक्षर तत्व हैं जो प्रणव का प्रतिपादन करती हैं, प्रणव स्वरूपा हैं, प्रत्येक प्राणी की वाणी पर अधिष्ठित हैं । वे ही तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) व तीनों प्रकार के शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) में व्याप्त हो रही हैं और वही उनको प्रकाशित कर रही हैं । वे देश, काल और वस्तु की सीमा के भीतर रहती हैं, परन्तु यह उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते और वे प्रत्येक प्राणी में चेतना उत्पन्न करती

हैं। उन्हीं को आत्मा कहा जाता है। उनको छोड़कर सब कुछ असत्य और अनात्य है। वे परब्रह्म का बोध कराने वाली विद्या शक्ति हैं। वे ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली हैं वे सत, चित् और आनन्दस्वरूपा हैं। प्रत्येक वस्तु के बाहर और भीतर व्याप्त हो रही हैं। उनके अस्ति, भाति और प्रिय तीनों रूप, सत, चित् और आनन्द के बोधक है। इस प्रकार से वह महात्रिपुरसुन्दरी समस्त स्थूल वस्तुओं में अधिष्ठित है। मैं और तुम, देवता, सारा संसार व शेष सब कुछ वे देवी ही है। ललिता ही सत्य हैं, वे ही परब्रह्म तत्व हैं। पाँच रूपों (अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप) के त्यागने और अपने रूप के न त्यागने से जो सत्ता शेष रह जाती है, उसी को परम तत्व कहते हैं ॥ १ ॥

प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते ; तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा ॥७॥

योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाव्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाऽम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति वरस्वयंकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति ॥८॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यतिय इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
इत्युपनिषत् ॥९॥

"प्रज्ञान ही ब्रह्म है" व 'मैं ही ब्रह्म हूँ' आदि वाक्यों से उसी परम तत्व को व्यक्त किया जाता है। जब तक 'वह-तू-मैं' कहते हैं तो हम उसी को प्रकट करते हैं। 'जो वह है, वह ही मैं हूँ' 'वह भी मैं

हूँ" "ब्रह्म भी मैं ही हूँ" "आत्मा ब्रह्म है" यदि वाक्यों द्वारा उसी परम विद्या का विवेचन होता है। उसी पञ्चदशाक्षरवाली देवी के ही वाला, अम्बिका, वगला, मातङ्गी स्वयंवर-कल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चण्डा, वाराही, तिरस्करिणी, राजमातङ्गी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढ़ा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती, ब्रह्मानन्दकला, आदि नाम है। जिस विनाश को प्राप्त न होने वाले आकाश में सारे देवता विराजमान रहते हैं, उसी परम आकाश में ऋचाएं अधिष्ठित हैं। जो उस परम आकाश को भली-भाँति समझने की चेष्टा नहीं करता, वह केवल ऋचाओं के पढ़ने से कुछ नहीं कर सकता। उसको भली प्रकार समझ लेने वाले ही उसमें सदा निवास करने का स्थान पा जाते हैं।

॥ वह्वृचोपनिषद् समाप्त ॥

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमावि-रावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेना-धीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मा-मवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम। अवतुवक्तारमवतु वक्तारम्॥
ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।

शांति पाठ—ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ। मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।

प्रथमः खण्डः

अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मी-विद्याम्॥१॥

तथेत्यवोचद्भगवानादिनारायणः सर्वे देवा यूय सावधान मना भूत्वा शृणुत। तुरीयरूपां तुरीयातीतां सर्वोत्कटां सर्व-मन्त्रासनगतां पीठोपपीठदेवतापरिवृतां चतुर्भुजां श्रियं हिरण्य-वर्णामिति पञ्चदशर्ग्भिर्ध्यायथ॥२॥

अथ पञ्चदशऋगात्मकस्य श्रीसूक्तस्यानन्दकर्दमचिक्लीतेन्दि-रासुता ऋषयः।। श्रीरिष्याद्या [या] ऋचः। चतुर्दशानामृचा-

मानन्दाद्दषय: । हिरण्यवर्णामित्याद्यृक्त्रयस्यानुष्टुप् छन्दः । कासोऽस्मीत्यस्य वृहती छन्दः । तदन्ययोर्द्वयोस्त्रिष्टुप् । पुनरष्टकस्यानुष्टुप् । शेषस्य प्रस्तारपङ्क्तिः । श्रयग्निर्देवता । हिरण्यरजतस्रजा बीजम् । कासोऽस्मीति शक्तिः । हिरण्मया चन्द्रा णचनस्रजा हिरण्यस्रजा हिरण्या हिरण्यवर्णेति प्रणवादिनमोऽन्तैश्चतुर्थ्यन्तैरङ्गन्यासः । अत्र वक्त्रयैरङ्गन्यासः मस्तकलोचनश्रुतिघ्राणवदन कण्ठबाहुद्वयहृन्नाभिगुह्यपायूरुजानुजङ्घेषु श्री सूक्तैरेव क्रमशो न्यसेत् ॥३॥

अमलकमलसंस्था तद्रजः पुञ्जवर्ण
करकमलधृतेष्टाभीतियुग्माम्बुजा च ।
मणिकटकविचित्रालंकृताकल्पजालैः
सकलभुवनमाता संततं श्रीः श्रियै नः ॥४

एक समय की बात है, भगवान् आदि नारायण से देवताओं ने निवेदन किया—'प्रभो ! सौभाग्यलक्ष्मी विद्या का हमारे उपदेश करिये ।

भगवान् ने कहा—'देवताओ ! एकाग्र मन से सुनो । स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप अवस्थाओं से जो तुरीयावस्था, वरन् तुरीयावस्था से भी परे निर्गुण एवं विकराल रूप वाली हैं, जो मन्त्र रूप आसन पर प्रतिष्ठित होने वाली हैं. पीठों और उपपीठों में विराजमान देवगण से घिरी हुई हैं, उन चार भुजा वाली लक्ष्मीजी का श्रीसूक्त की पन्द्रह ऋचाओं के द्वारा चिंतन करना चाहिए ।

उन पन्द्रह ऋचाओं के ऋषि इन्दिरा, आनन्द, कर्दम और चिक्लीत हैं । प्रथम मंत्र की ऋषि इंदिरा शेष मंत्रों के ऋषि पुत्र हैं । प्रथम तीन ऋचाओं का छन्द अनुष्टुप् चौथी का वृहती, पांचवीं-छठवीं का त्रिष्टुप्. सातवीं से चौदवीं तक का अनुष्टुप् और प्रस्तार पंक्ति हैं ।

देवता श्री और अग्नि, बीज 'हिरण्यबर्णम्', शक्ति 'का सोस्मि' है। हिरण्यमयी, चन्द्रा, रजतस्रजा, हिरण्यस्रजा हिरण्या, हिरण्यवर्णा इन नामों को चतुर्थी विभक्ति में रखकर ओंकार से आरम्भ कर अन्त में नमः उच्चारण करता हुआ न्यास करे।

फिर श्रीसूक्त के मन्त्रों से अङ्गन्यास करे फिर निम्न मन्त्र से ध्यान करे—

'अरुण वर्ण के कमलदल पर विराजमान, कमल-पराग की राशि के समान पीले रङ्ग वाली, वर-मुद्रा, अभय-मुद्रा और दो हाथों में कमल-पुष्प-धारिणी, मणिमय कंकणों से अलंकृत, सब लोकों की माता श्री महालक्ष्मी हमें निरन्तर श्री से सम्पन्न बनावे' ॥१—४॥

तत्पीठम्। कर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। वस्वादित्यकलापद्मेषु श्रीसूक्तगताधर्धर्चा तद्बहिर्यः शुचिरिति मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशशं च विलिख्य श्रियमावाहयेत् ॥५॥

अङ्गैः प्रथमाऽऽवृतिः। पद्मादिभिर्द्वितीया। लोकेशैस्तृतीया। तदायुधैस्तुरीयाऽऽवृतिर्भवति। श्रीसूक्तैरावाहनादि। षोडशसहस्रजपः ॥६॥

सौभाग्यरमैकाक्षर्या भृगुनृचद्गायत्रीश्रिय ऋष्यादयः।
शमिति बीजशक्तिः। श्रामित्यादि षडङ्गम् ॥७
ययाद्भूयो द्विपद्माभयवरदकरा तप्तकार्तस्वराभां
शुभाभ्राभ्राभेभयुग्मद्वयकरघृतकुम्भाद्भिरासिच्यमाना।
रत्नौघाबद्धमौलिर्विमलतरदुकूलार्तवालेपनाढ्या

पद्माक्षी पद्मनाभोरसि कृतवसतिः पद्मगा श्रीः श्रियै नः ॥८॥

पीठ कर्णिका के भीतर साध्य कार्य श्रीबीज लिखे फिर अष्टदल, द्वादशदल और षोडशदल वाले पद्मों पर भूवृतों के मध्य में श्रीसूक्त की

आधी-आधी ऋचा लिखे। फिर निर्भूवृत्त में फलश्रुतिरूप ऋचा लिख कर षोडशार के बीच में और ऊपर'अ' से 'स'कार तक मातृका वर्णों का लेखन करे। सबसे ऊपर निर्भूवृत्त में वषड् सम्पन्न त्वरिता बीज के सहित श्रीबीज का लेखन करे। इस प्रकार दश अङ्गों वाला श्रीचक्र बनावे।

अङ्ग मन्त्रों के द्वारा प्रथम आवरण पूजा की जाती है। पद्म निधियों के द्वारा दूसरी बार आवरण पूजा की जाती है। लोकपालों के द्वारा तृतीय आवरण पूजा होती है। वज्रादि आयुधों के द्वारा चतुर्थ आवरण पूजा का क्रम है। श्रीसूक्त की ऋचाओं से आवाहनादि कार्य किये जाते हैं। इतना करने के पश्चात पुरश्चरण के लिए सोलह हजार मंत्र-जप का विधान है।

एकाक्षर सौभाग्यलक्ष्मी मन्त्र के ऋषि भृगु, छन्द नीचृद्गायत्री और देवता श्री हैं। बीज 'श्रो' और अङ्गन्यास 'श्रां' इत्यादि के द्वारा होता है।

जिन श्रीदेवी ने अपने दो हाथों में कमल तथा दो में वर मुद्रा और अभयमुद्रा ग्रहण की हुई हैं, जिनके देह की कान्ति स्वर्ण के समान है, जो शुभ्र मेघ के समान आभा वाली दो हाथियों की सूँड़ों में धारण किये कलशों के जल से अभिषिक्त हो रही हैं, जिनके सिर पर लाल वर्ण के रत्नों का मुकुट सुशोभित है, जिनके अंगों पर ऋतु के अनुकूल अंग राग लिपे हुए हैं, जो स्वच्छ वस्त्र वाली हैं, कमल के समान नेत्र वाली, पद्मनाभ निवासिनी, कमलासना श्रीदेवी हमारे निमित्त परम ऐश्वर्य प्रदान करावें ॥५—८॥

तत्पीठम् । अष्टपत्रं वृत्तत्रयं द्वादशराशिखण्डं चतुरश्रं रमापीठं भवति । कर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम् । विभूतिरुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्तिः सन्नतिर्व्युष्टिरुत्कृष्टिर्ऋद्धिरिति प्रणवादिनमोऽन्तैश्चतुर्थ्यन्तैर्नवशक्ति यजेत् ॥९॥

अङ्गैः प्रथमाऽऽवृतिः । वासुदेवादिर्द्वितीया । बालक्यादिस्तृतीया । इन्द्रादिभिश्चतुर्थी भवति । द्वादशलक्षजपः ॥ १० ॥

श्रीलक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी वसुप्रदा हिरण्यरूपा स्वर्णमालिनी रजतस्रजा स्वर्णप्रभा स्वर्णप्राकारा पद्मवासिनी पद्महस्ता पद्मप्रिया मुक्तालङ्कारा चन्द्रा सूर्या बिल्वप्रिया ईश्वरी भुक्तिर्मुक्तिर्विभूतिर्ऋद्धिः समृद्धिः कृष्टिः पुष्टिर्धनदा धनेश्वरी श्रद्धा भोगिनी भोगदा धात्री विधात्रीत्यादिप्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ता मंत्राः । एकाक्षरवदङ्गादिपीठम् । लक्षजपः । दशांश तर्पणम् । शतांशं हवनम् । सहस्रांशं द्विजतृप्ति ॥११॥ निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः । न कदाऽपि सकामानामिति ॥ १२॥

तीन वृत्तों से युक्त रमापीठ यंत्र अङ्कित करे। अष्टदल कर्णिका में साध्य सहित श्री बीज लिखे। प्रारम्भ से ओंकार और अन्त में नमः के योग सहित प्रत्येक नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग द्वारा नौ शक्तियों की पूजा करे। विभूति, उन्नति, कान्ति, सृष्टि, कीर्ति, सन्नति, व्युष्टि, सत्कृष्टि एवं ऋद्धि यही नौ शक्तियाँ है। अङ्गन्यास द्वारा प्रथम आवरण पूजा करे। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का क्रमशः पूजन करे। इस प्रकार द्वितीय आवरण पूजा होती है। फिर बालकी आदि की पूजा द्वारा तृतीय आवरण को पूजे। फिर इन्द्रादि देवों और उनके आयुधों के द्वारा चतुर्थ आवरण की पूजा करे। पुरश्चरण के निमित्त द्वादशलक्ष मंत्र-जप का विधान है।

त्र्यक्षरी विद्या के पूजन में आदि में ओंकार और अन्त में नमः लगाकर प्रत्येक नाम की चतुर्थी विभक्ति सहित प्रयोग होता है। श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुप्रिया, हिरण्यरूपा, वसुप्रदा, रजतस्रजा, स्वर्णमालिनी, स्वर्णप्रभा, स्वर्णप्रकाश, पद्मवासिनी, पद्महस्ता, पद्मप्रिया, विल्वप्रिया, चन्द्रसूर्या, मुक्तालङ्कार, ईश्वरी, भुक्ति, मुक्ति, विभूति, ऋद्धि,

समृद्धि, कृष्टि, पुष्टि, धनदा, धनेश्वरी, श्रद्धा, सावित्री, भोगिनी, भोगदा, धात्री, विधात्री, प्रभृति नामों के द्वारा शक्ति-पूजन करे। एकाक्षर मंत्र के समान ही पीठ पूजा की जाती है। पुरश्चरण के निमित्त एक लक्ष मंत्र-जप करना चाहिए। जप का दसवां भाग तर्पण, तर्पण का दसवां भाग हवन और हवन का दसवां भाग ब्राह्मण भोजन कराना चाहिये। इस श्रीविद्या की प्राप्ति उन्हीं को होती है जो कामना-रहित भाव से उपासना करते हैं। कामना सहित उपासना करने वालों को इसकी सिद्धि नहीं होती ॥ ६—१२ ॥

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनं देवा ऊचुस्तुरीयया मायया निर्दिष्टं तत्त्वं ब्रूहीत तथेति स होवाच—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्धते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥ १ ॥
समापय्य निद्रां सुजीर्णेऽल्पभोजी
श्रमत्याज्यबाधे विविक्ते प्रदेशे ।
सदाऽऽसीत निस्तृष्ण एष प्रयत्नो-
ऽथ वा प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात् ॥ २ ॥
वक्त्रेणापूर्य वायुं हुतवहनिलयेऽपानमाकृष्य धृत्वा
स्वाङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीभिर्वरकरतलयोः षड्भिरेवं निरुध्य ।
श्रोत्रे नेत्रे च नासापुटयुगलमथोऽनेन मार्गेण सम्यक्
पश्यन्ति प्रत्ययांसं प्रणवबहुविधध्यानसंलीनचित्ताः ॥ ३ ॥

आदि नारायण से देवताओं ने निवेदन किया—'भगवन् ! तुरीया माया द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व के सम्बन्ध में हमें उपदेश दीजिये।'

भगवान् आदि नारायण ने कहा—'योग से योग की वृद्धि होती है, इसलिए योग के द्वारा ही योग को जाने। योग में सदा दत्तचित्त योगी चिरकाल तक सुख का उपभोग करता है। मितभोगी साधक राग-द्वेषादि मल के परिपक्व होने पर आलस्य-रहित होकर तथा इस विश्व प्रपञ्च को ब्रह्मत्व-प्राप्ति में रोड़ा समझकर एकान्त-साधन करता है। वह या तो राजयोग में प्रवृत्त होता है अथवा गुरु द्वारा बताये हुए हठ योग वाले मार्ग पर चलता है। इस प्रकार योगी इन दो प्रकार के योगों में से किसी एक का अवलम्बन करता है। जो साधक प्राणायाम का अभ्यास करते हैं वे मुख द्वारा वायु को भीतर खींचते और अपानवायु को नाभि में जठराग्नि कोष्ठ में खींचकर मुख द्वारा खींची हुई वायु का उससे संयोग कराते हैं, फिर अँगूठे, अँगुलियों और हथेलियों से कान, नेत्र और नासा-पुटों को बन्द कर प्राणायाम द्वारा प्रणव का चिन्तन कर, उसी में रमण करते हुए आत्म-साक्षात्कार करते हैं ॥ १—३ ॥

श्रवणमुखनयननासानिरोधनेनैव कर्तव्यम् ।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलं श्रूयते नादः ॥४
विचित्रघोषसंयुक्ताऽनाहते श्रूयते ध्वनिः ।
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धोऽप्यरोगवान् ॥५
संपूर्णहृदयः शून्ये त्वारम्भे योगवान् भवेत् ।
द्वितीयां विघटीकृत्य वायुर्भवपि मध्यगः ॥६

कान, नाक, मुख, नेत्र के छिद्रों को बन्द करने पर अभ्यास की एक अन्य विधि भी सिद्ध होती है। उनके द्वारा शुद्ध सुषुम्णा नाड़ी में प्रणव का अनाहत नाद सुना जाता है। अनाहत चक्र में ध्वनि सुनते हुए विभिन्न प्रकार के विचित्र घोष सुनाई देते हैं। यह साधना साधक का अत्यन्त तेजस्विता प्राप्त कराती है। उसके देह से दिव्य गन्ध आती है और वह स्वस्थ होता हुआ दिव्य शरीर को प्राप्त होता है। शून्य में

पूर्ण मनोयोगपूर्वक ध्वनि सुनते रहने से आरम्भ में साधक योग से युक्त होता है। इस प्रकार इच्छा शक्ति द्वारा प्रेरित जीवात्मा जब सुषुम्णा मार्ग पर अग्रसर होता है तब स्वाधिष्ठान चक्र को भेदकर उसके मध्यवर्ती छिद्र के द्वारा प्राणवायु सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४–६ ॥

दृढासनो भवेद्योगी पद्माद्यासनसंस्थितः ।
विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात् परमानन्दसंभवः ॥७

अतिशून्यौ विमर्दश्च भेरीशब्दस्ततो भवेत् ।
तृतीयां यत्नतो भित्वा निनादो मद्दलध्वनिः ॥८

महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ।
चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः ॥९

निष्पत्तौ वैष्णवः शब्दः क्वणतीति क्वणो भवेत् ।
एकीभूतं तदा चित्तं सनकादिमुनीडितम् ॥१०

अन्तेऽनन्तं समारोप्य खण्डेऽखण्डं समर्पयन् ।
भूमानं प्रकृतिं ध्यात्वा कृत्यकृत्योऽमृतो भवेत् ॥११

योगेन योगं संरोध्य भावं भावेन चाञ्जसा ।
निर्विकल्प परं तत्त्वं सदा भूत्वा परं भवेत् ॥१२

अहंभावं परित्यज्य जगद्भावमनीदृशम् ।
निर्विकल्पे स्थितो विद्वान् भूयो नाप्यनुशोचति ॥१३

पद्मासन में स्थित योगी दृढ़ अभ्यास में सफल होता है। इसके पश्चात् तृतीय मणिपूरक नामक चक्र में स्थित जो माया अनेक कामनाओं की वृद्धि करती रहती है, उसे विच्छिन्न कर देने पर परम आनन्द प्राप्त हो सकता है। शून्य को लांघता हुआ प्राणवायु जब नाड़ी के साथ सङ्कुचित होता है तब उससे भेरी सदृश्य ध्वनि सुनाई देती है। तृतीय

मणिपूरक चक्र के भेद कर चलने पर प्राणवायु से मृदङ्ग की-सी ध्वनि निकलती है। फिर अन्य चक्रों को भेदता हुआ चलने वाला प्राणवायु महाशून्य में पहुँच कर सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है। तद-नन्तर प्राणवायु तालु चक्र द्वारा चित्त को जीतकर तालुचक्र का भेदन करता है वहाँ चित्त स्थित सभी आनन्द उसे प्राप्त होते हैं ॥ ७—९ ॥

इस साधना के अन्त में प्रणव शब्द के रूप में स्वयं प्रकट होकर गूँजता है। चित्त उसमें लीन हो जाता है। यह कथन सनकादि मुनियों का है। उस महाचक्र में स्थित साधक अन्त में अनन्त का समारोप करता है। माया ग्रस्त रूप को ब्रह्म में समर्पित कर साधक आत्मा की सर्व-व्याप्तता के चिन्तन द्वारा कृतकृत्य होता हुआ अमृतत्व प्राप्त करता है। असंप्रज्ञता योग द्वारा संप्रज्ञात योग पर विजय पावे और अभाव से भाव का निरोध करे। तब साधक निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होकर कैवल्य में स्थित होता है। उस समय उसका अहं भाव मिट जाता है और मायामय संसार भी लुप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञानी साधक को फिर ममत्व नहीं घेरता ॥ १०—१३ ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥१४
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं यत् समाधिरभिधीयते ॥१५
यत् समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥१६
प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम्।
सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते ॥१७
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्यसमाधिना।
निश्चलं तं विजानीयात् समाधिरभिधीयते ॥१८

यत्रयत्र मनो याति तत्रतत्र परं पदम् ।
तत्रतत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ॥१९

जल में मिलाया हुआ नमक उसी में घुलमिल जाने के समान, मन जब आत्मा में विलीन हो जाता है उस अवस्था को समाधि कहते हैं। प्राणायाम के द्वारा सम्यक् रूप से क्षीण हुआ प्राणवायु जब कुम्भक में स्थिर होता है और चित्तवृत्तियों का लोप हो जाता है, तब चित्त और आत्मा का एकीभाव समाधि कहा जाता है। समाधि उस अवस्था का नाम है, जिसमें जीव आत्मा का परमात्मा से समत्व होने पर सभी सङ्कल्प मिट जाते हैं। सांसारिक बोध-रहित जिस स्थिति में मन-बुद्धि का पूर्ण विलीनीकरण हो जाने पर सब कुछ शून्यवत् दिखाई पड़ता है, उस अवस्था को निरामय कहते हैं, वही समाधि कही जाती है। शरीर के इधर-उधर गमन करने पर भी चित्त का निश्चल एवं ध्यानमग्न रहना समाधि की अवस्था ही है। उस अवस्था में साधक का मन जहाँ भी गमन करता है, वहीं उसे परम पद उपलब्ध होता है। उसके लिए परम ब्रह्म सर्वत्र समान रूप से अवस्थित रहता है ॥ १४—१९ ॥

तृतीयः खण्डः

अथ हैनं देवा ऊचुर्नवचक्रविवेकमनुब्रूहीति ।
तथेति स होवाच—

आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृत्तभङ्गिमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दे शक्तिः पावकाकारं ध्यायेत् तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति इत्याधारचक्रम् ॥ १ ॥

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं

लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्याणपीठं जगदाकर्षण-सिद्धदं भवति ॥ २ ॥

तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पकुटिलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनीं बालार्ककोटिप्रभां तटित्संनिभां ध्यायेत् सामर्थ्यशक्तिः सर्वसिद्धिप्रदा भवति मणिपूरकचक्रम् ॥ ३ ॥

हृदयचक्रमष्टदलमधोमुखं तन्मध्ये ज्योतिर्मय लिङ्गाकारं ध्यायेत् सैवं हंसकला सर्वप्रिया सर्वलोकवश्यकरी भवति ॥ ४ ॥

कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णां ध्यायेत् य एवं वेदानाहतसिद्धिदा भवति ॥ ५ ॥

तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहो घण्टिकालिङ्गं मूलचक्रंरन्ध्रे राजदन्तावलम्बिनीविवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत् चित्तलयो भवति ॥ ६ ॥

सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रं तत्र ज्ञाननेत्रं दीपशिखाऽऽकारं ध्यायेत् तदेव कपालकन्दं वाक्सिद्धिदं भवत्याज्ञाचक्रम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं तत्र सूचिकागृहेतरं धूम्रशिखाऽऽकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवतीति परब्रह्मचक्रम् ॥ ८ ॥

नवममाकाशचक्रं तत्र षोडशदलपद्मनूर्ध्वमुखं तन्मध्यकर्णिकात्रिकूटाकारं तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तितां परशून्यं ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धि साधनं भवति ॥ ९ ॥

देवताओं ने पुनः भगवान् आदि नारायण से निवेदन किया—'प्रभो ! नव चक्र विवेक के सम्बन्ध में हमारे प्रति उपदेश करिये।'

भगवान् आदिनारायण ने कहा—'मूलाधार स्थित जो ब्रह्मचक्र है, वह योनि के आकार के तीन घेरों वाला है। वहाँ कर्णिकामूल में सुप्त सर्प के आकार में कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। जब तक वह जाग्रत

न हो तब तक भभकती हुई ज्वाला के रूप में उसका ध्यान करे। भगवती त्रिपुरा का कामरूप पीठ नामक स्थान वहीं है। उसकी अर्चना के द्वारा सभी भोगों की प्राप्ति हो सकती है। यह आधार नाम वाले प्रथम चक्र के सम्बन्ध में कहा गया ॥ १ ॥

षट्दल पद्म का स्वाधिष्ठान चक्र दूसरा है। उस छः दल के कमल के कर्णिका पृष्ठ में एक लाल वर्ण के शिवलिंग का पश्चिमाभिमुख चिंतन करे। वहाँ उड्यान पीठ है उसकी उपासना विश्व आकर्षण की सिद्धि प्राप्त कराने वाली है। तृतीय नाभिचक्र टेढ़ा, सर्पाकार तथा पांच घेरों वाला है। उस चक्र में करोड़ों बालसूर्यों की-सी ज्योति वाली तथा तडित् के समान कृशांग कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करे। जाग्रत होने पर यह शक्ति अत्यन्त सामर्थ्य वाली होती है तथा सब सिद्धियाँ देती हैं। मणिपूरक चक्र आठ दल वाले कमल के आकार का तथा निम्नमुख रहता है यही हृदय चक्र है। इसमें ज्योतिर्मय लिंग का चिंतन करे। वह ज्योतिर्मय लिंग हंसकला नाम से सर्वप्रिय है। उसकी जाग्रति पर सर्वलोक वश करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। कण्ठ में एक चार अंगुल प्रमाण का चक्र है। उसमें बायीं ओर इडा और दायीं ओर पिंगला नाड़ी है। इन दोनों के मध्य श्वेतवर्ण वाली सुषुम्णा नाड़ी का चिन्तन करे। इसे जानने वाले को अनाहत चक्र सिद्धि देने वाला है। इससे आगे जो तालुचक्र है उसमें अमृत की धार निरन्तर बहती रहती है। इस तालुचक्र में दस-बारह दल होते हैं। आगे दाँतों की जड़ तक विस्तृत हुआ जो चक्र के आकार का छिद्र है उसमें तालुचक्र है। उसमें शून्य का ध्यान करे ऐसा करने से चित्त शून्यरत होता है। अँगूठे के परिणाम का सातवां भ्रूचक्र है। उसमें निवात दीप शिखा के आकार वाले ज्ञान नेत्र का चिन्तन करे। इस चक्र के जाग्रत होने पर कपाल-कन्द और उससे सम्बन्धित विषयों का ज्ञान मिलता है। आठवां आज्ञाचक्र है, वही ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है। उस रन्ध्र का परिणाम सुई की नोंक के समान

है। वहाँ धूम्रशिखा रूप का चिन्तन करे। वहाँ जालंधर पीठ है, जिसकी उपासना से मोक्ष मिलती है। इसलिए इसे परब्रह्म चक्र भी कहा गया है। नौवां चक्र आकाश चक्र है। वहाँ सोलह दल वाला कमल ऊपर की ओर मुख वाला है। उसकी मध्य कर्णिका त्रिगुणों की जननी होने से तीन शिखरों वाले पर्वत के आकार की बताई गई है। उसके मध्य ऊपर की ओर झुकी हुई शक्ति है, उसका अवलोकन करते हुए चिन्तन करे। वहीं पूर्ण गिरि पीठ है, उसकी उपसना से सब कामनायें सिद्ध होती हैं ॥ २—६ ॥

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स सकलधनधान्यसत्पुत्रकलत्रहयभूगजपशुमहिषी-दासीदासयोगज्ञानवान् भवति न स पुनरावर्तत इत्युपनिषत् ।१०।

जो इस सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् का नित्य पाठ करता है, वह अग्निपूत और वायुपूत होता है। वह सब धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, हाथी, अश्व, गौ, भैंस तथा भृत्यादि युक्त ऐश्वर्य से सम्पन्न ज्ञानी होता हैं तथा अन्त में परम पद को प्राप्त होकर वहाँ से फिर नहीं लौटता ॥ १० ॥

॥ सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् समाप्त ॥

—:—

त्रिपुरोपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

शान्तिपाठ—ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सन्मुख तुम प्रकट होओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूं । मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शांति शांति शांति ।

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः ।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तमा महिमा देवतानाम् ॥१
नवयोनि नव चक्राणि दीधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च ।
नवानां चक्रा अधिनाथाः स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम् ॥२
एका स आसीत् प्रथमा सा नवासीदा सोनविंशादा सोनत्रिंशात् ।
चत्वारिंशादथतिस्रः समिधा उशतोरिव मातरो माऽऽविशन्तु ॥३
ऊर्ध्वज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं दद्रजोऽभूत् ।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयति ॥४
यास्तिस्रो रेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रि प्रक्ताराः ।
एतत्त्रयं पूरकं पूरकाणां मन्त्रप्रतते मदनो मदन्या ॥५

जो अपनी अज्ञ दृष्टि द्वारा कल्पित व्यष्टि, समष्टि भेद से युक्त स्थूल व सूक्ष्म कारण वाले तीन पुर हैं, एवं जो देवयान पितृयान आदि भेद से, कर्मोपासना ज्ञानकाण्ड से, ज्ञान, विज्ञान, सम्यग् ज्ञान के भेद से विकल्पित जो तीन रास्ते हैं, साथ ही 'अकथादि श्रीपीठ' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से इस श्रीचक्र में जो अ से लेकर क्ष पर्यन्त के अक्षर सन्निविष्ट हैं, इन पुरों, इन पथों इन अक्षरों को जीवेश प्रत्यक् पर आत्मा से अधिष्ठित करके महा महिमामय अर्थात् सृष्टि निर्माण की सामर्थ्यरूपिणी स्थूल आदि जो तीन शरीर उनसे विलक्षण जराहीन महान् कोई चिरंतन चिद् शक्ति सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान है, वही सर्वोत्तम है ॥ १ ॥

जिसका आश्रय लेकर नवयोनियाँ अर्थात् महात्रिपुरसुन्दरी आदि शक्तियाँ, सर्वानि-दमय आदि नौचक्र, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, सहयोग भेद से नौ योग तथा नौ चक्रों के अन्दर रहने वाली नौ योगनियाँ प्रकाशित होती हैं। नौ जो देवताओं की आधार भूमियाँ उनके चक्राधिनाथ तथा प्रतिहारिणियाँ कामेश्वरी आदि मुद्रायें तथा योनि आदि नौ मुद्रायें भी इसी पर आश्रित हैं। इसके ही आश्रय से प्रकाशित होती हैं।

ऐसी यह प्रधान रूपा एक ही थीं और वही यह नवभद्र आदि रूप में थीं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पांच प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय (चार) भेद से जो उन्नीस तत्व समूह है उससे उत्पन्न जो शक्तियाँ उनके स्वरूप में भी यही थीं। साथ ही दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण, पाँच महाभूत, पाँच उपप्राण के भेद से जो उन्तीस तत्व ग्राम उनसे उत्पन्न जो शक्तियाँ उनके रूप में भी यहीं थीं, और इसी प्रकार अन्तःकरण चतुष्टय सहित जो चौदह इन्द्रियाँ, तीन कर्म विक्षेपादि चार गुण प्रभृति जो चालीस शक्तियाँ है, तद्‌रूप में भी यही विद्यमान थीं। सो क्रिया, ज्ञान व इच्छात्मक ज्ञान, विज्ञान, सम्यग्ज्ञान रूप तीन शक्तियाँ (जो कि इसी चिद् शक्ति के रूप है) अपने पुत्र की हित कामना वाली माता के समान मुझे ब्रह्म पदवी की प्राप्ति के लिए प्रेरित करें, मेरे में प्रविष्ट हों, स्थित रहें। २।

'अथ तत ऊर्ध्वं उदेता' अथ यदतः परो दिवो 'ज्योतिर्दीप्यते' 'ज्योतिर्ज्वति ब्रह्माहमस्मि' इत्यादि श्रुति (वेदऋचा) के अनुरोध से पराक् प्रपञ्च रूप इन्धन (लकड़ी) का आश्रय लेकर ऊर्ध्वं (ऊपर) की ओर जलने वाली, प्रकाशित होने वाली प्रत्यग् ज्योति ही पराग् वृत्ति के उदय होने से पहले सदा अनुभूत होती है (हुई है) उसके वैपरीत्य से तिरश्चीन अर्थात् पराग् रूप जो सत्य रज तम वह अपने अधीनस्थ पराग् भाव को छोड़कर, अजर (जराहीन) ब्रह्म हुआ (हो जाया करता) है।

इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न अपने को मान कर अपने अतिरिक्त संसार में कुछ न देखता हुआ (योगी) परम प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है, परमप्रकाश का युञ्जमोद (प्रसन्नता) स्वरूप जो इन्दुरूप ज्योति उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं वही मैं हूँ, ये जो खण्ड मण्डलाकार, अखण्ड सविकल्प निर्विकल्प वृत्तियां हैं ये मुझे जो कि मैं ब्रह्म भावापन्न हूँ ब्रह्मरूप हो चुका हूं, अलकृत करती हैं। वे सब भी स्वयं ब्रह्म में लीन हो जाती हैं। तब परमात्मा अद्वैत रूप से स्थित हो जाया करता है ॥ ४ ॥

जो पुनः ये तीन रेखायें अर्थात् जड़-क्रिया, ज्ञान इच्छा शक्ति हैं जो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति व तुरीय स्थान हैं, लोचन कण्ठ हृदय, सहस्रार-चक्र हैं एवं भूः भुवः स्वः तीन लोक हैं, स्वर्ग हैं, एवं तम आदि गुण और एक-एक गुण के पुनः तम रूप इत्यादि भेद से तीन प्रकार हैं ये सब जिस का आश्रय लेकर स्थित हैं वह इन सब के पूरक प्रधान देव आदि विद्या, तदङ्ग देवता मन्त्र प्रतन (श्री चक्र) मध्य त्रिकोणरूप कामिनी (स्त्री) जो चिद्शक्ति उसके साथ रहने वाले बिन्दु रूपी मदन (कामेश्वर) प्रधान रूप से विद्यमान है, शोभित हैं ॥ ५ ॥

मदन्तिका मानिनी मंगला च सा सुन्दरी सिद्धिमद्या।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती ॥६
इमां विज्ञाय सुधया मदन्ती परिसृता तर्पयन्तः स्वपीठम्।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति ॥७

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाऽभ्रमिंद्रः ।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमताऽऽदिविद्या ॥८
षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः ।
कथ्य कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते ॥६
पुरं हन्त्रीमुखं विश्वमातू रवे रेखा स्वरमध्यं तदेषा ।
बृहत्तिथिर्दश पञ्चादिनित्या सषोडशिकं पुरमध्यं विभर्ति ॥१०
यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि ।
कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरोजायते कामरूपश्च काम्यः ॥११
परिसृतं झषमाजं पलं च भक्तानि योनिः सुपरिष्कृताश्च ।
निवेदयन् देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति ॥१२
सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशनैव प्रतिबध्नात्यभीकान् ।
इषुभिः पञ्चभिर्धनुषा च विद्धत्यादिशक्तिकरुणा विश्वजन्या ॥१३
भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश उभा दाताराविह सौभागानान् ।
समप्रधानो समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः ॥१४
परिसृता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः ।
शर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति ॥१५
इयं महोपनिषत्त्रैपुर्या यामक्षयं परमा गीर्भिरीट्टे ।
एषग्र्युजुः परमेतच्च सामायमथर्वेयमन्या च विद्या ॥१६
ॐ ह्रीमों ह्रीमित्युपनिषत् ॥१७॥

उनके परिवार की आवरण देवता पन्द्रह हैं जो कि क्रमशः—तदग्निका, मानिनी, मञ्जुला, सुभगा, सुन्दरी, सिद्धिमता, लज्जा, माति तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता, लालपन्ती है ॥ ६ ॥

इस प्रकार परिवार के देवताओं द्वारा जो चारों ओर से सेवित है, यह अमृत द्वारा मदयुक्त 'मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं है' 'मैं ही यह सारा विश्व प्रपञ्च हूँ' इस प्रकार अपने रूप के अनुसन्धान में जिनने सब कुछ भुला दिया ऐसी चिद्शक्ति शिव के साथ विराजमान है। जो योगी इसे जान जाते है वे उसके पद को प्राप्त करते हैं ।

जो ऐसा जानने में असमर्थ हैं वे निष्काम कर्मयोगी जीवन पर श्रीचक्र को अपने वर्ण, आश्रम के अनुरोध से क्षीर आदि द्वारा तृप्त करते हुए समयापन किया करते है और शरीर समाप्ति पर विशाल स्वर्ग पीठ पर (श्रीपुर में) ज्ञान का अभ्यास करते हुए प्रलय तक रहते हैं तदनन्तर त्रिपुर रूप को परम धाम उसमें निवास करते हैं और कृतकृत्य हो जाया करते हैं ।। ७ ।।

अब मूल विद्या को प्रकट करते हैं—काम अर्थात् ककार, योनि अर्थात् ए कामकजा=ईकार, वज्रपाणि=लकार, गुहा=ह्रींकार, हस=हकार तथा सकार मातरिश्वा=ककार, अभ्र=हकार, इन्द्र=लकार, पुनर्गुहा=ह्रींकार, सकला:=सकार, ककार, लकार, मायया च=ह्रींकार ये पुरुरुची विश्वमाता एवं विशिष्ट रूप ये आदि मूल विद्या हैं जिनकी आत्मा ॐकार है ।। ८ ।।

विरक्तो को आदि विद्या के ज्ञान का फल—

मूल विद्या का जो छठा अक्षर 'ह' है वह शिव बीज सातवाँ 'स' शक्ति बीज, वह्नि सारथि अर्थात् 'क' कामेश बीज एवं शिवसम्पुटित शक्ति बीज है । इसी प्रकार इस आदि विद्या का 'ह-स-क' ये तीन मूलाक्षर वाणी के पाँशु रूप में जप करते हुए शब्द स्पर्शहीन कालदर्शी सर्वज्ञ को अपने अतिरिक्त सब कुछ नहीं ऐसा जानकर, व्यष्टि समष्टि रूप जो प्रपंच कल्पक, अथवा अपने अतिरिक्त जीव, शिव, तत्कल्पनीय, व्यष्टि समष्टि प्रपंच समूह नहीं है ऐसा जानते हुए कामेश्वर ईश्वर को तुष्ट करते हुए योगी अमृतत्व की प्राप्ति कर लेते हैं ।। ९ ।।

भक्तानुग्रह के लिए जो ऐसे रूप धारण किया करती है उसका ध्यान करके ही अपने-अपने स्वभाव के अनुसार योगी फल प्राप्त करते हैं। वह 'पुरमेकादशद्वारम्' इस श्रुति के आधार पर पुर=यानी स्वाविद्यापद तथा उसका कार्यकलाप, रूप धारण करती है । अपिच 'ह-स-क' ये हन्त्रीमुख=आदिविद्या सार रूप को धारण करती है ।

सूर्य की रेखा अर्थात् 'ई ओं' ये जो स्वर मध्य हैं वह रूप भी

यह धारण करती है। वृहत्तिथि—निमेष से लेकर कल्पान्त जो काल विशेष, पञ्चदशादिनित्या=पन्द्रह तिथियाँ, वार, नक्षत्रादि रूप, नित्य देवता भाव को प्राप्त पन्द्रह तिथियों के साथ वृहत्तिथिरूप सोलवें सहित पूर्वोक्त पहले बताये पुरमध्य=स्व अविद्यापद, आरोप आधार, ईश्वर रूप भी यही धारण करती हैं।

इस प्रकार देवताओं के जिन स्वरूपों में जिस-जिस का मन लगता है उसी के आश्रय से चित्त शुद्धि द्वारा वह कृतकृत्य हो जाता है ॥१०॥

इन रूपों का ध्यान करने में अशक्तों के लिए अब ध्यानान्तर कहा जाता है=अथवा रवि, चन्द्र आदि के मण्डल से उत्पन्न, स्तन बिम्ब, एक मुख नीचे की ओर इस प्रकार उपलक्षित सर्वाङ्ग, सुन्दरी को देहत्रय रूप गुहा में स्थित परमेश्वर की कला कामरूप चिद्शक्ति का ध्यान करके मनुष्य कामना परिपूर्ण करके अपनी इच्छानुसार कामरूप हो जाता है। किन्तु काम्यफल जन्मादि का कारण होता है अतः त्रैवर्णिक मोक्षेच्छुकों को काम्योपासना नहीं करनी चाहिए ॥११॥

इसी प्रकार अपने-अपने वर्णानुसार शूद्र आदि भी विधिवत् अपने भोज्यपदार्थों में आत्मोपभोग बुद्धि को छोड़कर प्रथम महानता का अर्पण कर तथा प्रसाद रूप लेकर पुण्यलोक में सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥१२॥

इस प्रकार न करने वाले विषयासक्त अनेक इच्छाओं से भरे हुए मनुष्यों को सरस्वती विश्वमाता लक्ष्मी के सहित आदि शक्ति जो अरुणा अर्थात् गौरी वह ब्रह्ममात्र विद्या होकर उनका उपसंहार करती है उनसे सिद्धियों को छिपाती है, उन्हें नहीं देती, अपितु अज्ञान पाशों द्वारा बांधकर उन्हें संसार के महागर्त (गड्ढे) में डाल देती है और वह जन्म जन्मान्तरों इसी आवर्त में घूमते रहते हैं ॥१३॥

जो निष्काम बुद्धि से चिद्शक्ति का ध्यान करते हैं वह भी कृतकृत्य हो जाते हैं। सकाम, निष्काम, जो भक्त समूह प्रवृत्ति निवृत्ति की प्रवर्तिका जो चिद्शक्ति तथा भग अर्थात् एश्वर्य, विद्या, यश, श्री, ज्ञान वैराग्ययुक्त जो भगवान् काम व ईश कामेश्वर वे दोनों चिद् सामान्यात्मा

के कारण सम प्रधान समान, शक्ति वाले, समान ओज वाले देव इसी जन्म में जिन निष्कामों को दृष्टिगोचर हो जाया करते हैं उन्हें वह ब्रह्म पद के ज्ञाता हो जाया करते हैं। उन दयालु शिव व शक्ति के मध्य त्रिविध शरीर से विलक्षण जराहीन विश्वमाता शक्ति है ॥१४॥

जो कि निष्काम बुद्धि से अपने उपासकों की भावनाओं द्वारा ज्ञान, विज्ञान, सम्यग् ज्ञान रूप हवि से तृप्त होकर अपने भक्तों पर प्रसन्न हो विक्षेप रूपी आवरण के गल जाने पर शिव के साथ अपने उपासक की आत्मस्वरूप बनकर अवशिष्ट रह जाती है। इस प्रकार उपासक अपनी ज्ञान दृष्टि द्वारा कल्पित प्रपञ्च के उन्मनस्क होकर, सारे विश्व के जो उत्पादक, पालक एवं संहारक हैं उन शिव में विश्वरूपता का आपादन कर लेता है ॥१५॥

इस प्रकार जो यह महोपनिषत् इसे ऋक् आदि चार वेद और अन्य चौंसठ जो कलायें (विद्यायें) जिस अक्षय संविद् रूप को उदार वाणी (शब्दों) द्वारा गाया करते हैं इत्थं भूत यह ब्रह्म विद्या ब्रह्मात्म पर्यवसन्न (ब्रह्म साक्षात्कार जिसका अन्तिम तत्त्व है) सर्वोत्कृष्ट है ॥१६॥

इनका शरीर 'ॐ ह्रीं नों ह्रीम्' एतद् रूप है। अर्थात् चिद् एवं चिद्शक्ति रूप है ॥ १७ ॥

॥ त्रिपुरोपनिषद् समाप्त ॥

—०—०—

सीतोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसतनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्तिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है, उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् का सीता किं रूपमिति ।।१

स होवाच प्रजापतिः सा सीतेति—

मूलप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिः स्मृता ।
प्रणवप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिरुच्यते ।।२

सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामया भवेत् ।
विष्णुः प्रपञ्चबीजं च माया ईकार उच्यते ।।३

सकारः सत्यममृतं प्राप्तिः सोमश्च कीर्त्यते ।
तकारस्तारलक्ष्म्या च वैराजः प्रस्तरः स्मृतः ।।४

ईकाररूपिणी सोमाऽमृतावयव देव्यलङ्कारस्रङ् मौक्तिका-द्याभरणालंकृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति ॥५॥

प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना । उद्भवा नरकात्मिका द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना । तृतीया ईकार-रूपिणी अव्यक्तस्वरूपा भवतीति सीता इत्युदाहरन्ति शौनकीये ॥ ६ ॥

एक समय की वात है प्रजापति ब्रह्माजी से देवताओं ने प्रश्न किया—'भगवन् ! सीताजी का रूप कैसा है, वे कौन हैं यह हमारे प्रति कहिये।' । १ । तव वे प्रजापति ब्रह्माजी कहने लगे—'सीताजी शक्ति रूपिणी हैं । मूल प्रकृति होने से वे ही प्रकृति कही जाती हैं । प्रणव की प्रकृति रूपा होने से भी उन्हें प्रकृति कहते हैं।' । २ । वे साक्षात् योगमाया ही हैं । उनका सीता नाम तीन वर्णों का है । सम्पूर्ण विश्व प्रपंच के बीज भगवान् विष्णु हैं । उनकी योगमाया का रूप ईराक हैं । ॥ ३ ॥ 'स' कार को सत्य, अमृत, सिद्धि, चन्द्र तथा प्राप्ति का वाचक कहते हैं । दीर्घ अकारयुक्त 'त' कार विस्तार करने वाला एवं महालक्ष्मी रूप वाला कहा है । ईराक वाली अव्यक्त महामाया अपने अमृतमय अवयवों और दिव्याभूषणों से विभूषित रूप से व्यक्त होती हैं । ५ । वे त्रयरूपा अपने प्रथम रूप में शब्दब्रह्म से युक्त हैं । वे प्रसन्न होकर बुद्धि रूप से वोध देने वाली हैं । वे अपने द्वितीय रूप में. जव इस भूतल पर व्यक्त हुईं तव जनक की यज्ञ भूमि में हल के अग्र भाग से प्रकट हुईं । उनका तृतीय रूप ईकारमय एवं अव्यक्त है । यही तीन रूप पर्याप्त रूप से सीता कहे गए हैं । शौनकीय तन्त्र में कहा है । ६ ।

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥७
सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।

प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ इति ॥८॥
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति च ॥ ९ ॥ सेयं सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारकार्यकारणमयी महालक्ष्मीर्देवेशस्य भिन्नाभिन्नारूपा चेतनाचेतनात्मिका ब्रह्मस्थावरात्मा तद्गुणकर्मविभागभेदाच्छरीररूपा देवर्षिमनुष्यगन्धर्वरूपा असुरराक्षसभूतप्रेतपिशाचभूतादिभूतशरीररूपा भूतेन्द्रियमनःप्राणरूपेति विज्ञायते ॥ १० ॥

श्रीराम के नित्य सान्निध्य के कारण सीताजी विश्व का कल्याण करने वाली हैं। वे ही सब प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करती हैं। ७। वही मूल प्रकृति के रूप में प्रसिद्ध षडैश्वर्य से युक्त भगवती हैं। प्रणवस्वरूपा होने से ब्रह्मवेत्ता उन्हें प्रकृति कहते हैं। ८। वे सीताजी सर्वदेवता स्वरूपा, सर्ववेद-रूपिणी, सर्वलोकमयी, सबकी आश्रयभूता, सर्व कीर्तियों से सम्पन्न, सर्वधर्म-सम्पन्न, सभी पदार्थों और जीवों की आत्मा, सब देव-गन्धर्व, मनुष्य आदि प्राणियों की स्वरूपभूता हैं। वे सभी प्राणियों की देहरूपा और समस्त विश्वरूपा महालक्ष्मी हैं। वे भगवान् से भिन्न और अभिन्न भी कही जाती हैं ॥९-१०॥

सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यात्मना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति ॥ ११ ॥
इच्छाशक्तिस्त्रिविधा भवति श्रीभूमिनीलाऽऽत्मिका भद्ररूपिणी प्रभावरूपिणी सोमसूर्याग्निरूपा भवति ॥ १२ ॥
सोमात्मिका ओषधीनां प्रवति कल्पवृक्षपुष्पफललतागुल्मात्मिका औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोमफलप्रदा अमृतेन तृप्तिं जनयन्ती देवानामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानाम ॥ १३ ॥
सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवा रात्रिः कालकलानि-

मेषमारभ्य घटिकाऽष्टयाम .दिवसवाररात्रिभेदेन पक्षमासर्त्वयन-संवत्सरभेदेन मनुष्याणां शतायुःकल्पनया प्रकाशमाना चिरक्षिप्रव्यपदेशा निमेषमारभ्य परार्धपर्यन्तं कालचक्रं जगच्चक्रमित्यादिप्रकारेण चक्रवत् परिवर्तमाना । सर्वस्यैतस्यैव कालस्य विभागविशेषाः प्रकाशरूपाः कालरूपा भवन्ति ॥ १४ ॥

अग्निरूपा अन्नपानादि प्राणिनां क्षुत्तृष्णाऽऽत्मिका देवानां मखरूपा वनौषधीनां शीतोष्णरूपा काष्ठेष्वन्तर्बहिश्च नित्यानित्यरूपा भवति ॥ १५ ॥

'वे शक्तिरूपिणी होकर इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और साक्षात् शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं। उनकी इच्छाशक्ति से युक्त स्वरूप भी तीन प्रकार का है ॥ ११ ॥ श्रीदेवी, भूदेवी, नीलादेवि के रूप में वे मंगलरूपिणी. प्रभावरूपिणी तथा चन्द्र. सूर्य. अग्नि रूप में अत्यन्त तेजमयी होती हैं। १२। वे चन्द्ररूपिणी होकर औषधियों को पुष्ट करती हैं। वे कल्पवृक्ष, लता, गुल्म, पुष्प, पत्र, फल तथा औषधियों-महौषधियों के स्वरूप को प्रकट करने वाली हैं। उसी चन्द्ररूप में देवताओं को 'महस्तोम' यज्ञ का फल देती हैं। अन्न द्वारा प्राणियों को और अमृत द्वारा देवताओं को वे ही तृप्त करती हैं ॥ १३ ॥

'वे ही सब लोकों को प्रकाशित करती हैं। दिवस, रात्रि, निमेष, घड़ी, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और सम्वत्सर आदि के भेद से मनुष्य को शतायु प्रदान करती हुई स्वयं प्रकाशित होती हैं। निमेष से परार्ध तक तथा विलम्ब और शीघ्रता के भेद से परिपूर्ण कलाचक्र तथा जगत् चक्रादि के भेद से काल के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग उन्हीं के स्वरूप हैं। इसीलिए वे प्रकाशस्वरूपा और कालस्वरूपा हैं ॥ १४ ॥

'वे अग्निरूप वाली होकर प्राणियों को अन्न-जल आदि के सेवन एवं पान करने के निमित्त भूख-प्यास रूप से, देवताओं को मुख रूप से,

वनस्पतियों को शीतोष्ण रूप से और काष्ठों के भीतर बाहर नित्य और अनित्य रूप से अवस्थित है ॥ १५ ॥

श्रीदेवी त्रिविधं रूपं कृत्वा भगवत्सङ्कल्पानुगुण्येन लोक-रक्षणार्थं रूपं धारयति श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते ॥ १६ ॥

भूदेवी ससागराम्भस्सप्तद्वीपा वसुन्धरा भूरादिचतुर्दशभुवनानामाधाराधेया प्रणवात्मिका भवति ॥ १७ ॥

नीला च विद्युन्मालिनी सर्वौषधीनां सर्वप्राणिनां पोषणार्थं सर्वरूपा भवति ॥ १८ ॥

समस्तभुवनस्याधोभागे जलाकारात्मिका मण्डूकमयेति भुवनाधारेति विज्ञायते ॥ १९ ॥

क्रियाशक्तिस्वरूपम् । हरेर्मुखान्नादः । तन्नादाद्बिन्दुः । बिन्दोरोंकारः । ओंकारात् परतो रामवैखानसपर्वतः । तत्पर्वते कर्मज्ञानमयोभिर्बहुशाखा भवन्ति ॥ २० ॥

'अपने श्रीदेवी के रूप में तीन प्रकार का रूप धारण करने वाली सीताजी सब लोकों की रक्षा के हेतु प्रकट होती हैं। उस समय उनका स्वरूप लक्ष्मी रूप में दिखाई देता है। १६। जो देवी जलमय समुद्रों से युक्त सप्तद्वीपा पृथ्वी के रूप में चौदह भुवनों की आश्रयभूता होती हुई प्रणव रूप में प्रकट होती है, उनके उस स्वरुप को भूदेवी कहा गया है। १७। जो देवी सब औषधियों और प्राणियों के पोषणार्थ सर्वरूपा होने वाला तथा विद्युन्माया के समान मुख वाली होकर नीला-देवी के रूप में व्यक्त होती है ॥ १८ ॥ वही आदिशक्ति सब भुवनों के नीचे जल के रूप में और भुवनों के लिए आश्रयमयी होती हैं। १९।

'भगवान् श्रीहरि के मुख से उन सीताजी का क्रियाशक्ति रूप

नाद-रूप में प्रकट हुआ। उस नाद से विन्दु और विन्दु से ओंकार व्यक्त हुआ। ओंकार से परे राम-वैखानस पर्वत है, जिसकी कर्म और ज्ञान से सम्बन्धित अनेक शाखायें हैं ॥ २० ॥

तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं सर्वार्थदर्शनम् ।
ऋग्यजुःसामरूपत्वात् त्रयीति परिकीर्तिता ॥२१
[हेतुना] कार्यसिद्धेन चतुर्धा परिकीर्तिता ।
ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसस्तथा ॥२२
चातुर्होत्रप्रधानत्वाल्लिङ्गादित्रितयं त्रयी ।
अणर्वाङ्गिरसं रूपं सामऋग्यजुरात्मकम् ॥२३
तथाऽऽदिशन्त्याभिचारसामान्येन पृथक्-पृथक् ।
एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः ॥२४
शतं च नव शाखासु यजुषामेव जन्मनाम् ।
साम्नः सहस्रशाखाः स्युः पञ्चशाखा अथर्वणः ॥२५
वैखानसमतं तस्मिन्नादो प्रत्यक्षदर्शनम् ।
स्मर्यते मुमिभिर्नित्यं वैखानसमतः परम् ॥२६
कल्पो व्याकरणं शिक्षा निरुक्तं ज्योतिषं छन्दः एतानि षडङ्गानि ॥२७

उपाङ्गमययं चैव मीमांसा न्यायविस्तरः ॥
धर्मज्ञसेवितार्थं च वेदवेदोऽधिकं तथा ॥२८
निबन्धाः सर्वशाखा च समयाचारसङ्गतिः ।
धर्मशास्त्रं महर्षीणामन्तःकरणसम्भृतम् ॥
इतिहासपुराणाख्यमुपाङ्गश्च प्रकीर्तितः ॥२९

वास्तुवेदो धनुर्वेदो गान्धर्वो दैविकस्तथा ।
आयुर्वेदश्च पञ्चैते उपवेदाः प्रकीर्तिताः ॥३०
दण्डो नीतिश्च वार्ता च विद्या वायुजयः परः ।
एकविंशतिभेदोऽयं स्वप्रकाशः प्रकीर्तितः ॥३१

उस पर्वत पर सर्वार्थ व्यक्त करने वाला वेदत्रयी स्वरूप आदि शास्त्र है। वही ऋक्, यजु और समात्मक शास्त्र कार्य सिद्धि के लिए चार नामात्मक हो जाता है। यज्ञकर्म में देवस्वरूपादि तीन का उपभोग होने के कारण उन वेदों की तीन ही गणना करते हैं। चौथा अथर्वाङ्गिरस वेद उन तीनों वेदों का ही स्वरूप है॥ २१-२३ ॥

'ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की एक सौ नौ, सामवेद की एक सहस्र तथा अथर्व की पाँच शाखायें कही जाती है। इनमें प्रथम वैखानस मत ही प्रत्यक्ष दर्शन माना है। इसलिए ऋषिगण वैखानस का स्मरण किया करते हैं। ज्ञानी पुरुष वेदों के साथ कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त ज्योतिष और छन्द इन छः वेदाङ्गों तथा अयन, मीमांसा और न्यायशास्त्र का विस्तार इन तीनों उपाङ्गों आदि का भी अध्ययन करते हैं। इतिहास-पुराण वास्तुवेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा आयुर्वेद यह पाँच उपवेद हैं। इन सब के साथ ही व्यापार, दण्ड, नीति एवं परतत्व में स्थिति आदि विषयों से समन्वित स्वयं प्रकट हुए विभिन्न शास्त्र हैं॥ २४-३१ ॥

वैखानसऋषेः पूर्वं विष्णोर्वाणी समुद्भवेत् ।
त्रयीरूपेण संकल्प्य एत्थं देही विजृम्भते ॥३२
संख्यारूपेण संकल्प्य वैखानसऋषेः पुरा ।
उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम् ॥
शश्वद्ब्रह्ममयं रूपं क्रियाशक्तिरुदाहृता ॥३३

साक्षाच्छक्तिर्भगवतः स्मरणमात्ररूपाऽऽविर्भावप्रादुर्भावात्मिका निग्रहानुग्रहरूपा शान्ततेजोरूपा व्यक्ताव्यक्तकारणचरणसमग्रावयवमुख वर्णभेदाभेदरूपा भगवत्सहचारिणी अनपायिनी अनवरतसहाश्रयिणी उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादिसर्वशक्तिसामर्थ्यात् साक्षाच्छक्तिरिति गीयते ॥ ३४ ॥

इच्छाशक्तिस्त्रिविधा । प्रलयावस्थायां विश्रमणार्थं भगवतो दक्षिणवक्षःस्थले श्रीवत्साकृतिर्भूत्वा विश्राम्यतीति सा योगशक्तिः ॥ ३५ ॥

भोगशक्तिर्भोगरूपा कल्पवृक्षकामधेनुचिन्तामणिशङ्खपद्मनिध्यादिनवनिधिसमाश्रिता भगवदुपासकानां कामनया अकामनया वा भक्तियुक्ता नरं नित्यनैमित्तिककर्मभिरग्निहोत्रादिभिर्वा यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभिर्वा गोपुरप्राकारादिभिर्विमानादिभिः सह भगवद्विग्रहार्चापूजोपकरणैरर्चनैः स्नानादिभिर्वा पितृपूजादिभिरन्नपानादिभिर्वा भगवत्प्रीत्यर्थमुक्त्वा सर्वं क्रियते ॥ ३६ ॥

'प्राचीन काल की बात है वैखानस ऋषि के हृदय में भगवान् विष्णु की वाणी व्यक्त हुई। वही वाणी वेदत्रयी के रूप में कल्पित हुई ॥ ३२ ॥ वैखानस ने उस वाणी को संख्या रूप में इस प्रकार प्रकट किया कि ब्रह्ममय रूप को धारण करने वाली क्रियाशक्ति ही भगवान् की साक्षात् शक्ति है ॥ ३३ ॥ भगवान् की इच्छा मात्र से वह संसार के रूपों को प्रकट करती हुई, दिखाई पड़ने वाले इस संसार में स्वयं व्यक्त होती हैं। वे शान्ति और तेजोमया, कृपास्वरूपा और शासनमयी, व्यक्त-अव्यक्त की कारणभूता, भगवान् की अनुगामिनी, उनसे अभिन्न, प्रभु-आश्रिता, कथनीय एवं अकथनीय रूप वाली, निमेष-उन्मेष, उत्पत्ति,

स्थिति विनाश, तिरोधान और अनुग्रह आदि की सामर्थ्यवाली तथा अविनाशिनी होने से साक्षात् शक्ति कही जाती हैं ।। ३४ ।।

'सीताजी का इच्छाशक्ति रूप भी त्रिविध है । वे ही योगशक्ति प्रलयकाल में विश्राम के निमित्त भगवान् के दक्षिण वक्ष पर श्रीवत्स की आकृति में विश्राम करती है ।। ३५ ।। वहीं भोगरूपा शक्ति हैं। वे कल्पवृक्षादि नौ निधियों में निवास करने वाली है । वे भगवद्भक्तों की इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक भी नित्य नैमित्तिक कर्म से यज्ञादि कर्म, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, चिन्तन, समाधि आदि के द्वारा उपासना करने वालों को उपभोगार्थ विभिन्न भोगों को सम्पादित करती हैं । वही भगवद् विग्रह के पूजनादि की सामग्रियों, तीर्थ-जलों, अन्नों, रसों आदि का भी सम्पादन करती है ।। ३६ ।।

अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजाऽभयवरदपद्मधरा किरीटाभरणयुता सर्वदेवैः परिवृता कल्पतरुमूले चतुर्भिर्गजै रत्नघटैरमृतजलैरभिषिच्यमाना सर्वदेवतैर्ब्रह्मादिभिर्वन्द्यमाना अणिमाद्यष्टैश्वर्ययुक्ता संमुखे कामधेनुनास्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरस्त्रीभिः परिचर्यमाणा आदित्यसोमाभ्यां दीपाभिः प्रकाशिष्यमाणा तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासिनोवालीभ्यां छत्रेण ह्लादिनीमयाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरर्भ्यमाना देवी दिव्यसिंहासने पद्मासनारूढा सकलकारणकार्यकरी लक्ष्मीर्देवस्य पृथग्भवनकल्पनालंचकार स्थिरा प्रसन्नलोचना सर्वदेवतैः पूज्यमाना वीरलक्ष्मीरिति विज्ञायत इत्युपनिषत् ।। ३७ ।।

श्रीसीताजी का वीर शक्ति रूप चार भुजाओं से युक्त है । उनके हाथों में वरमुद्रा अभयमुद्रा और दो कमल सुशोभित हैं । किरीट-मुकुटों से और अन्य अलंकारों से अलंकृत हैं । चार श्वेत हाथी रत्नजटित कलशों के द्वारा अमृत-जल से उनका अभिषेक करते हैं । सब देवता

उनके चारों ओर खड़े हैं तथा ब्रह्मादिक उनकी स्तुति करते हैं। अणिमादि ऐश्वर्यो से सम्पन्न लक्ष्मी रूपा सीता की कामधेनु वन्दना करती है। वेदशास्त्र भी देवरूप में उनकी स्तुति करते हैं। अप्सराएँ और देवागनाएँ उनकी सेवा कर रही हैं। राका और सिनीवाली देवियाँ छत्र पकड़े खड़ी हैं, ह्लादिनी और माया चँवर डुला रही हैं तथा स्वाहा और स्वधा पंखा कर रही हैं। भृगु आदि महात्मा उनका पूजन कर रहे हैं। सूर्य और चन्द्र दीपक रूप में वहाँ प्रकाश कर रहे हैं। तुम्बरु और नारद आदि उनके गुणगान में व्यस्त हैं। वे महादेवी दिव्य सिंहासन पर स्थित अष्टदल कमल पर विराजमान हैं। वे ही सब कार्यो और कारणों की विधायिका हैं। उन्होंने दिव्य आभूषणों से अपने को अलंकृत किया हुआ है। वे देवताओं द्वारा पूजी जाती हुई प्रसन्न नेत्रों से अवस्थित वीर लक्ष्मी हैं। इस प्रकार भगवान् से पृथक् उनका ध्यान करना चाहिए।' ॥३७॥

॥ सीतोपनिषद् समाप्त ॥

—०—०—

राधोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा वशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

ॐ यह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है। इस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत को पृथक् करदें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा। ॐ शान्ति, शान्ति।

ओमथोर्ध्वं मन्थिन ऋषयः सनकाद्या भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपासित्वोचुः देव कः परमो देवता, का वा तच्छक्तयः, तासु च का वरीयसी भावतीति सृष्टि भूता च केति ।। सहोवाच ! हे पुत्रकाः शृणुतेदं ह वाव गुह्याद् गुह्यतरमप्रकाश्यं, यस्मै कस्मै न देयम् ।। स्निग्धाय, ब्रह्मवादिने, गुरुभक्ताय; देव मन्यथा दातुर्महदवम्भीति । 'कृष्ण ह वै हरिः परमोदेव षड् विधैश्वर्य्य परिपूर्णो भगवान ग्रोपीगोपसेव्यो वृन्दाऽऽराधितो वृन्दावनादिनाथः स एक एवेश्वरः । तस्य हवै द्वैततनु नारायणोऽखिल ब्रह्माण्डाधिपतिरेकोंऽशःप्रकृतेः प्राचीनो नित्यः । एवं हि तस्य शक्तयस्त्वनेकधा । आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञानेच्छा, क्रियाद्या, बहुविधः शक्तयः । तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरंगभूता राधा, कृष्णेन आराध्यत इति राधा कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका गन्धर्वेति व्यापदेश्यत इति । येयं राधा यश्च कृष्णे रसब्धिर्देहेनैकः क्रीडनार्थ द्विधाभूत् ।

हरि ओ३म् । किसी समय ऊर्ध्वरेता सनकादिक ऋषियों ने पितामह ने ब्रह्माजी से स्तुति करके पूछा—'भगवन् ! कौन परम देव है, उनकी

शक्तियाँ कौन हैं, उन शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ और सृष्टि का कारण रूप कौन-सी शक्ति कही गई है ?' ब्रह्माजी ने कहा—'पुत्र ! सुनो मैं इस अति गुह्य वार्ता को तुमसे कहता हूँ,पर इसे हर किसी को मत बतलाना। इसे उसी को बतलाना, जो स्नेहशील हो, ब्रह्मचारी हो, गुरु का भक्त हो, अगर इसके विपरीत अनधिकारी को दिया गया तो बड़ा पाप होगा। भगवान् कृष्ण ही सबसे बड़े देव हैं, वे छहों ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, गोपी-गोप उनकी सेवा करते हैं, वृन्दा द्वारा आराधना किये जाते हैं, ये वृन्दावन अधीश्वर हैं और एक मात्र सर्वेश्वर हैं। श्री नारायण भी उन्हीं के रूप हैं जो समस्त जगत के स्वामी हैं। श्रीकृष्ण ही प्रकृति से परे और अविनाशी हैं। आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञानेच्छा, क्रिया इत्यादि इनकी अनेक शक्तियाँ हैं। इन सब में 'आह्लादिनी' सबसे प्रधान है। यह उनकी सर्वाधिक अन्तरङ्ग है, इन्हीं को 'राधा' कहते हैं। भगवान् कृष्ण स्वय इनकी आराधना करते हैं। श्री राधाजी सदैव कृष्ण की आराधना करती हैं। राधिका को 'गन्धर्वा' भी कहा जाता है। समस्त गोपियाँ, श्रीकृष्ण भगवान् की महिषियाँ और लक्ष्मी का आविर्भाव भी राधाजी के शरीर से ही हुआ है। रस-सागर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही क्रीडार्थ एक से दो रूपों में विभक्त हो गए हैं।

एषा वै हरेः सर्वेश्वरी सर्वविद्या सनातनी कृष्णप्राणाधिदेवी चेति, विविक्ते वेदाः स्तुवन्ति, यस्या गतिं वक्तुं न चोत्सहे। सैव यस्य प्रसीदति तस्य करतलावकलितम्परमधामेति। एतामवज्ञाय यः कृष्णमाराधयितुमिच्छति, स मूढतमोमूढतमश्चेति। अथ हैतानि नामानि गायन्दि श्रुतयः ॥

श्री राधा सर्वेश्वर भगवान् कृष्ण की भी सर्वेश्वरी हैं, उनकी समस्त विद्याओं में सनातनी हैं, ये श्रीकृष्ण की प्राणों से अधिक प्रिय देवी हैं। चारों वेद भी एकान्त भाव से इनकी स्तुति करते हैं। ब्रह्मज्ञानी ऋषि इनकी गति को जानते और कहते हैं। इनकी महिमा

इतनी अधिक है कि मैं चाहे अपनी समस्त आयु उसे कहता रहूँ तो भी उसका पार नहीं मिल सकता। ये राधाजी जिस पर प्रसन्न होती हैं उसे तुरन्त परम धाम की प्राप्ति हो जाती है। यदि कोई राधाजी की अवज्ञा करके कृष्ण भगवान् की आराधना करने की इच्छा करता है तो वह सर्वाधिक मूढ़ है। वेदों में श्रीराधाजी के नाम इस प्रकार गिनाये गये है।

राधा रासेश्वरी रम्या कृष्ण मन्त्राधिदेवता। सर्वाद्या सर्ववन्द्यः च वृन्दावन विहारिणी ॥ वृन्दा राध्या रमाऽशेष गोपी मण्डल पूजिता। सत्या सत्य परा सत्यभामा श्री कृष्ण वल्लभा ॥ वृषभान सुता गोपी मूल प्रकृतिश्वरी। गान्धर्वा राधिका रम्या रुक्मिणी परमेश्वरी ॥ परात्परता पूर्ण पूर्णचन्द्र निभानना। भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भव व्याधि विनाशिनी ॥

राधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्ण मंत्राधिदेवता, सर्वाद्या सर्ववन्द्या, वृन्दावन विहारिणी, वृन्दाराध्या, रमा अशेष, गोपी मण्डल पूजिता, सत्यासत्यपरा, सत्यभामा, श्रीकृष्ण वल्लभा, वृषभानुसुता, गोपी, मूल-प्रकृति, ईश्वरी, गन्धर्वा, राधिका, रम्याः रुक्मिणी, परमेश्वरी, परात्परता, पूर्णा, पूर्णचन्द्रानिभानना, भुक्तिमुक्तिप्रदा, नित्य, भवव्याधि विनाशिनी।

इत्येतानि नामानि यः पठेत् स जीवनमुक्तो भवति। इत्याह हिरण्यगर्भो भगवानीति। सन्धिनी तु धाम भूषणशय्यासनादिमित्र भृत्यातिरूपेण परिणत मृत्युलोकावतरणकाले मातृपितृरूपेण चाऽऽसीदित्यनेकावतारकारणाज्ञान शक्तिस्तु क्षेत्रज्ञशक्तिरिति इच्छन्भूता मायासत्वरजस्तमोमयी बहिरङ्गा जगत्कारणभूता सैवाऽविद्यारूपेण जोवसुन्धन भूता क्रियाशक्तिस्तु लीला शक्तिरिति। य इमामुपनिषदमधोतेः साऽव्रती व्रतीभवति, स वायुपूतो भवति, स सर्वपूतो भवति, राधाकृष्णप्रियो भवति स यावच्चक्षु. पातं पंक्तोः पुनातिः ॐ तत्सत्।

इन नामों का जो पाठ करता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है, ऐसा भगवान् ब्रह्माजी का कथन है (यहाँ तक आह्लादिनी शक्ति—राधा जी का वर्णन हुआ) अब सन्धिनी शक्ति का वर्णन करते हैं कि यह शक्ति धाम, भूषण, शय्या, आसन आदि और मित्र, सेवक रूप से परिणाम को प्राप्त होती है। जो अनेक अवतारों का कारण है उस ज्ञान शक्ति को ही क्षेत्रय-शक्ति कहते हैं। इच्छाशक्ति के अन्तर्भूत माया शक्ति है। वह सत्-रज-तम आदि त्रय गुण रूप है और बहिरङ्ग होने से जगत की कारणभूत है। यह माया ही अविद्या रूप से जीव को बंधन में डालने वाली होती है। भगवान् की क्रिया-शक्ति ही लीलाशक्ति है। जो इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह अव्रती हो तो भी व्रती हो जाता है: वह वायु के समान पवित्र हो जाता है, वह सर्व पवित्र हो जाता है, वह राधाकृष्ण के प्रिय हो जाता है। जहाँ कहीं उसकी दृष्टि पड़ती है वहाँ तक वह सबको पवित्र बना देती है। ॐ तत्सत्।

॥ राधोपनिषद् समाप्त ॥

तुलस्युपनिषत

अथ तुलस्युपनिषदं व्याख्यास्यामः। नारद ऋषिः। अथर्वाङ्गिरश्छन्दः। अमृता तुलसी देवता। सुधा बीजम्। वसुधा शक्तिः। नारायणः कीलकम्। श्यामां श्यामवपुर्धरां ऋक्स्वरूपां यजुर्मनां [?] ब्रह्माथर्वप्राणां कल्पहस्तां पुराणपठितां अमृतोद्भवां अमृतरसमञ्जरीं अनन्तां अनन्तरसभोगदां वैष्णवीं विष्णुवल्लभां मृत्युजन्मनिवर्हणीं दर्शनात्पापनाशिनीं स्पर्शनात्पावनीं अभिवन्दनाद्रोगनाशिनीं सेवनान्मृत्युनाशिनीं वैकुण्ठार्चनाद्विपद्धन्त्रीं भक्षणात् वयुनप्रदां प्रादक्षिण्याद्दारिद्र्यनाशिनी मूलमृल्लेपनान्महापापभञ्जिनीं घ्राणतर्पणादन्तर्मलनाशिनीं य एवं वेद स वैष्णवो भवति। वृथा न छिन्द्यात्। दृष्ट्वा प्रदक्षिणं कुर्यात्। यां न स्पृशेत्। पर्वणि न विचिन्वेत्। यदि विचिन्वति स विष्णुहा भवति। श्रीतुलस्यै स्वाहा। विष्णुप्रियायै स्वाहा। अमृतायै स्वाहा। श्रीतुलस्यै विद्महे विष्णुप्रियायै धीमहि। तन्नो अमृता प्रचोदयात्॥

अब तुलस्युपनिषद् का विवेचन करते हैं। इस उपनिषद् का ऋषि नारद, छन्द अथर्वाङ्गिर, अमृतस्वरूप तुलसी देवता, सुधा बीज, वसुधा शक्ति, कीलक नारायण है। इस कृष्ण वर्ण वाली, श्यामसुन्दर प्रिय ऋग्वेद स्वरूप, यजुर्वेद चित्त वाली, ब्रह्मायर्ववेद प्राण वाली, कल्प (वेदाङ्ग) की हाथ रूप, पुराण में विख्यात, अमृत से उत्पन्न होने वाली अमृत रस की मंजरी के समान अनन्तरूप असंख्य रस तथा भोग देने वाली वैष्णवी विष्णु सम्बन्धी वस्तु विष्णुप्रिया, मृत्यु तथा जन्म को समाप्त करने वाली, देखने से पाप नाशक, छूने से पवित्र करने वाली,

प्रणाम से रोगनाशक, सेवन के मृत्यु दूर करने वाली, विष्णु पूजन करने से (उनके पूजन में चढ़ाने से) विपत्तिनाशिका, खाने से प्राणों में शक्ति देने वाली, परिक्रमा से दारिद्रय नाशक, जड़ में मिट्टी लगाने से (जैसे पौधों को सुरक्षा के लिए मिट्टी लगाई जाती है) महापाप को भंजन (समाप्त) कर देने वाली, सूँघने से अन्दर के मैल को नाश कर देने वाली है। तुलसी को जो इस रूप में श्रद्धापूर्वक देखता है, समझता है, वह सच्चा विष्णुभक्त है। इसे व्यर्थ न तोड़ें। कहीं देख ले तो परिक्रमा करें। रात को न छूएँ। पर्व के दिन न तोड़ें। यदि तोड़ेगा तो वह विष्णुद्रोही कहलायेगा। श्री तुलसी जो कि विष्णु भगवान् की प्यारी है. अमृत स्वरूप है, उसे नमस्कार पहुँचे। इस विष्णुप्रिय श्री तुलसी का हम ध्यान करते हैं, इसके प्रति अगाध श्रद्धा रखते, हैं, सो वह अमृतस्वरूप हमें अमृतत्व के लिए प्रेरित करे।

अमृतेऽमृतरूपासि अमृत्वप्रदायिनि ।
त्वं मानुद्धर संसारात् क्षीरसागरकन्यके ॥
श्रीसखि त्वं सदानन्दे मुकुन्दस्य सदा प्रिये ।
वरदाभयहस्ताभ्यां मां विलोकय दुर्लभे ॥
अवृक्षवृक्षरूपासि वृक्षत्वं मे विनाशय ।
तलस्यतुलरूपासि तुलाकोटिनिभेऽजरे ॥
अतुले त्वतुलायां हि हरिरेकोऽस्ति नान्यथा ।
त्वमेव जगतां धात्री त्वमेव विष्णुवल्लभा ॥
त्वमेव सुरसंसेव्या त्वमेव मोक्षदायिनी ।
त्वच्छायायां वसेल्लक्ष्मीस्त्वन्मूले विष्णुरव्ययः ।
समन्ताद्देवताः सर्वाः सिद्धचारणपन्नगाः ।
यन्मूले सर्वतीर्थानि यन्मध्ये ब्रह्मदेवताः ॥

हे क्षीर समुद्र की कन्या तुलसी ! तू अमृतस्वरूप है, इसीलिए 'अमृता' कहलाती है। तू अमृतत्व को देने वाली है, तू मुझे इस संसार

से उद्धृत कर ले। हे लक्ष्मी की सहेली ! तू सदा आनन्दमय है तथा हमेशा ही विष्णुजी की प्रिय है। हे दुष्प्राप्य ! तू मुझे वरदान तथा अभय की मुद्रा से युक्त हाथों से सुशोभित होकर कृपादृष्टि से देख। यद्यपि तू पेड़ नहीं है, तथापि महात्म्य की अधिकता से वृक्ष ही है, सो तू मेरी अज्ञानता को दूर कर दे। हे तुलसी तू अतुलरूप (जिसके रूप की तुलना नहीं) है। तू जराहीन है। तेरी तुला में करोड़ों तुलाएँ भी नहीं है, तू ही करोड़ों तुलनाओं स्वरूप है। हे तुलनाहीन ! तेरी तुलना में तो केवल एकमात्र भगवान् विष्णु ही टिकते हैं और कोई नहीं तू ही संसार की पालन करने वाली है तथा तू ही भगवान् विष्णु की प्रिय है। तू ही देवताओं द्वारा सेवा करने योग्य तथा मोक्ष देने वाली है। तेरी ही छाया में लक्ष्मी निवास करती है तथा तेरे मूल में (जड़ में) ही भगवान् विष्णु का निवास स्थल है। सारे देवता, सिद्ध, चरण, नाग, जिसके मूल में चारों तरफ से रहते है तथा सारे तीर्थ भी जिसके मूल में निवास करते हैं एवम् जिसके मध्य में ब्रह्म देवता रहते हैं।

यदग्रे वेदशास्त्राणि तुलसीं तां नमाम्यहम्।
तुलसि श्रीसखि शुभे पापहारिणि पुण्यदे॥
नमस्ते नारदमुने नारायणमनः प्रिये।
ब्रह्मानन्दाश्रुसंजाते वृन्दावननिवासिनि॥
सर्वावयवसम्पूर्णे अमृतोपनिषद्रसे।
त्वं मामुद्धर कल्याणि महापापाब्धिदुस्तरात्॥
सर्वेषामपि पापनं प्रायश्चित्तं त्वमेव हि।
देवानां च ऋषीणां च पितृणां त्वं सदा प्रिये॥
विना श्रीतुलसीं विप्रा येऽपि श्राद्धं प्रकुर्वते।
वृथा भवति तच्छ्राद्धं पितृणां नोपगच्छति।
तुलसीपत्रमुत्सृज्य यदि पूजां करोति वै।
आसुरी सा भवेत् पूजा विष्णुप्रीतिकरी न च॥

यज्ञं दानं जपं तीर्थं वै देवतार्चनम् ।
तर्पणं मार्जनं चान्यन्न कुर्यात्तुलसीं विना ॥
तुलसीदारुमणिभिः जपः सर्वार्थसाधकः ॥
एवं न वेद यः कश्चित् स विप्रः श्वपचाधमः ॥

जिसके अग्र भाग में वेदशास्त्र रहते हैं उस तुङ्ग तुलसी को मैं प्रणाम करता हूँ। हे तुलसी ! तू लक्ष्मी की सखि, कल्याणमय, पापहरण करने वाली तथा पुण्यदात्री है। हे विष्णु के मन को अच्छी लगने वाली, नारद से हमेशा प्रणाम किये जाने वाली, स्तुति किये जाने वाली तुलसी ! तू ब्रह्मा के आनन्दाश्रुओं से उत्पन्न है तथा वृन्दावन में निवास करने वाली है। हे सभी अंगों-अवयवों से पूर्ण ! तथा तुलस्युपनिषद् की रस रूप हे कल्याणी ! तू मुझे महापाप के दुस्तर समुद्र से उबार ले। सभी पापों की प्रायश्चितभूत तू ही है। तू देवताओं, ऋषियों तथा पितरों की सदा ही अत्यन्त प्रिय है। जो भी ब्राह्मण बिना तुलसी के प्रयोग किये श्राद्ध करते हैं वह श्राद्ध व्यर्थ हो जाता है तथा पितरों को प्राप्त नहीं होता। यदि कोई तुलसी को छोड़कर (अर्थात् पूजा की वस्तुओं में न रखकर) पूजन करता है तो वह पूजा आसुरी कही जाती है तथा वह पूजा विष्णु को प्रसन्न करने वाली नहीं होती। यज्ञ, दान, जप, तीर्थ श्राद्ध, देवताओं का पूजन, तर्पण तथा मार्जन तथा अन्य भी इसी प्रकार के धार्मिक कृत्य तुलसी के बिना नहीं करने चाहिए। तुलसी की लकड़ी के मनकों वाली माला सभी इच्छित वस्तुओं की साधिका है। जो कोई ब्राह्मण इस तथ्य को नहीं जानता वह चाण्डाल के समान अथवा उससे भी अधिक नीच है।

इत्याह भगवान् ब्रह्माणं नारायणः, ब्रह्मा नारदसनकादिभ्यः, सनकादयो वेदव्यासाय, वेदव्यासः शुकाय, शुको वामदेवाय, वामदेवो मुनिभ्यः मुनयो मनुष्यः प्रोचुः। य एवं वेद स स्त्रीहत्यायाःप्रमुच्यते। स वीरहत्यायाः प्रमुच्यते। स ब्रह्म-

हत्यायाः प्रमुच्यते । स महाभयात् प्रमुच्यते । स महादुःखात् प्रमुच्यते । देहान्ते वैकुण्ठमवाप्नोति वैकुण्ठमवाप्नोति । इत्युपनिषत् ॥

यह सब भगवान् नारायण ने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने नारद सनकादियों को, सनकादि ने वेदव्यास को, वेदव्यास ने शुकदेवजी को, शुकदेव ने वामदेव को, वामदेव ने अन्य मुनियों को तथा मुनियों ने मनुष्यों को कहा। जो इसको (तथ्य को) जानता है वह स्त्री-हत्या से मुक्त हो जाता है। वह वीरहत्या से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्महत्या, महा-भय, महा-दुःख आदि से भी छूट जाता है और शरीर समाप्ति पर निश्चित वैकुण्ठ में वास प्राप्त कर लेता है।

॥ तुलस्युपनिषद् समाप्त ॥

—o—

सूर्योपनिषत

ॐ भद्रं कर्णेभिःशृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और वृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति, शांति, शांति ।।

हरिः ॐ । अथ सूर्याथर्वाङ्गिरसं व्याख्यास्यामः । ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः । आदित्यो देवता । हंसः सोऽहमग्निनारायणयुक्तं बीजम् । हृल्लेखा शक्तिः । वियदादिसर्गसंयुक्तं कीलकम् । चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थे विनियोगः । षट्स्वरारूढेन बीजेन षडङ्गं रक्ताम्बुजसंस्थितं सप्ताश्वरथिनं हिरण्यवर्णं चतुर्भुजं पद्मद्वयाभयवरदहस्तं कालचक्रप्रणेतारं श्रीसूर्यनारायणं य एवं वेद स वै ब्राह्मणः ।। १ ।।

ॐ भूर्भुवः सुवः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।। २ ।।

ॐ। पुरुष रूप नारायण ने कामना की कि प्रजा की सृष्टि होनी चाहिये। तब नारायण में से प्राण की उत्पत्ति हुई, और मन तथा सब इन्द्रियों की उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई। आकाश, वायु, ज्योति, जल और पृथ्वी, जो विश्व को धारण करती हैं, इन सब पञ्च भूतों की उत्पत्ति भी नारायण से हुई। नारायण से ही ब्रह्माजी उत्पन्न हुये, नारायण से रुद्र की उत्पत्ति हुई। नारायण से इन्द्र उत्पन्न हुये। नारायण से प्रजापति उत्पन्न हुये। नारायण से ही बारह आदित्य, रुद्र, आठ वसु और सब प्रकार के छन्दों की उत्पत्ति हुई। ये नारायण में से ही आते हैं और उसी में लय को प्राप्त होते है। ऋग्वेद के इस शिरोमण (श्रेष्ठ अङ्ग) का विद्वान अध्ययन करते है ॥ १ ॥

नारायण नित्य रूप है, नारायण ब्रह्मा रूप है, नारायण शिव रूप है, नारायण चक्र रूप है, नारायण काल रूप है, नारायण दिशा रूप है, नारायण विदिशा रूप है, नारायण ही ऊपर है, नारायण ही नीचे है, नारायण ही भीतर और बाहर है। जो कोई उत्पन्न हुआ है, और उत्पन्न होगा वह सब नारायण रूप ही है। एक मात्र नारायण ही निष्कलङ्क, निरंजन, निर्विकल्प, निराख्यात (वर्णन से रहित) और शुद्ध देव है, इनके अतिरिक्त और कहीं कोई नहीं है। जो इस प्रकार जानता है वह विष्णुरूप हो जाता, वह विष्णु के समान हो जाता है। विद्वान लोग यजुर्वेदोक्त इस श्रेष्ठ तत्व का अध्ययन करते हैं ॥ २ ॥

ॐ मित्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात। नारायणायेत्युपरिष्टात्। ॐ मित्येकाक्षरम् ॥ नम इति द्वे अक्षरे। नारायणायेति पञ्चाक्षराणि। एतद्वै नारायणास्याष्टाक्षरं पदम्। यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति। अनपब्रुवः सर्वमायुरेति। विन्दते प्राजापात्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नु इति। एतत्सामवेदशिरोऽधीते ॥ ३ ॥ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम्। अकार उकारो मकार इति।

ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति वमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्म-संसारवन्धनात् । ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठ-भुवनं गमिष्यति । तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभ-मात्रम् । ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः । ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युत इति । सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुष मकारणं परं ब्रह्मोम् । एतदथर्वशिरोऽधीते ॥ ४ ॥ प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायं प्रातरधीयानो पापोऽपापो भवति । मध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्च-महापातकोपपातकात्प्रमुच्यते । सर्ववेदपरायणपुण्यं लभते । नारायणसायुज्यमवाप्नोति श्रीमन्नारायणसायुज्यमवाप्नोति य एवं वेद ।

आरम्भ में 'ॐ' का उच्चारण करना, उसके पीछे नमः उच्चारण करना, और अन्त में 'नारायणेति' का उच्चारण करना । 'ॐ' में एक अक्षर है, 'नमः' में दो अक्षर हैं, और 'नारायणेति' में पाँच अक्षर हैं । इस प्रकार यह नारायण का आठ अक्षर का मन्त्र होता है, इसका जप और ध्यान करने से मनुष्य अकालमृत्यु से बचकर पूर्ण आयु को भोगता है । उसे प्रजा (स्त्री पुत्र आदि), धन सम्पत्ति की और गौ आदि पशुओं की प्राप्ति होती है । अन्त में वह अमृतत्व को प्राप्त होता है । सामवेद के इस शिरोभाग का विद्वज्जन अध्ययन करते हैं ।

'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार युक्त यह प्रत्यक् (ॐ) आनन्द रूप, ब्रह्मपुरुष रूप और प्रणव स्वरूप है । यह अनेक प्रकार से सम-मात्रा है, इसको 'ॐ' करते हैं और इसके जप से योगीजन संसार के समस्त बन्धनों और बार-बार जन्म लेने से छूट जाते हैं । 'ॐ नमो नारायणेति' इस मन्त्र की उपासना करने वाला वैकुण्ठ धाम को जाता

है। यह पुण्डरीक (हृदय रूपी कमल) विज्ञान रूप है, इससे विद्युत की आभा प्रकट होती है। ब्रह्म को ही देवकी पुत्र कहा जाता है, वे ही मधुसूदन है, वे ही पुण्डरीकाक्ष हैं और वे ही विष्णु तथा अच्युत हैं। सर्व प्राणी मात्र में वे ही नारायण रहते है, वे कारण पुकार होते हुए भी कारण रहित हैं, वे ही परब्रह्म हैं। विद्वान लोग अथर्व वेद से इस शिरोभाग (सार भाग) का अध्ययन करते हैं ॥ ४ ॥

प्रातः समय इस मन्त्र का जप करने से रात्रि में जो पाप किये हों वे सब नष्ट हो जाते हैं और इसी प्रकार सायंकाल को जप करने से दिन के पाप दूर होते हैं। इस प्रकार प्रातः और सायं इसका जप करने से मनुष्य निष्पाप हो जाता है। दिन के मध्य (दोपहर) को सूर्य के सम्मुख इसका जप करने से पंच महापातकों और उपपातकों से छुटकारा हो जाता है। उसे सब वेदों के परायण का फल प्राप्त होता है और नारायण का सायुज्य प्राप्त होता है। इस प्रकार जानने से नारायण से साक्षात्कार होता है ॥ ५ ॥

॥ नारायणोपनिषद् समाप्त ॥

—:o:—

नारायणोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों एक साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, दोनों किसी का द्वेष न करें। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

ॐ अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति । नारायणात्प्राणो जायते । मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी । नारायणाद्ब्रह्मा जायते । नारायणद्रुद्रो जायते । नारायणादिन्द्रो जायते । नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते । नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते । नारायणात्प्रवर्तन्ते । नारायणे प्रलीयन्ते। एतदृग्वेदशिरोऽधीते ।।१।। अथ नित्यो नारायणः । ब्रह्मा नारायणः । शिवश्च नारायणः । शक्रश्च नारायणः । कालश्च नारायणः दिशश्च नारायणः । विदिशश्च नारायणः । ऊर्ध्वं च नारायणः । अधश्च नारायणः । अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् । य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति । एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते ।।२।।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च । सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते । सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा ॥ ३ ॥

नमस्त आदित्य । त्वमेव प्रत्यक्षं कर्मकर्ताऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि । त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षमृगसि । त्वमेव प्रत्यक्ष यजुरसि । त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि । त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वाऽसि । त्वमेव सर्वं छन्दोऽसि ॥ ४ ॥

आदित्याद्वायुर्जायते । आदित्याद्भूमिर्जायते । आदित्य-दापो जायन्ते । आदित्याज्ज्योतिर्जायते । आदित्याद्व्योम दिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते । आदित्याद्वेदा जायन्ते । आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति । असावादित्यो ब्रह्म । आदित्योऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः । आदित्यो वै व्यानः समानोदानोऽपानः प्राणः । आदित्यो वै श्रोत्रत्वक्चक्षूरसन-घ्राणः। आदित्यो वै वाक्पाणिपादपायूपस्थाः । आदित्यो वै शब्दस्पर्शरूप रसगन्धाः। आदित्यो वै वचनादानागमनविसर्गा-नन्दाः। आनन्दमयो विज्ञानमयो विज्ञानमय आदित्यः ॥ ५ ॥

अब सूर्य-सम्बन्धी अथर्ववेदीय मन्त्रों की व्याख्या की जाती है । इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द गायत्री, देवता सूर्य हैं । 'हसः' 'सोऽह' अग्निनारायण युक्त बीज तथा हृल्लेखा शक्ति है । कीलक वियत् आदि सृष्टि से संयुक्त है । इसका विनियोग चारों प्रकार की पुरुषार्थ-सिद्धि में करते हैं । छः स्वरों पर प्रतिष्ठित बीज सहित षडाङ्ग रक्तकमल पर स्थित, सात अश्वों से युक्त रथ पर आरूढ़, हिरण्यवर्ण, चार भुजाओं में दो कमल, वरमुद्रा और अभयमुद्राधारी कालचक्र के विधायक सूर्य को इस भाँति जानने वाला ही ब्राह्मण है, ॥ १ ॥ जो सूर्य नारायण प्रणव के अर्थभूत सत्-चित्-आनन्दमय तथा भूः भुवः स्वः रूप से त्रैलोक्य रूप

हैं, उन्हीं विश्व-रचयिता के महान् तेज का हम चिन्तन करते हैं। वे भगवान हमारी बुद्धियों के प्रेरक हैं ॥ २ ॥ सूर्य सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम के आत्मा हैं। इन्हीं से इन भूतों की उत्पत्ति होती है। उन्हीं से यज्ञ, मेघ और आत्मा आविर्भूत होते हैं ॥ ३ ॥ हे आदित्य! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। तुम्हीं कर्म और कर्त्ता हो, तुम्हीं ब्रह्मा और विष्णु हो। तुम्हीं रुद्र एवं ऋक्, यजु, साम और अथर्व हो। तुम सम्पूर्ण छन्द रूप हो ॥ ४ ॥ आदित्य से वायु, भूमि, जल, ज्योति, आकाश और दिशाएँ उत्पन्न होती हैं। उन्हीं से देवता प्रकट होते हैं। उन्हीं से वेदों की उत्पत्ति है। इस ब्रह्माण्ड को आदित्य ही तपाते हैं। वही ब्रह्म हैं। वही अन्तःकरण रूप हैं। वही पाँचों प्राण के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वही पंचेन्द्रिय के रूप में कार्य करते हैं। वही पंच कर्मेन्द्रिय हैं। ज्ञानेन्द्रियों के पञ्च विषय भी वही हैं। कर्मेन्द्रियों के पाँच विषय आदित्य ही हैं। वे ही ज्ञान-विज्ञान से युक्त एवं आनन्दमय हैं ॥ ५ ॥

नमो मित्राय भानवे मृत्योर्मा पाहि। भ्राजिष्णवे विश्वहेतवे नमः।

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च ॥
चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः।
चक्षुर्धाता दधातु नः ॥
आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि।
तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्।

सविता पुरस्तात् सविता पश्चात्तात्
सवितोत्तरात्तात् सविताऽधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं
सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥६

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म । घृणिरिति द्वे अक्षरे । सूर्यं इत्यक्षरद्वयम् । आदित्य । इति त्रीण्यक्षराणि । एतस्यैव सूर्यस्याष्टाक्षरो मनुः ॥ ७ ॥

यः सदाऽहरहर्जपति स वै ब्राह्मणो भवति स वै ब्राह्मणो भवति । सूर्याभिमुखो जप्त्वा महाव्याधिभयात् प्रमुच्यते । अलक्ष्मीर्नश्यति । अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति । आगम्यागमनात् पूतो भवति । पतितसंभाषणात् पूतो भवति । असत्संभाषणात् पूतो भवति । मध्याह्ने सूर्याभिमुखः पठेत् । सद्योत्पन्नपञ्चमहापातकात् प्रमुच्यते । सैषा सावित्री विद्यां (द्या) न किंचिदपि न कस्मैचित् प्रशंसयेत् । य एतां महाभागः प्रातः पठति स भाग्यवान् जायते । पशून् विन्दति । वेदार्थं लभते । त्रिकालमेतज्जप्त्वा क्रतुशतफलमवाप्नोति । हस्तादित्ये जपति स महामृत्युं तरति स महामृत्युं तरति य एवं वेद । इत्युपनिषत् ।८।

मित्र देवता और भगवान् सूर्य को नमस्कार है। भगवन् ! मृत्यु से मेरी रक्षा करो ! विश्व के कारण रूप एवं तेजस्वी सूर्य को नमस्कार है। सूर्य से ही सब चराचर प्राणियों की उत्पत्ति है। वे ही उनका पालन करते हैं तथा अन्त में सब जीव उन्हीं में लीन हो जाते हैं। जो सूर्य हैं, वही मैं हूँ। सविता देव हमारे चक्षु हैं। सब के धारण करने वाले सूर्य हमारे नेत्रों को देखने की शक्ति प्रदान करने वाले बनें। 'हम आदित्य को जानते हैं। इस सहस्ररश्मि वाले भगवान् भास्कर का ध्यान करते हैं। वे सूर्य हमें प्रेरणा दें।' पीछे-आगे, इधर-उधर सब ओर सविता देव हैं। वे सविता देव हमारे निमित्त सब कुछ उत्पन्न करें। वे हमें दीर्घायु दें। ॐ रूप एकाक्षर मन्त्र ब्रह्म है। 'घृणि' और 'सूर्य' दो-दो अक्षरों के मन्त्र हैं। 'आदित्य' में तीन अक्षर हैं। इन सब के योग से सूर्य नारायण का अष्टाक्षर महामन्त्र हो जाता है॥ ७ ॥ इस

मन्त्र को नित्य प्रति जपने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है। सूर्य की ओर मुख करके जाप करने से घोर रोग से छुटकारा मिलता है। दरिद्रता दूर होती और पाप नष्ट होते हैं। मध्याह्न काल में सूर्याभिमुख जप करने से हाल में उत्पन्न हुए पञ्च महापापों से मुक्त होता है। इस सावित्री विद्या की कहीं कुछ प्रशंसा न करे। प्रातःकाल पाठ करने वाले की भाग्यवृद्धि होती है। उसे पशु, धन आदि के साथ ही वेदार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है। त्रिकाल जप से सैंकड़ों यज्ञों का फल मिलता है। सूर्य के हस्त नक्षत्र पर रहते हुए इसका जप करने वाला महामृत्यु से पार होता है तथा इस प्रकार जानने वाला भी महामृत्यु को लाँघ जाता है।

॥ सूर्योपनिषद् समाप्त ॥

—:—

भावनोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

शान्तिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करे और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति, शांति, शांति ॥

श्री गुरुः परम कारणभूता शक्तिः ॥ १ ॥

केन ! नवरन्ध्ररूपो देहो नवशक्तिमयं श्रीचक्रम् । वाराही पितृरूपा कुरुकुल्ला बली देवता माता । पुरुषार्थाः सागराः । देहो नवरत्नद्वीपः । आधारनवकमुद्राः शक्तयः । त्वगादिसप्तधातुभिरनेकैः संयुक्ताः संकल्पा कल्पतरवः । तेजः कल्पकोद्यानम् । रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणरसा षड्तवः । क्रिया-शक्तिः पीठम् । कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम् । इच्छाशक्तिर्महात्रि-पुरसुन्दरी ज्ञाता होता । ज्ञानमर्घ्यम् ज्ञेयं हविः । ज्ञातृज्ञान-ज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम् । नियतिसहितश्रृङ्गारादयो नव रसा अणिमादयः । कामक्रोधलोभमोहमात्सर्यपुण्यपापमया

ग्राह्यचाष्टशक्तयः। पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वा-घ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थविकाराः षोडश शक्तयः। वचनादान-गमनविसर्गानन्दहानोपादानोपेक्षाबुद्धयोऽनङ्गकुसुमादिशक्तियोऽष्टौ। अलम्बुसा कुहूर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशारदेवताः। प्राणापानव्यानोदान-समाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया दश वायवः सर्वसिद्धि प्रदाऽऽ-दिवहिर्दशारदेवताः। एतद्वायुतशसंसर्गोपाधिभेदेन रेचकपूरकशो-षकदाहकल्पावका अमृतमिति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। मनुष्याणां मोहको देहको भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं चतुर्विध-मन्नं पाचयति। एता दश धनकलाः सर्वज्ञत्वाद्यन्तर्दशारदेवताः। शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणा मन इक्षु-धनुः। वश्यो बाणो रागः पाशो द्वेषोऽङ्कुशः। अव्यक्तमहत्तत्त्वा-हंकारकामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवताः। पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनं पञ्चदश नित्या श्रद्धाऽनुरूपाधिदेवता। तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना पूर्णा स्वात्मैक्यरूपा देवता ॥ २ ॥

श्री गुरु ही सर्व प्रधानभूत शक्ति हैं। (गुरु शब्द का अर्थ है गु अर्थात् अपने अज्ञान को रु अर्थात् अपने ज्ञान से जो नष्ट करदे।) (इन्हीं की कृपा से ईशत्व की प्राप्ति होती है)। १। किस कारण से देह में श्रीचक्रत्व सिद्ध होता है ? नौ छेदों से युक्त शरीर है और विमल से लेकर ईशान तक नौ शक्तियों से युक्त श्रीचक्र है। इसकी माता कुरु-कुल्ला देवी तथा वाराही पिता के रूप में हैं। पुरुषार्थ उद्योग (परिश्रम) चारों पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ही इसके चार समुद्र हैं। देह ही नवरत्न द्वीप है। इस द्वीप की आधारभूत शक्तियाँ योनिमुद्रा आदि

सर्व संक्षोभिणी पर्यन्तवर्णित महात्रिपुरसुन्दरी आदि नौ हैं। त्वचा, आदि सात धातुओं से युक्त संकल्प-विकल्प ही कल्पवृक्ष है। उस परमात्मा से भिन्न प्रतीयमान तेज स्वरूप-सा जीव ही उद्यान है। जीभ के द्वारा आस्वादित किये जाने वाले मधुर, अम्ल, तिक्त (खट्टा, तीखा) कड़वा, कषैला और नमकीन रस छः ऋतुयें हैं। क्रिया नामक जो शक्ति वही पीठ है। कुण्डलिनी रूप ज्ञान शक्ति ही घर है। इच्छा शक्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी नामक आराध्य भगवती है। जानने वाला, ही हवन करने वाला, ज्ञान ही अर्घ्य एवं जानने लायक वस्तुयें ही हविरूप (हवन करने का द्रव्य) हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय को अभेद मानना ही श्रीचक्र का पूजन है। नियति (भाग्य) से युक्त श्रृङ्गार, वीर, करुणा आदि नौ रस ही अणिमा, महिमा, गरिमा आदि दश सिद्धियाँ हैं। काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य पुण्य तथा पाप से युक्त ब्राह्मी आदि आठ शक्तियाँ हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, कान, त्वचा, आंख, जीभ, नाक, वाणी, हाथ, मूलमूत्रेन्द्रियाँ आदि विकार ही सोलह शक्तियाँ हैं। वाचनादान, गमन, विसर्ग, आनन्द, दान, उपादान, उपेक्षा, बुद्धि तथा अनङ्ग कुसुम आदि आठ शक्तियाँ हैं। आलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अश्विनी, गान्धारी पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना ये चौदह नाड़ियाँ सर्व संक्षोभिणी आदि चौदह देवतात्मक हैं। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय ये दश वायु सर्व सिद्धिप्रद आदि बाह्यमुख दशारदेवता प्रधान हैं इन दश वायुओं के सम्पर्क एवं स्थान भेद से, रेचक, पूरक, शोषक, दाहक, प्लावक अमृत ये पाँच रूप में वायु प्रधान हैं अर्थात् इन पाँच नाम से ये वायु प्रधानतया गृहीत होते हैं, तथा मनुष्यों के मोहक, तथा दाहक होते हुए चबाये जाने वाले, चाटे जाने वाले, चूसे जाने वाले तथा पिये जाने वाले इन चार प्रकार के अन्न को पकाते हैं। ये दश अग्नि की कला स्वरूप वायु ही सर्वज्ञत्व आदि अन्तर्दशारदेवतात्मक हैं। शीत, उष्ण, सुख, दुःख,

इच्छा, सत्व, रज, तम आदि ही वशिनी आदि आठ शक्तियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि पंच तन्मात्रायें ही पाँच पुष्पों के वाण हैं और मन ही ईख का बना धनुष है (अर्थात् मन से ये रूपादि फेंके जाते हैं।) वश में होना ही वाण है, राग (प्रेम) ही पाश (बन्धन) है, द्वेष ही अंकुश है। अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी आदि आन्तरिक त्रिकोण के अग्रस्थित देवता हैं। पन्द्रह तिथियों के रूप से काल के परिणाम को देखना, पन्द्रह नित्य श्रद्धानुरूप अधिदेवता हैं। उनमें (वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी में) आद्या प्रधान कामेश्वरी हैं जो कि सत्, चित्, आनन्द घनस्वरूप हैं। तथा-परमा मैक रूपादेवता हैं ॥ १ ॥ (सारांश यह हुआ कि इन आयु के वशीकरण से रूपादि को वश में रखने से कुण्डलिनी, जीव, आत्मा आदि के ज्ञान को भली भाँति प्राप्त कर सर्वत्र एकभाव-भावना ही भावनोपनिषद् है जो कि मोक्ष का खुला द्वार है) ॥ २ ॥

सलिलं सौहित्यकारणं सत्त्वं कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः। अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः। बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्यावाहनम्। तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्। उज्ज्वलदामोदानन्दासनं दानमर्घ्यम्। स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम्। चिच्चन्द्रमयीसर्वाङ्गस्रवणं स्नानम्। चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्। प्रत्येक सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञानक्रियाऽऽत्मब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम्। स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्। स्वच्छस्वपरिपूरणानुस्मरणं गन्धः। समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं कुसुमम्। तेषामेव सर्वदा स्वीकरणं धूपः। पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काऽऽकाशदेहो दीपः। समस्तयातायातवर्ज्यं नैवेद्यम्। अवस्थात्रयैकीकरणं ताम्बूलम्। मूला-

चारों वेदों का सरल हिन्दी भाष्य

ऋग्वेद—में सृष्टि रचना, प्रकृति, आत्मा और जीव का स्वरूप, धर्म-नीति, चरित्र, सदाचार, परोपकार और मनुष्य के वास्तविक कर्तव्य का सुन्दर दिग्दर्शन है। साथ ही समाज-नीति, राजनीति, अर्थनीति, अंक-गणित, रेखागणित, बीज-गणित, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-विद्या, धातु-विज्ञान व मनोविज्ञान के मूल, सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है। ४ खण्डों का मूल्य २४) मात्र

अथर्ववेद—में अन्न-सिद्धि, बुद्धि बढ़ाने के उपाय, वीर्य रक्षा, ब्रह्मचर्य, धन-धान्य, समय पर वृष्टि, व्यापार की वृद्धि, दीर्घ आयु और सुदृढ़ स्वास्थ्य के साधन, राज्याधिकारियों का नियन्त्रण, युद्ध में विजय, शत्रु सेना में मोह व भ्रम उत्पन्न करना आदि विषयों का विज्ञान है।

२ खण्ड—मूल्य १२) मात्र

यजुर्वेद—कर्मकाण्ड प्रधान वेद है। इसमें यज्ञों के विधि-विधान व विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। इसके साथ राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, शिल्प, व्यवसाय, राज्य, स्वराज्य, साम्राज्य आदि के सम्बन्ध में कल्याणकारी ज्ञान प्रदान किया गया है। मूल्य ६) मात्र

सामवेद—यद्यपि चारों वेदों में आकार की दृष्टि से सबसे छोटा है, फिर भी उसकी प्रतिष्ठा सर्वाधिक है। सामवेद के मन्त्र अमूल्य रत्नों की खान हैं। इसकी भक्तिरसपूर्ण काव्य धारा में अवगाहन करने से तुरन्त ही मनुष्य का अन्तरतम निर्मल, विशुद्ध, पवित्र और रससिक्त हो जाता है।

मूल्य ६)

गायत्री तपोभूमि, मथुरा के संचालक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा प्राचीन सायण भाष्य के आधार पर यह हिन्दी संस्करण सम्पादित हुआ है। इसमें मूल वेदमन्त्रों के साथ-साथ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

प्रकाशकः

संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली (उ० प्र०)

१०८ उपनिषदें—हिंदी टीका सहित

वेद के दुरूह रहस्यों का सरल रीति से विस्तार पूर्वक विवेचन उपनिषदों में हुआ है। प्राचीन-काल में ऋषि, मुनि मानव-जीवन की व्यक्तिगत व सामाजिक सभी प्रकार की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने के लिए लाखों वर्षों से जो चिन्तन और मनन करते रहे हैं, उनका सार उपनिषदों में संचित है। आत्म-विद्या, ब्रह्मविद्या के रहस्य का उपनिषदों में विवेचन हुआ है। यह जीवन का सर्वांगपूर्ण दर्शन ही है।

प्रमुख उपनिषदें १०८ हैं। उनमें से अब तक बहुत थोड़ी उपनिषदों का भाष्य उपलब्ध था। वे भी कठिन संस्कृत में होने के कारण सर्वसाधारण के लिए दुरूह ही बनी हुई थी। प्रसन्नता की बात है कि गायत्री तपोभूमि, मथुरा के सञ्चालक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा १०८ उपनिषदों का मूल मन्त्रों के साथ सरल व सुबोध हिन्दी भाष्य किया गया है। यह अपने ढंग का सर्व प्रथम प्रकाशन है। इसके तीन भाग हैं (१) ज्ञान खण्ड (२) ब्रह्मविद्या खण्ड (३) साधना खण्ड। ज्ञान खण्ड में विचारात्मक व आचारात्मक उपनिषदें हैं। ब्रह्मविद्या खण्ड में आध्यात्मिक रहस्यों का विवेचन है। साधना खण्ड में योग साधनों का मार्ग दर्शन है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य ७) रु०। ३ खण्डों के सम्पूर्ण सेट का २१), रु० डाक खर्च इसके अतिरिक्त।

भारत के महामान्य राष्ट्रपति डॉ राधाकृष्णन् की सम्मति है—
"यह एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है और मुझे विश्वास है कि उसे बहुत लोग पढ़ना पसन्द करेंगे।"

दैनिक हिन्दुस्तान नई दिल्ली की सम्मति—"वस्तुतः उपनिषदों ने इस संकलन में सरलता, सरसता और सुरुचिता की ज्ञान गंगा प्रवाहित की गई है। भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुस्तक विक्रेताओं और संस्थाओं द्वारा जो प्रकाशन हमारे देखने में आए हैं, उन सबसे बढ़कर उपनिषदों का रहस्य समझने में आचार्य जी ही अधिक सफल हुए हैं।"

चतुर्वेदोपनिषत्

ॐ अथातो मनोपनिषदमेव तदाहुः। एको ह वै नारायण आसीत्। न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निः न वायुः नेमे द्यावा-पृथिवी न नक्षत्राणि व सूर्यः। स एकाकी नर एव। तस्य ध्याना-न्तस्स्थस्य ललाटात् स्वेदोऽपतत्। ता इमा आपः। ता एते नो हिरण्यमयमन्नम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत। स ध्यातपूर्वा-मुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिः गायत्रं छन्द ऋग्वेदः। पश्चिमामुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दः यजुर्वेदः। उत्तरामुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिजगितं छन्दः सामवेदः। दक्षिणामुखो भूत्वा जनदिति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः ॥ १ ॥

हाँ तो इसे महोपनिषत् ही कहा जाता है। सर्वप्रथम एक नारा-यण ही था। न तो ब्रह्मा ही न ईशान (शिव) ही था, और न वायु पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र एवं सूर्य में से कोई था। वह अकेला नर ही था। ध्यान में स्थित उस नर के मस्तक से पसीना गिरा। वही यह जलराशि है। यही वह हमारे सुनहरे अन्न हैं। वही ब्रह्मा चार मुख वाला हुआ। उसने पूर्वाभिमुख होकर 'भूः' इस व्याहृति गायत्री छन्द एवं ऋग्वेद, पश्चिमा-भिमुख होकर 'भूः' इस व्याहृति त्रिष्टुप छन्द एवं यजुर्वेद, उत्तराभिमुख होकर 'भुवः' इस व्याहृति जगती छन्द तथा सामवेद, और अन्त में दक्षिणा-भिमुख होकर जनद् इस व्याहृति अनुष्टुप छन्द तथा अथर्ववेद का उच्चारण किया ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वसम्भवम्।
विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ॥२
विश्वमेवेदं पुरुषं तं विश्वमुपजीवति।
ऋषिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे तं विश्वरूपिणम् ॥३
पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम्।

हृदये चाप्यधोमुखं सतस्यत्यैशीत्कराभिश्च ॥४
तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः ।
तस्य मध्ये बह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥५
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ।
स ब्रह्मा स ईशानः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । ६

हजारों शिर वाले हजारों आँखों वाले, विश्व की उत्पत्ति करने वाले परमदेव जो कि सर्वत्र व्यापक हैं हमेशा सर्वत्र विद्यमान एवम् नारायण, हरि आदि शब्दों से प्रसिद्ध हैं। उस ऋषि स्वरूप संसार के स्वामी समुद्रशायी विश्वरूप परम-पुरुष का आश्रय लेकर ही यह संसार जीता है। कमलकोश के समान आकाश की तरह हृदय में अधोमुख होकर लटका है जो अपनी शक्तियों से सर्व कुछ करता है। उसके बीच में महान् अग्नि-जिनकी ज्वाला चारों ओर लपट मारती है एवम् चारों मुख वाली (लपकने वाली) है। उसके बीच में ही वह्निशिखा है जो कि अणीय के ऊपर स्थित है। उस शिखा के मध्य में ही परमात्मा स्थित है कि स्वयं ही ब्रह्म शिव अक्षर (ब्रह्म) एवम् परम प्रभुः स्वयं प्रकाश है ॥२-६॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीतः उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। तेन सर्वैः क्रतुभिरिष्टं भवति। गायत्र्याः षष्टि सहस्राणि जप्तानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां सहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्ति पुनाति आसंप्तमात् पुरुषं पुनाति। जाप्येन अमृतत्वं च गच्छति अमृतत्वं च गच्छति इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण इस महोपनिषद् को पढ़ता है वह यदि अश्रोत्रीय हो तो श्रोत्रीय (कर्मकाण्डी हो जाता है। अनुपनीत हो तो उपनीत (यज्ञोपवीती) होता जाता है। वह अग्नि-पवित्र, वायु-पवित्र, सूर्य-पवित्र, सोम-

पवित्र, सत्य से पवित्र माना जाता है, हो जाता है। उसे सभी देव जानते है। उसने सभी तीर्थों का स्नान कर लिया, तथा सभी यज्ञ भी कर चुका। उसने तो गायत्री के साठ हजार जप कर लिए। इतिहास तथा पुराणों के हजारों जप वह कर चुका। दस हजार ॐकार का जप वह कर चुका। वह पुरुष अपनी दृष्टिमात्र से मनुष्यों की पंक्तियों को (हजारों मनुष्यों को) पवित्र कर देता है। सातवीं पीढ़ी तक के मनुष्यों को पवित्र कर देता है एवम् जो इसे पढ़ता है वह अमृतत्व को निश्चित ही प्राप्त कर लेता है, ऐसा भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा है ।।७।।

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायंस्ते देवा रुद्रमपृच्छंस्ते देवा ऊर्ध्ववाहवो रुद्रं स्तुवन्ति। भूस्त्वादिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा शान्तिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्। अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवा नमस्याम धूर्तेरमृतं मृत मर्त्यं च सोमसूर्यपूर्वजगदधीतं वा यदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं ग्राहं ग्राहेण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण ग्रसति तस्मै महाग्रासाय नमः ।। ८ ।।

देवता स्वर्ग लोक में आये तथा हाथ उठाकर रुद्र की स्तुति करते हुए उनसे पूछा (कहा) तेरा आदि भूः, मध्य भुवः, शिर स्वः है, तू विश्वरूप है, तू ही एक ब्रह्म है। द्विविध, त्रिविध शक्तिहुत (होम किया गया) अहुत, दिया, न दिया, सर्व (सब कुछ) असर्व, विश्व (संसार) अविश्व, किया न किया, पर, अपर परायण सब तू ही है। हम सोम पान अमृत होवें, हमें ज्ञान प्राप्त हो, हम देव आपको नमस्कार करते है, अमृत, मृत, मर्त्य, सोम, सूर्य, पूर्व संसार, अधीत या जो अक्षर (अविनाशी) प्राजापत्य, सौम्य सूक्ष्म है उसे ग्राह को ग्राह से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से ग्रसित करते हैं। उस महाग्रास को (ग्रसित करने वाले को) नमस्कार है ।। ४ ।।

।। चतुर्वेदोपनिषद् समाप्त ।।

चाक्षुषोपनिषत्

ॐ अथातश्चाक्षुषीं पठितसिद्धविद्यां चक्षुरोगहरां व्याख्यास्यामः। यच्चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यति। चाक्षुषो दीप्तिर्भविष्यतीति। तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः। गायत्री छन्दः। सूर्यो देवता। चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव। मां पाहि पाहि। त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय। मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय। यथाऽहं अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय। कल्याणं कुरु कुरु। यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुः प्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय। ॐ नम. चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय। ॐ नमः करुणाकरायामृताय। ॐ नमः सूर्याय। ॐ नमो भगवते सूर्याय अक्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः रजसे: नमः। तमसे नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय। उष्णो भगवाञ्छुचिरूपः। हंसो भगवान् शुचिप्रतिरूपः। य इमां चक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुले अन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति॥

अब पाठ मात्र से सिद्ध हो जाने वाली चाक्षुषी विद्या का वर्णन करते हैं। यह विद्या नेत्र-रोगों का नाश करने वाली है तथा नेत्रों को तेजयुक्त करने में समर्थ है। इस विद्या के ऋषि अहिर्बुध्न्य, छन्द गायत्री, देवता सूर्य हैं। इसका विनियोग नेत्र-रोगों के शमनार्थ होता है।

हे सूर्यदेव! तुम चक्षु के अभिमानी देवता हो। तुम चक्षु में चक्षु

के तेज रूप से स्थिर होओ। मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो। मेरे नेत्र-रोग को शीघ्र शान्त करो, शान्त करो। मुझे अपने स्वर्ण के समान तेज के दर्शन कराओ। जिससे मैं अन्धा न होऊँ ऐसा उपाय करो, उपाय करो। कल्याण करो। मेरे जितने ऐसे पाप हैं जिनके द्वारा देखने की शक्ति अवरुद्ध हो रही है उन सबको समूल नष्ट कर दो। नेत्रों को तेज देने वाले दिव्य स्वरूप भगवान् भास्कर को मेरा नमस्कार है। करुणा करने वाले अमृतस्वरूप को मेरा नमस्कार है। सूर्य भगवान् को नमस्कार है। नेत्रों के प्रकाश रूप सूर्य नारायण को नमस्कार है। आकाश में विहार करने वाले सूर्य को नमस्कार है। अत्यन्त श्रेष्ठ रूप को नमस्कार, रजोगुणमय सूर्य को नमस्कार है। तमोगुण के आश्रय-भूत सूर्य को नमस्कार है। हे प्रभो! मुझे असत से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलो। उष्णता युक्त भगवान् सूर्य शुचि रूप है। हंस रूप भगवान् सूर्य शुचि रूप तथा अप्रतिरूप हैं। जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्या का पाठ नित्य करता है उसे नेत्रों से सम्बन्धित कोई रोग नहीं होता। उसके कुल में कोई अन्धा नहीं होता। यह विद्या आठ ब्राह्मणों को उपदेशित करने पर इसकी सिद्धि प्राप्त होती है।

ॐ विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं
हिरण्मयं पुरुषं ज्योतिरूपं तपन्तम्।
विश्वस्य योनिं प्रतपन्तमुग्रं
पुरः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।

ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिन्यहोवाहिनी स्वाहा। ॐ वय. सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अपध्वान्तमूर्णु हि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्। पुण्डरीकाक्षाय नमः। पुष्करेक्षणाय नमः। अमलेक्षणाय नमः। कमलेक्षणाय नमः। विश्वरूपाय नमः। महाविष्णवे नमः।

जो भगवान् सूर्य सच्चिदानन्द रूप हैं तथा यह विश्व जिनका रूप है, जो सबके जानने वाले अपनी किरणों से सुशोभित हैं, जो ज्योति स्वरूप, हिरण्यमय, जगत के उत्पत्ति स्थान, पुरुष रूप में तपने वाले हैं, उन प्रचण्ड तेज वाले सूर्य नारायण को हम नमस्कार करते हैं। यह भगवान् सूर्य सम्पूर्ण प्राणियों के सामने प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हो रहे हैं।

छः प्रकार के ऐश्वर्यों से सम्पन्न भगवान् सूर्य को नमस्कार है। उनकी प्रभा दिवस की भारवाहिनी है। हम उन सूर्य भगवान् के लिए श्रेष्ठ आहुतियाँ देते हैं। जिन्हें मेवा से अत्यन्त प्रेम है वे ऋषिगण श्रेष्ठ पंखों वाले पक्षी के रूप में भगवान् सूर्य के समीप जाकर निवेदन करने लगे—'भगवन्! इस अन्धकार को दूर करो। हमारे नेत्रों को प्रकाशमय करो। हम सब प्राणी तमोमय बन्धन में पड़े हुए-से हैं, हमें अपना दिव्य प्रकाश प्रदान कर मुक्त करो। पुण्डरीकाक्ष को नमस्कार! पुष्करेक्षण को नमस्कार। अमलेक्षण को नमस्कार। कमलेक्षण को नमस्कार। विश्व स्वरूप को नमस्कार। भगवान् महाविष्णु को नमस्कार।

॥ चाक्षुषोपनिषद् समाप्त ॥

———

कलिसंतरणोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शांति, शांति. शांति ।

हरिः ओ३म् द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं संतरेमिति । स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्य गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि । भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति । नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति । स होवाच हिरण्यगर्भः । हरे राम हरे राम राम राम हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

द्वापर युग के अन्त की बात है । नारद मुनि ब्रह्माजी के पास जाकर बोले—'प्रभु ! भूलोक में घूमता हुआ किस तरह से कलि काल से छुटकारा पाने में समर्थ हो सकता हूं । ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स ! आज तुमने अत्यन्त प्रिय बात पूछी है । समस्त वेद, मन्त्रों का गुप्त रहस्य मैं तुझे बताता हूं । कलि के दोषों को नाश करने का उपाय भगवान आदिपुरुष नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण करना है । नारदजी ने वह नाम पूछा, जिस पर ब्रह्माजी ने कहा—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नातः परत रोपाय: सर्ववेदेषु दृश्यते। इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम्। ततः प्रकाशते। परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति। पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन्कोऽस्य विधिरिति। तं होवाच नास्य विधिरिति। सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समी,तां सरूपतां सायुज्यतामेति। यदास्य षोडशीकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात्पूतो भवति सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात्। सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत्॥ हरिः ओ३म् तत्सत्॥

कलि के पापों को यह सोलह नाम नाश करते हैं। वेद शास्त्रों में भी इससे अच्छा उपाय दिखाई नहीं देता। इसकी सहायता से सोलह कलाओं से सम्पन्न जीव के पर्दे कट जाते हैं, तभी उस परब्रह्म का वास्तविक स्वरूप साफ-साफ भासने लगता है, जैसे बादल के चले जाने पर सूर्य की किरणों का प्रकाश आ जाता है। इस पर नारदजी ने जप की विधि पूछी। ब्रह्माजी ने उत्तर देते हुए कहा कि इसकी कोई विशेष विधि नहीं है। पवित्र या अपवित्र जिस हालत में हो इसका जप किया जा सकता है। इसके जप करने से चारों प्रकार की (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) मुक्ति प्राप्त होती है। साधक इस मन्त्र के साढ़े तीन करोड़ जप के पश्चात् ब्रह्महत्या के कोप से निवृत्त हो जाता है। वह वीरहत्या के दोष से छूट जाता है। सोने की चोरी के दोष से मुक्त हो जाता है। मनुष्य, देवता और पिता के प्रति किए गए अपकार के पाप से भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है। सब धर्मों को छोड़ने के दोष से तुरन्त ही छूट जाता है, शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है, शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है—यह उपनिषद् है।

॥ कलिसंतरणोपनिषद् समाप्त ॥

॥ १०८ उपनिषद् का साधना खण्ड समाप्त ॥